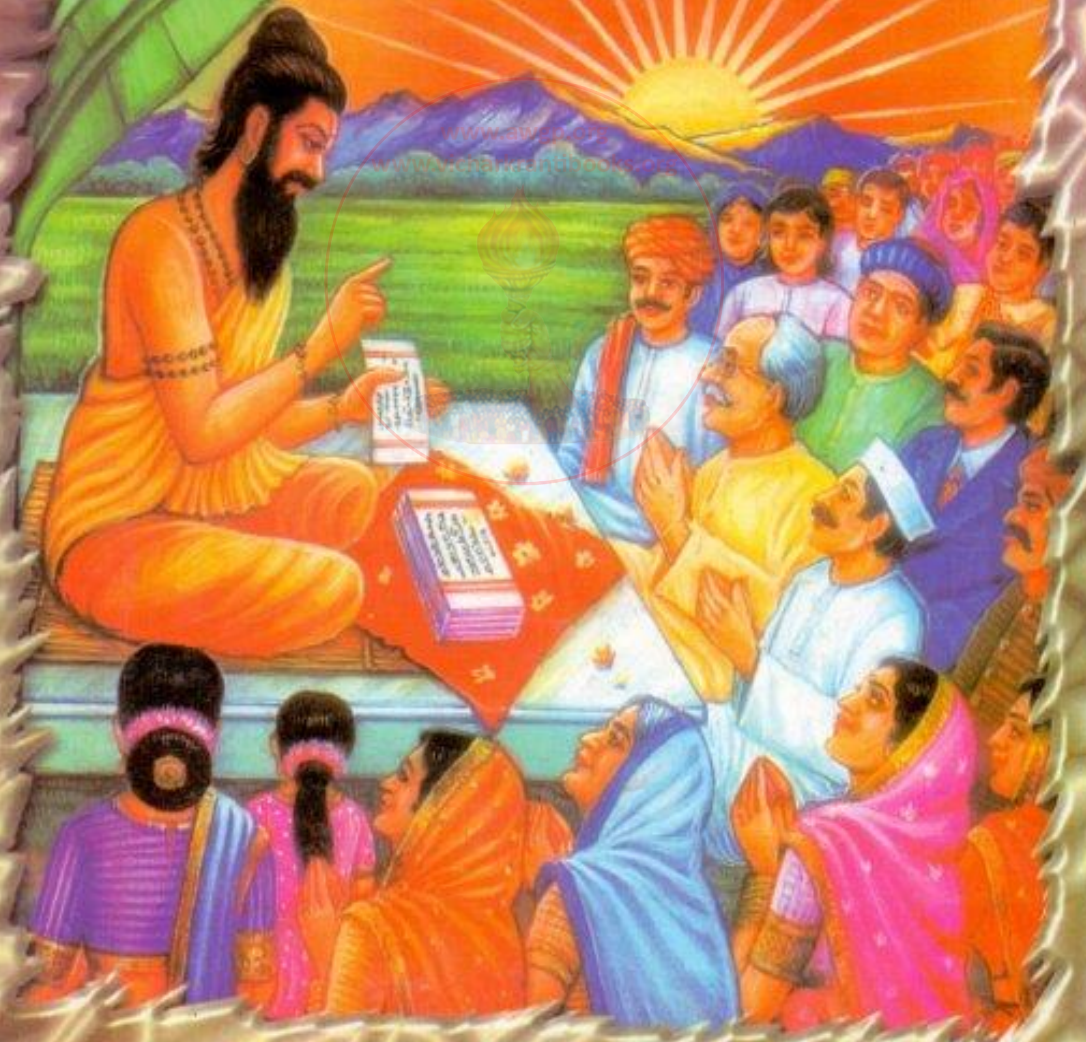




प्रज्ञा पुराण

(भाग-४)



: BOOK MADE AVAILABLE FOR DIGITIZATION BY :

VICHARKRANTI PUSTAKALAY

SURAT, INDIA

: OUR MAIN CENTERS :

Shantikunj, Haridwar,
Uttaranchal, India – 249411
Phone no : 91-1334- 260602,
Website : www.awgp.org
E-mail : shantikunj@awgp.org

Gayatri Tapobhumi,
Mathura, U.P., India – 281003
Phone no : 91-0565-2530128,
Website : www.awgp.org
E-mail : yugnirman@awgp.org

: BOOK DIGITIZED BY :

Vicharkranti Pustakalay, Thana-Faliya, Dindoligam, Surat-394210, Gujarat, India

E-mail: vicharkranti.awgp@gmail.com | Website : www.vicharkrantibooks.org

ॐ भूर्भुवः स्वः तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि धियो यो नः प्रचोदयात् ।



प्रज्ञा पुराण

चतुर्थ खंड
(देवसंस्कृति खंड)

www.awgp.org
www.vicharkrantibooks.org

रचयिता :
पं. श्रीराम शर्मा आचार्य

प्रकाशक :

युग निर्माण योजना विस्तार ट्रस्ट

गायत्री तपोभूमि, मथुरा

फोन : (०५६५) २५३०१२८, २५३०३९९

मो. ०९९२७०८६२८७, ०९९२७०८६२८९

फैक्स नं०- २५३०२००

पुनरावृत्ति सन् २०१४

मूल्य : १०० रुपये



विषयानुक्रम

प्रज्ञा पुराण

तृतीय खंड

(देवसंस्कृति खंड)

अनुक्रम	अध्याय	प्रकरण	पृष्ठांक
१-	प्राक्कथन.....		३-४
२-	प्रथम अध्याय.....	देवसंस्कृति-जिज्ञासा प्रकरणम्.....	५-४९
३-	द्वितीय अध्याय.....	वर्णाश्रम-धर्म प्रकरणम्.....	५०-१०९
४-	तृतीय अध्याय.....	संस्कार-पर्व माहात्म्य प्रकरणम्.....	११०-१६५
५-	चतुर्थ अध्याय.....	तीर्थ-देवालय प्रकरणम्.....	१६६-२००
६-	पंचम अध्याय.....	मरणोत्तर जीवन प्रकरणम्.....	२०१-२४४
७-	षष्ठ अध्याय.....	आस्था-संकट प्रकरणम्.....	२४५-२८०
८-	सप्तम अध्याय.....	प्रज्ञावतार प्रकरणम्.....	२८१-३०८
९-	वंदना परिशिष्ट.....		३०९-३१२



प्राक्कथन

भारतीय इतिहास-पुराणों में ऐसे अगणित उपाख्यान हैं, जिनमें मनुष्य के सम्मुख आने वाली अगणित समस्याओं के समाधान विद्यमान हैं। उन्हीं में से सामयिक परिस्थिति एवं आवश्यकता को ध्यान में रखते हुए कुछ का ऐसा चयन किया गया है, जो युग समस्याओं के समाधान में आज की स्थिति के अनुरूप योगदान दे सकें।

सर्वविदित है कि दार्शनिक और विवेचनात्मक प्रवचन-प्रतिपादन उन्हीं के गले उतरते हैं, जिनकी सुविकसित मनोभूमि है, परन्तु कथानकों की यह विशेषता है कि बाल, वृद्ध, नर-नारी, शिक्षित-अशिक्षित सभी की समझ में आते हैं और उनके आधार पर ही किसी निष्कर्ष तक पहुँच सकना सम्भव होता है। लोकरंजन के साथ लोकमंगल का यह सर्वसुलभ मार्ग है।

कथा साहित्य की लोकप्रियता के संबंध में कुछ कहना व्यर्थ होगा। प्राचीन काल में १८ पुराण लिखे गए। उनसे भी काम न चला तो १८ उपपुराणों की रचना हुई। इन सब में कुल मिलाकर १०,०००,००० श्लोक हैं, जबकि चारों वेदों में मात्र बीस हजार मंत्र हैं। इसके अतिरिक्त भी संसार भर में इतना कथा साहित्य सृजा गया है कि उन सबको तराजू के एक पलड़े पर रखा जाय और अन्य साहित्य को दूसरे पर तो कथाएँ ही भारी पड़ेंगी। फिल्मों की लोकप्रियता का कारण भी उनके कथानक ही हैं।

समय परिवर्तनशील है। उसकी परिस्थितियाँ, मान्यताएँ, प्रथाएँ, समस्याएँ एवं आवश्यकताएँ भी बदलती रहती हैं। तदनु रूप ही उनके समाधान खोजने पड़ते हैं। इस शाश्वत सृष्टिक्रम को ध्यान में रखते हुए ऐसे युग साहित्य की आवश्यकता पड़ती रही है जिसमें प्रस्तुत प्रसंगों से उपयुक्त प्रकाश एवं मार्गदर्शन उपलब्ध हो सके। इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए अनेकानेक मनःस्थिति वालों के लिए उनकी परिस्थिति के अनुरूप समाधान ढूँढ़ निकालने में सुविधा दे सकने की दृष्टि से इस ग्रन्थ के सृजन का प्रयास किया गया है।

प्रथम किस्त में प्रज्ञा पुराण के पाँच खण्ड प्रकाशित किए जा रहे हैं। प्रथम खण्ड का प्रथम संस्करण तो आज से चार वर्ष पूर्व प्रस्तुत किया गया था। तदुपरान्त उसकी अनेकों आवृत्तियाँ प्रकाशित हो चुकीं। अब चार खण्ड एक साथ प्रस्तुत किए जा रहे हैं। इतने सुविस्तृत सृजन के लिए इन दिनों की एकान्त साधना में अवकाश भी मिल गया था। भविष्य का हमारा कार्यक्रम एवं जीवन काल अनिश्चित है। लेखनी तो सतत क्रियाशील रहेगी, चिन्तन हमारा ही सक्रिय रहेगा, हाथ भले ही किन्हीं के भी हों। यदि अवसर मिल सका, तो और भी अनेकों खण्ड प्रकाशित होते चले जायेंगे।

इन पाँच खण्ड में समग्र मानव धर्म के अन्तर्गत मान्यता प्राप्त इतिहास-पुराणों की कथाएँ हैं। इनमें अन्य धर्मावलम्बियों के क्षेत्र में प्रचलित कथाओं का भी समावेश है, पर वह नगण्य सा ही है। बन पड़ा तो अगले दिनों अन्य धर्मों में प्रचलित कथानकों के भी संकलन इसी दृष्टि से चयन किए जायेंगे जैसे कि इस पहली पाँच खण्डों की प्रथम किस्त में किया गया है। कामना तो यह है कि युग पुराण के-प्रज्ञा पुराणों के-भी पुरातन १८ पुराणों की तरह १८ खण्डों का सृजन बन पड़े।

संस्कृत श्लोकों तथा उसके अर्थों के उपनिषद् पक्ष के साथ उसकी व्याख्या एवं कथानकों के प्रयोजनों का स्पष्टीकरण करने का प्रयास इस पुराण में किया गया है। वस्तुतः इसमें युग दर्शन का मर्म निहित

है। सिद्धांतों एवं तथ्यों को महत्व देने वालों के लिए यह अंग भी समाधानकारक होगा। जो संस्कृत नहीं जानते, उनके लिए अर्थ व उसकी व्याख्या पढ़ लेने से भी काम चल सकता है। इन श्लोकों की रचना नवीन है, पर जिन तथ्यों का समावेश किया गया है, वे शाश्वत हैं।

प्रस्तुत ग्रन्थ का पठन निजी स्वाध्याय के रूप में भी किया जा सकता है और सामूहिक सत्संग के रूप में भी। रात्रि के समय पारिवारिक लोक शिक्षण की दृष्टि से भी इसका उपयोग हो सकता है। बच्चे कथाएँ सुनने को उत्सुक रहते हैं। बड़ों को धर्म परम्पराएँ समझने की इच्छा रहती है। इनकी पूर्ति भी घर में इस आधार पर कथा क्रम और समय निर्धारित करके की जा सकती है।

कथा आयोजनों को एक सामूहिक धर्मानुष्ठान के रूप में भी सम्पन्न किए जाने की परम्परा है। उस आधार पर भी इस कथावाचन का प्रयोग हो सकता है। आरम्भ का एक दिन देव पूजन, व्रत धारणा, माहात्म्य आदि के मंगलाचरण में लगाया जा सकता है। पाँच दिन पाँच खण्डों का सार संक्षेप, प्रातः और सायंकाल की दो बैठकों में सुनाया जा सकता है। अन्तिम दिन पूर्णाहुति का सामूहिक समारोह हो। बन पड़े तो अमृताशन (उबले धान्य, खीर, खिचड़ी आदि) की व्यवस्था की जा सकती है और विसर्जन शोभा यात्रा मिशन के बैनरों समेत निकाली जा सकती है। प्रीतिभोजों में प्रज्ञा मिशन की परम्परा अमृताशन की इसलिए रखी गयी है कि वह मात्र उबलने के कारण बनाने में सुगम, लागत में सस्ता तो है ही, साथ ही जाति-पाँति के आधार पर कच्ची-पक्की का जो भेदभाव चलता है, उसे भी निरस्त करते हुए मनुष्य मात्र को एक बिरादरी बनाने के लक्ष्य की ओर क्रमशः कदम बढ़ सकने का पथ-प्रशस्त होता है।

लोक शिक्षण के लिए गोष्ठियों-समारोहों में प्रवचनों-वक्तृताओं की आवश्यकता पड़ती है। उन्हें दार्शनिक पृष्ठभूमि पर कहना ही नहीं, सुनना-समझना भी कठिन पड़ता है। फिर उनका भण्डार जल्दी ही चुक जाने पर वक्ता को पलायन करना पड़ता है। उनकी कठिनाई का समाधान इस ग्रन्थ से ही हो सकता है। विवेचनों, प्रसंगों के साथ कथानकों का समन्वय करते चलने पर वक्ता के पास इतनी बड़ी निधि हो जाती है कि उसे महीनों कहता रहे। न कहने वाले पर भार पड़े, न सुनने वाले ऊबें। इस दृष्टि से युग सृजेताओं के लिए लोक शिक्षण का एक उपयुक्त आधार उपलब्ध होता है। प्रज्ञा पीठों और प्रज्ञा संस्थानों में तो ऐसे कथा प्रसंग नियमित रूप से चलने ही चाहिए। ऐसे आयोजन एक स्थान पर या मुहल्लों में अदल-बदल के भी किए जा सकते हैं ताकि युग सन्देश को अधिकाधिक निकटवर्ती स्थान पर जाकर सरलतापूर्वक सुन सकें। ऐसे ही विचार इस सृजन के साथ-साथ मन में उठते रहे हैं, जिन्हें पाठकों के सम्मुख प्रस्तुत कर दिया गया है।

प्रस्तुत चौथा खंड जिस विषय वस्तु को लेकर लिखा गया है, उसके संबंध में बहुसंख्य व्यक्ति अनभिज्ञ हैं अथवा उसकी गरिमा को भुला देने के कारण यह प्रकरण विस्मृति के गर्त में चला गया है। देवसंस्कृति के विभिन्न पक्षों यज्ञा-वर्णाश्रम धर्म, पर्व-संस्कार, तीर्थटन-परिव्रज्या एवं मरणोत्तर जीवन आदि के संबंध में जनमानस में कई प्रकार की भ्रांतियाँ हैं। उनको प्रस्तुत ग्रंथ में यथा संभव स्पष्ट करते हुए, उन्हें कथा प्रसंगों एवं शास्त्र माहात्म्य के साथ जोड़ा गया है। इन सभी विषयों की वैज्ञानिकता का प्रतिपादन भी इस खंड की विशेषता है। आस्था संकट की इस वेला में सांस्कृतिक पुनर्जागरण हेतु क्या व कैसे किया जाना चाहिए, ग्रंथ के अंतिम दो अध्याय इसी से संबंधित हैं।

इस समग्र प्रतिपादन में जहाँ कहीं अनुपयुक्तता, लेखन या मुद्रण की भूल दृष्टिगोचर हो, उन्हें विज्ञान सूचित करने का अनुग्रह करें, ताकि अगले संस्करणों में संशोधन किया जा सके।

- श्रीराम शर्मा आचार्य



प्रज्ञा पुराण

॥ अथ प्रथमोऽध्यायः ॥

❖ देवसंस्कृति-जिज्ञासा प्रकरणम् ❖

गुरुकुलेषु तदाऽन्येषु छात्रा आसँस्तु ये समे ।
 गुरुजनैः सह ते सर्वेऽप्यायाता द्रष्टुमुत्सुकाः ॥ १ ॥
 ऋषे कात्यायनस्येमां व्यवस्थामुत्तमामपि ।
 तस्याऽध्यापनशैलीं तां चर्यां च ब्रह्मचारिणाम् ॥ २ ॥
 तैः श्रुतं यन्महर्षेर्यद् विद्यते गुरुकुलं शुभम् ।
 छात्रनिर्माणशालेव यत्तत्याः स्नातकास्तु ते ॥ ३ ॥
 समुन्नता भवन्त्येवं मन्यन्ते संस्कृता अपि ।
 सफला लौकिके सन्ति समर्था अपि जीवने ॥ ४ ॥
 सम्पन्ना अपि चारित्र्यसंयुक्ता व्यक्तिरूपतः ।
 उदात्तास्ते तथैवोच्चस्तरा गण्यन्त उत्तमैः ॥ ५ ॥

भावार्थ—एक बार अन्यान्य गुरुकुलों के छात्र अपने-अपने गुरुजनों समेत महर्षि कात्यायन के आश्रम की व्यवस्था और अध्ययन शैली व दिनचर्या का पर्यवेक्षण करने आए । उनसे सुना था कि कात्यायन का गुरुकुल एकसाल है, जिसमें पढ़कर निकलने वाले स्नातक न केवल समुन्नत होते हैं, वरन् सुसंस्कृत भी माने जाते हैं । वे लौकिक जीवन में समर्थ, सफल और संपन्न रहते हैं तथा व्यक्तिगत जीवन में चरित्रवान्, उदात्त एवं मूर्धन्य स्तर के गिने जाते हैं ॥ १-५ ॥

वैशिष्ट्यं चेदृशं छात्राः केनाधारेण यान्ति ते ।
 इदं द्रष्टुं च विज्ञातुं छात्रास्ते गुरुभिः सह ॥ ६ ॥
 विभिन्नेभ्यः समायाताः क्षेत्रेभ्य उत्सुका भृशम् ।
 तदागमनवृत्तं च सदस्यैर्ज्ञातमेवतत् ॥ ७ ॥

भावार्थ—ऐसी विशेषताएँ किस आधार पर छात्रगण प्राप्त करते हैं ? यह जानने-देखने की अभिलाषा लेकर वे छात्र-मंडल अध्यापकों समेत विभिन्न क्षेत्रों, देशों से आए थे । उनके आगमन और उद्देश्य की पूर्व सूचना कात्यायन गुरुकुल के सभी छोटे-बड़े सदस्यों को विदित हो गई थी ॥ ६-७ ॥

ध्यानेनागन्तुकाः सर्वे दिनचर्या व्यवस्थितिम् ।
 कात्यायनाश्रमस्याऽस्य स्वच्छतां व्यस्ततामपि ॥ ८ ॥
 अनुशासनसम्मानं तत्तत्त्वे पाठ्यसंविधौ ।
 सुसंस्कारित्वभावं तं व्यवहारेऽवतारितुम् ॥ ९ ॥
 पालितुं च सदाचारमध्यापनमिवानिशम् ।
 कर्तव्यं निजदायित्वं पालितुं चानुशासनम् ॥ १० ॥
 ध्यानं तत्र विशेषं हि दिनचर्यागतं ह्यभूत् ।
 वैशिष्ट्यं मौलिकं चाभूदेतदेवास्य सुदृढम् ॥ ११ ॥

भावार्थ—आगंतुकों ने कात्यायन आश्रम की दिनचर्या, व्यवस्था, स्वच्छता, व्यस्तता और अनुशासनप्रियता को ध्यानपूर्वक देखा। पाठ्यपुस्तकों के अध्ययन-अध्यापन की भाँति ही सुसंस्कारिता को व्यवहार में उतारने तथा शिष्टाचार पालने, कर्तव्य-उत्तरदायित्व समझने और उन्हें पालने के लिए अनुशासन बरतने पर समुचित ध्यान दिया जाता था—यही इस आश्रम की सुदृढ़ मौलिकता थी ॥ ८-११ ॥

नैवाध्ययनमेवात्र पर्याप्तं भवति त्वयि ।

नेतुं तान् प्रगतिं छात्रान् महामानवतामपि ॥ १२ ॥

व्यवहारे समावेशोऽभ्यासश्चाऽपि विशेषतः ।

सदाशयसमुद्भूतो मतस्त्वावश्यकः सदा ॥ १३ ॥

भावार्थ—व्यक्तियों को उभारने और सामान्य मनुष्यों को महामानव बनाने में मात्र अध्ययन ही पर्याप्त नहीं होता, व्यवहार में सदाशयता का समावेश-अभ्यास इसके लिए नितांत आवश्यक है। इस सिद्धांत को उस आश्रम में भली प्रकार चरितार्थ होते हुए सभी आगंतुकों ने पाया ॥ १२-१३ ॥

व्याख्या—गुरुकुलों की महामानवों को ढालने वाली टकसाल के रूप में मान्यता देवसंस्कृति की अनेकानेक विशेषताओं का एक अंग रही है। ऐसे शिक्षालयों से तप कर निकलने वाले विद्यार्थी एकांगी प्रवीणता मात्र नहीं प्राप्त करते थे, अपितु अपने आपको संस्कारों की निधि से संपन्न बनाकर व्यावहारिक दृष्टि से बहिरंग जीवन में भी कुशल एवं सूझबूझ के धनी बनकर निकलते थे। ऐसे आरण्यकों के प्रति ऋषि समुदाय एवं अन्याय छात्रों की जिज्ञासा होना स्वाभाविक है।

विद्यालय का परिकर अपने एक-एक अंग से अपना परिचय देता है। बाह्य सुसज्जा, विद्यार्थियों का ठाट-बाट से रहना, बैठने-पढ़ने की सुव्यवस्था होना भर पर्याप्त नहीं। यह बाह्याडंबर तो आज हर कहीं रास्ता चलते देखा जा सकता है। अध्ययन-अध्यापन की श्रेष्ठ व्यवस्था होना ही समुचित नहीं। संस्कारों के अभिवर्धन के लिए व्यक्ति को महामानव रूप में ढालने के लिए, आत्मानुशासन को जीवन का अंग बनाने के लिए, उदारता-परमार्थ-परायणता को व्यवहार में समावेश करने हेतु क्या प्रयास-पुरुषार्थ अध्ययन-अध्यापन के साथ किया गया, वह सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। उसी में 'विद्यालय' के 'विद्या का घर' कहे जाने की सार्थकता है।

शिष्य की गुरुकुल व्यवस्था में यह अनिवार्य नहीं कि कमरों में, कपाट-कोष्ठों में बंद होकर शिक्षा प्राप्त की जाय। गुरुकुल के अधिष्ठाता छात्रों की मर्त्यस्थिति के अनुरूप उन्हें प्रकृति की पाठशाला में व्यवहारिक शिक्षण **परीक्षा भी,** देने की ऐसी व्यवस्था बनाते हैं कि व्यक्तित्व में प्रखरता का समावेश संवर्धन होकर रहता है।

शिक्षण भी महर्षि जरत्कारू के गुरुकुल में छात्र विदुध ने प्रवेश पाया। ऋषि को विद्यार्थी प्रतिभावान् लगा, अस्तु उसे समझाया, पौरुष की परीक्षा में उत्तीर्ण होने पर ही कोई वरिष्ठ बन सकता है। तुम पराक्रम के साथ-साथ पुस्तकें पढ़ते रहो। विदुध महर्षि के परामर्श से सहमत हो गया। उसे सौ गौएँ सौपी गईं और प्रभुदारण्य में उन्हें चराते हुए हजार हो जाने पर वापस लौटने को कहा। पाठ्यपुस्तकें भी उसकी पीठ से बाँध दी। विदुध को बारह वर्ष लगे और गौएँ हजार हो गईं। दूध पीकर उनके सभी बच्चे हट्ट-पुष्ट थे।

इस बीच उन्हें अनेक के साथ संपर्क साधने और परामर्श करने का अवसर मिला। मार्ग की कठिनाइयों और समस्याओं से निपटते रहे। उनकी प्रतिभा निखर पड़ी। वापस लौटते तो उनके चेहरे पर ब्रह्मतेज टपक रहा था। अपनी बुद्धि का प्रयोग करके जो उनसे पढ़ा और समझा, उससे कहीं अधिक था, जो आश्रम में रहकर पढ़ने वाले छात्रों ने सीखा था।

जरत्कारू अपने इस शिष्य के साहस को देखकर अतीव प्रसन्न हुए। अपने आश्रम का कार्य सौंप कर स्वयं कहीं अन्यत्र बड़े काम के लिए चले गए। उत्तराधिकारी की उन्हें तलाश थी, सो इस परीक्षा के द्वारा पूरी हुई।

जीनों की सुयोग्य विद्यार्थी न मिलें तो भी मनीषी निराश नहीं होते। वे अनगढ़ को सुगढ़ व श्रेष्ठ बनाने का प्रयास करते हैं।

पाठशाला बूनान का एक वृद्ध दार्शनिक अपने मित्र से बोला—“मैंने लोगों को सच्चाई और सदाचार की शिक्षा



देने की योजना बनाई है। विद्यालय के लिए स्थान चुन लिया गया है, पर विद्याध्ययन के लिए विद्यार्थी नहीं मिलते। मित्र व्यंग्य करते हुए बोले—“तो आप कुछ भेड़ें खरीद लीजिए और अपना पाठ उन्हें ही पढ़ाया करें। तुम्हारी इस योजना के लिए आदमी मिलने मुश्किल हैं।” हुआ भी ऐसा ही, कुल दो युवक आए जिन्हें घर वाले आधा पागल समझते थे और मुहल्ले वाले सिरदर्द। वृद्ध ने उन्हीं को पढ़ाना शुरू कर दिया। दूसरे लोग कहा करते—बुढ़े ने मन बहलाने का अच्छा साधन ढूँढ़ा।

किन्तु यही दोनों इस बूढ़े विचारक से शिक्षा प्राप्त कर जब पहली बार घर लौटे तो उनके रहन-सहन, बोल-चाल, अदब-व्यवहार ने लोगों का हृदय मोह लिया। फिर तो जो विद्यार्थियों की संख्या बढ़नी शुरू हुई कि विद्यालय पूरा विश्वविद्यालय बन गया। पहले के दोनों छात्रों में एक यूनान का प्रधान सेनापति, दूसरा मुख्य सचिव नियुक्त हुआ। यह वृद्ध ही सुविख्यात दार्शनिक जीनो थे और उसकी पाठशाला ने जीनो की पाठशाला के नाम से विश्व-ख्याति अर्जित की।

गुरुकुल ही क्यों ? गुरुकुलों में विद्याध्ययन हर वर्ण, जाति, समुदाय के बालकों के लिए हितकारी है। किसी को अपनी संतानों को पैतृक व्यवसाय की ओर प्रवृत्त करना भी हो, तो भी श्रेष्ठ उपलब्धियों के लिए उन्हें संस्कारों का शिक्षण देना अत्यंत अनिवार्य है।

एक ही पड़ोस में एक क्षत्रिय और एक वैश्य रहते थे। ब्राह्मण बालक गुरुकुल में पढ़ने चले गए, पर क्षत्रिय और वैश्य विचार करने लगे कि हमें तो योद्धा बनना और व्यवसाय करना है। हमारे बालकों को ब्रह्म विद्या पढ़ने से क्या लाभ? कुल पुरोहित से उनसे परामर्श किया, तो उनसे उत्तर दिया कि ब्रह्मविद्या का तात्पर्य संन्यासी होना नहीं। वह जीवन के अंतिम भाग में अधिकारी व्यक्तियों द्वारा ही ग्रहण किया जाता है। ब्रह्मविद्या का प्रयोजन गुण, कर्म, स्वभाव का परिष्कार होता है, जो हर स्तर की प्रगति के लिए आवश्यक है। क्षत्रिय और वैश्य भी उस विद्या को उपलब्ध करें, तो अपने-अपने कार्यों को अधिक सफलता और सुंदरता के साथ संपन्न कर सकेंगे। कुल पुरोहित का परामर्श मानकर उनसे भी अपने बालक गुरुकुल भेजे। लौटने पर वे अपने कार्यों में दूसरों की अपेक्षा अधिक सफल रहे।

यही कारण था कि प्राचीनकाल में समाज के हर समुदाय के व्यक्ति, राजा से लेकर रंक तक अपने बच्चों को गुरुकुल विद्याध्ययन हेतु भेजते थे।

प्रतिभाएँ उल्टी से सीधी भी हो सकती हैं यह मार्गदर्शक पर निर्भर है कि वह प्रतिभा को परख कर उन्हें कैसी दिशा देता है? पिता बच्चों की उड़ड़ता से निराश हो गए थे और उसका भविष्य अंधकारमय होने की कल्पना करने लगे थे। पढ़ने में मन न लगता था। डॉट पड़ी, तो कोयला खोदने की खदान में नौकरी कर ली। पत्नी भी खिन्न थी। उसने ईसाई धर्म स्वीकार कर लिया। इन परिस्थितियों में शुभचिंतकों ने उमेशचंद्र बनर्जी को समझाया-बुझाया। उन्हें घर में वैसा ही वातावरण देकर संस्कारों की शिक्षा देना आरंभ किया। बाल हठ मिटा, तो वे पिता के साथ वकालत करने और उसकी तैयारी करने में लग गए। इंग्लैंड जाने की छात्रवृत्ति मिली और वे बैरिस्टर होकर लौटे। वकालत सबसे अच्छी चलने लगी। जो बीजांकुर अंदर सुसंस्कारिता के जमे थे, वे फलीभूत होने लगे।

संस्कारों में परिवर्तन का क्रम चला, तो वह सुधार की दिशा में बढ़ता चला गया। राष्ट्रीय आंदोलन में उनसे अपने कौशल का परिचय दिया। अखिल भारतीय कांग्रेस के तीन बार अध्यक्ष चुने गए। सरकार ने भी उन्हें लोकसभा सदस्य नामजद किया। कलकत्ता विश्वविद्यालय के वायस चांसलर रहे। प्रतिभाएँ जब उलटती हैं, तो बिगाड़ का सुधार होते भी देर नहीं लगती।

आश्रमस्थैस्तथा तत्र समायातैश्च निश्चितम् ।
अवरुद्धं तु सप्ताहं शिक्षां तां लौकिकीं भवेत् ॥ १४ ॥
विद्याया विषये चर्चा याऽमृतत्वाय कल्पते ।
स्वभावे विनयं शीलं समाविष्टं करोति या ॥ १५ ॥
अपेक्ष्य लौकिकीं शिक्षां विद्या यात्वात्मवादिनी ।
तुलनायां महत्त्वं तु तस्या एवाधिकं मतम् ॥ १६ ॥



उपस्थिता जनाः सर्वे ज्ञातुमेतच्च विस्तरात् ।

ऐच्छन् येन समे तथ्यं कुर्युस्तेऽवगतं स्वतः ॥ १७ ॥

भावार्थ—आगंतुकों और आश्रमवासियों ने मिलकर निश्चय किया कि एक सप्ताह तक लौकिक जानकारी देने वाला शिक्षा क्रम बंद रखा जाय और विद्या पर अधिक प्रकाश डाला जाय, जो अमृत कहलाती है और स्वभाव में विनयशील शालीनता का समावेश करती है । लौकिक शिक्षा की तुलना में आत्मवादी विद्या का कितना अधिक महत्व है—इसे सभी उपस्थित जन और भी अधिक विस्तार से जानना चाहते थे । यों इस तथ्य से किसी न किसी रूप में अवगत तो सभी थे ॥ १४-१७ ॥

सामाहिकं समारब्धं संस्कृतेः सत्रमुत्तमम् ।

आगतः समुदायश्च यथास्थानमुपाविशत् ॥ १८ ॥

उद्बोधको महर्षिः सोऽगादीत् कात्यायनस्तदा ।

प्रगतेः सार्वभौमाया नृणामाधारगानि तु ॥ १९ ॥

तथ्यानि यानि संप्राप्य स्फुलिङ्ग इव शक्तिमान् ।

विकासं पूर्णमासाद्य जीवो ब्रह्म भवेद् ध्रुवम् ॥ २० ॥

भावार्थ—एक सप्ताह का संस्कृति सत्र आरंभ हुआ । उपस्थित समुदाय अपने-अपने निर्धारित स्थानों पर पंक्तिबद्ध होकर आसीन हुआ । उद्बोधनकर्ता महर्षि कात्यायन ने जिज्ञासुओं की आकांक्षा के अनुरूप मनुष्य की सर्वतोमुखी प्रगति के आधारभूत तथ्यों पर प्रकाश डालना आरंभ किया, जिन तथ्यों को प्राप्त कर शक्तिशाली चिनगारी के रूप में विद्यमान जीव, पूर्ण विकास को प्राप्त कर ब्रह्म रूप बन जाता है ॥ १८-२० ॥

कात्यायन उवाच—

भद्रा ! जन्मना मर्त्यः पशुवृत्तियुतो भवेत् ।

सञ्चितो व्यवहारो यो योनिषु स हि निम्नगः ॥ २१ ॥

भ्राम्यताऽशीतिसंख्यासु चतुरुत्तरकासु तु ।

गरिष्णो मर्त्यभावस्य त्याज्यो विस्मर्य एव सः ॥ २२ ॥

देवयोनिगरिष्णश्च योग्यानां गुणकर्मणाम् ।

प्रकृतेरपि चाऽभ्यासः कर्तव्यो मर्त्यजन्मनि ॥ २३ ॥

त्यागस्वीकारयोरैवानयोर्था प्रक्रिया मता ।

देवसंस्कृतिरुक्ताऽतो देवत्वं नर आश्रयेत् ॥ २४ ॥

भावार्थ—कात्यायन बोले—हे भद्रजनों ! मनुष्य जन्मतः पशु-प्रवृत्ति का होता है । चौरासी लाख योनियों में परिभ्रमण करते समय, जो व्यवहार संचित किया गया है, वह मनुष्य जीवन की गरिमा को देखते हुए ओछा पड़ता है । इसलिए उसे भुलाना-छोड़ना पड़ता है । इस देव योनि की गरिमा के उपयुक्त गुण, कर्म, स्वभाव का अभ्यास करना पड़ता है । इसी छोड़ने-ग्रहण करने की उभयपक्षीय प्रक्रिया को देवसंस्कृति भी कहते हैं, जिससे मनुष्य देवत्व को प्राप्त करता है ॥ २१-२४ ॥

व्याख्या—शिक्षा और विद्या में अंतर समझना अत्यंत अनिवार्य है । बहुसंख्य व्यक्ति दोनों को एक ही मानते एवं स्वयं तथा अपनी संतानों के लिए बहिरंग की जानकारी देने वाली शिक्षा को ही समुचित मान बैठते हैं ।

शिक्षा का अर्थ है, जानकारी को व्यापक बनाना, बुद्धि विस्तार करना, ताकि वह दैनंदिन जीवन में काम आ सके । विद्या वह है, जो जीवन को सुसंस्कारी बनाती एवं आत्मिक प्रगति में सहायक भूमिका निभाती है । दोनों ही समग्र मानवी विकास के लिए जरूरी हैं । जहाँ एक, व्यक्ति के बहुमुखी लौकिक विकास के लिए उत्तरदायी है, वहाँ दूसरी, व्यक्ति के अंतःक्षेत्र के परिशोधन, परिष्कार एवं उन्नयन की भूमिका संपादित करती हैं । अतः शिक्षा मनुष्य के बहिरंग जीवन को सुविकसित करती है और विद्या अंतरंग को ।

शिक्षा सांसारिक योग्यता, प्रतिभा बढ़ाती है और विद्या मनुष्य को सुसंस्कारी, उदार, उदात्त बनाती है, व्यक्तित्व को श्रेष्ठता एवं शालीनता से सुसंपन्न करती है। एक को सभ्यता के विकास का साधन तथा दूसरे को सांस्कृतिक उन्नति का माध्यम समझा जा सकता है। प्रगतिशील जीवन दोनों के समन्वय एवं सुविकसित होने पर बनता है।

ऋषि श्रेष्ठ कात्यायन यहाँ बड़े स्पष्ट शब्दों में कहते हैं कि कुसंस्कारों का बोझ अपने सिर पर लिए नर-पशु के रूप में जन्मे अनगढ़ मनुष्य के लिए सुरदुर्लभ मानवयोनि में जो बहुमूल्य अवसर स्वयं के उत्थान हेतु मिला है, उसे गँवाया नहीं जाना चाहिए। पशु स्तर त्याग कर मानवी गरिमा में प्रवेश करना ही प्रकारांतर से 'देव संस्कृति' है। शब्दार्थ एवं भावार्थ दोनों ही रूप में इसका आशय है – ऐसी विद्या, जो पेट-प्रजनन तक सीमाबद्ध रखने वाली पशु-प्रवृत्तियों का परित्याग एवं देवत्व को अंतराल में उतारने, उत्कृष्ट आदर्शवादिता को जीवन में समाविष्ट करने का सर्वांगपूर्ण शिक्षण दे। कायाकल्प करने के कारण ही इसे अमृत कहा गया है।

मानव जीवन की दुर्लभता मनुष्य जीवन अपने आप में अद्भुत एवं महान् है। मनुष्य जीवन की यह महत्ता सर्वमान्य है। प्राचीन व अर्वाचीन हर समय के विचारकों और मर्मज्ञों ने इसका समर्थन किया है। रामचरित मानस में भी यही प्रतिपादन स्पष्ट रूप से मिलता है। काकभुशुंडि जी राम कथा के मर्मज्ञ ज्ञानियों में अग्रणी माने जाते हैं। उत्तरकांड में कहते हैं—

नर तन सम नहिं कवनिउ देही । जीव चराचर जाचत जेही ॥

अर्थात्, “मानव तन के समान कोई देह नहीं है, चर-अचर समस्त जीव उसकी याचना करते हैं।” संसार के सभी जीव जिस शरीर को पाने की आकांक्षा करते हैं, वह कोई सामान्य उपलब्धि नहीं कही जा सकती। चौरासी लाख योनियों में भ्रमण करने के बाद ही यह दुर्लभ योनि मिलती है।

आकर चारि लच्छ चौरसी । जोनि भ्रमत यह जिव अविनाशी ॥

अर्थात्, “यह अविनाशी जीव चार वर्गों (अंडज, पिंडज, स्वेदज, उद्भिज) और चौरासी लाख योनियों में भ्रमण करता रहता है।” जीव अविनाशी है, पर उसे विभिन्न रूपों में अनुभव प्राप्त करने पड़ते हैं।

फिरत सदा माया कर प्रेरा । काल कर्म सुभाव गुन घेरा ॥

अर्थात्, “माया की प्रेरणा से काल, कर्म, स्वभाव और गुण से घिरा हुआ (इनके वश में होकर) वह हमेशा भटकता रहता है।” इसीलिए भगवान् श्रीराम प्रजाजनों को उपदेश देते हुए स्वयं मनुष्य शरीर की महत्ता प्रतिपादित करते हुए कहते हैं—

बड़े भाग मनुष तन पावा । सुर दुर्लभ सद ग्रन्थहिं गावा ॥

“बड़े सौभाग्य से यह नर-शरीर मिला है। सभी ग्रंथों ने यही कहा है कि यह शरीर देवताओं को भी दुर्लभ है।”

नरक स्वर्ग अपवर्ग नसेनी । ग्यान खिराग भगति सुभ देनी ॥

“यह मनुष्य-योनि नरक, स्वर्ग और मोक्ष की सीढ़ी है, शुभ ज्ञान, वैराग्य और भक्ति की देने वाली है।”

नर तन भव बारिधि कहूँ बेरो । सन्मुख मरुत अनुग्रह मेरो ॥

“यह मनुष्य देह संसार सागर (से तेरे) के लिए जहाज है। मेरी कृपा ही अनुकूल हवा है।”

जीवन के अनुरूप उपलब्धियों के लिए अपनी क्षमताओं का उपयोग न कर पाने के लिए श्रीराम आगे कहते हैं।

साधन धाम मोच्छ कर द्वारा । पाइ न जेहिं परलोक सँवारा ॥

“यह (नर शरीर) साधन का धाम और मोक्ष का दरवाजा है। इसे पाकर भी जो अपने परलोक की तैयारी न कर सके, वह अभाग्य है।”

शरीर के माध्यम से ही मानवीय चेतना कार्य कर पाती है। अतः वह अनुपम साधन है। मानवीय चेतना द्वारा संचालित शरीर ही वस्तुतः मनुष्य शरीर है। स्वार्थरत, पाशविक दृष्टिकोण से संचालित शरीर केवल आकार में मनुष्य

जैसा होने पर भी श्रेष्ठ नहीं कहा जा सकता। दिव्य चेतना मुक्त होने से ही वह महान् बनता है। महर्षि वशिष्ठजी, मनुष्य देहधारी होने के कारण हर व्यक्ति को श्रेष्ठ नहीं मानते। जिसमें मानवीय अंतःकरण नहीं, जो मानवीय संवेदनाओं से हीन है, ऐसा व्यक्ति हर प्रकार से शोचनीय है। अर्थात् ऐसा व्यक्ति हर प्रकार से मनुष्य कहलाने के योग्य नहीं। क्योंकि वह मनुष्य जीवन के मूल तत्व को ही नहीं देख पाता।

जैसे संस्कार मानव योनि मिलने पर भी पार्श्विक संस्कारों का ही पोषण मिलने पर मानवी माया में ही व्यक्ति उन्हीं के समान विकसित होते देखे जा सकते हैं। विद्या का खाद-पानी, संस्कारों की उर्वरक शक्ति ही व्यक्ति को मनुष्य रूपी वह विभूषण प्रदान करती है, जिसके लिए देवगण तक लालायित पाए जाते हैं। वातावरण में जैसे संस्कार होते हैं व्यक्ति वैसा ही ढलता चला जाता है।

वैसा विकास कुछ वर्ष पूर्व उत्तरप्रदेश के सुल्तानपुर के सदर अस्पताल में एक नौ वर्ष का बालक प्रस्तुत किया गया था। यह वसौड़ी गाँव के मल्लाहों द्वारा सियारों की माँद से निकाला गया था। यह सियारों की बोली बोलता था और वही खाता था, जो सियार खाते हैं। उसके नाखून तथा बाल बड़े हुए थे और चौपायों की तरह चलता था। इससे पूर्व लखनऊ के अस्पताल में एक रामू नामक भेड़िया बालक कई वर्ष तक भर्ती रह चुका है, यह भेड़ियों की माँद खन्दौली (आगरा) के जंगलों में पाया था। उपरोक्त सियार और भेड़िया बालकों के संबंध में यही विदित हुआ है कि इन्हें यह वन्य पशु छोटी आयु में उठाकर ले गए थे। वे इन अबोध शिशुओं के प्रति द्रवित हो गए और उसे खाने की बजाय अपने बच्चों की तरह पाल लिया।

ये घटनाएँ यह तथ्य सामने लाती हैं कि मनुष्य का विकास सर्वांगीण संस्कारदायी विद्याओं, परिस्थितियों के माध्यम से ही हो सकता है। एकाकी प्रयत्नों के बलबूते कोई जीवित भले ही रह ले, पर समग्र प्रगति तो संस्कारों के पोषण एवं सामाजिक सहयोग एवं स्तर की मात्रा बढ़ाने से ही हो सकती है। इसके बिना तो हर किसी को भेड़िया अथवा सियारों से पाले बालकों की तरह पिछड़ी हुई स्थिति में रहना होगा।

प्रतिभा श्रेष्ठ विद्या का यदि सदुपयोग न हो, तो उसकी क्या सार्थकता ?
कार्यों में क्यों एक राजा के दरबार में कोई जौहरी एक बहुमूल्य हीरा लेकर पहुँचा। राजा ने अपने जौहरियों से उसका मूल्य जाँचने के लिए कहा। वे उस पर एकमत न हो सके। तभी एक वृद्ध जौहरी न लगाई ?
आया, उसने हीरा जाँच कर कहा—“इसका मूल्य ९९ लाख रुपया है।”

राजा ने पूछा—“९९ लाख ही क्यों, पूरा एक करोड़ क्यों नहीं ?” जौहरी ने वह हीरा बीच में रखा, उसके चारों ओर समान कोणों पर १०० हीरे रखे। बीच के हीरों से परावर्तित होकर प्रकाश ९९ हीरों पर पड़ा, एक पर नहीं। वृद्ध जौहरी बोला—“हुजूर ! यही इसकी कमी है जिस कारण मैंने इसका मूल्य पूरा एक करोड़ नहीं कहा।”

राजा प्रसन्न हुए। उस वृद्ध जौहरी को इनाम देने की आज्ञा दी। वहीं एक संत बैठे थे। बोले—“महाराज ! इन्हें इनाम भी अवश्य दें, लेकिन साथ ही मेरी ओर से एक मुट्ठी धूल भी इनके सिर पर डलवा दें।” इस विचित्र उक्ति से सभी को आश्चर्य हुआ। राजा ने इसका कारण पूछा।

संत बोले—“इनाम पाने की अपनी पात्रता तो यह आप सबके सामने सिद्ध कर चुके हैं। इसलिए वह इन्हें मिलना ही चाहिए, परंतु यह इतना आला दिमाग केवल पत्थरों की बारीकी परखने में जीवन भर लगाता रहा। ऐसा दिमाग देने वाले के बारे में इसने जरा भी गहराई से नहीं सोचा, सत्कार्यों में अपनी प्रतिभा जरा भी नहीं लगाई। इस प्रतिभा का सुनियोजन यदि हुआ होता, तो यह क्या से क्या कर सकती थी। इनकी इसी कमी के कारण इन्हें एक शिक्षा मिलनी चाहिए।”

दिशाहीन अनेक श्रेष्ठ वैज्ञानिकों, मनीषियों के प्रसंग हमें नित्य पढ़ने को मिलते रहते हैं जो मेधा संपन्न, विलक्षण प्रतिभा के धनी होते हुए भी मात्र विनाश हेतु आयुधों के अनुसंधान व निर्माण कार्य में लगे हैं। एक सर्वेक्षण के अनुसार विश्व के सत्तर प्रतिशत से भी अधिक प्रतिभा के धनी, उच्च शिक्षा प्राप्त वैज्ञानिक मात्र संहार हेतु नवीनतम उपायों की खोज में लगे हैं। यह विधाता की दी हुई अमूल्य देन का दुरुपयोग ही तो है। शिक्षा का कोई मूल्य नहीं, यदि वह उच्चस्तरीय आदर्शों से युक्त नहीं है। विद्या को समाविष्ट किए बिना शिक्षा अधूरी है।

समता की महत्ता

गुरुकुल में दी जाने वाली विद्या इसीलिए अमृत के समान कही गई है क्योंकि वह साधनों को नहीं उच्चस्तरीय आदर्शों को महत्त्व देती है। इसीलिए गुरुकुलों के छात्र उपभोग की नहीं, अपितु उपयोग की, सत्प्रयोजनों हेतु उनके नियोजन की महत्ता समझकर अपनी भावी दिशाधारा का निर्धारण करते हैं।

एक दिन छात्रों में संपन्न घरों से आए बालकों ने गुरुकुल संचालक आश्रय से पूछा—“भगवन् ! जो अपने घरों से अच्छे भोजन और वस्त्र मंगा सकते हैं, वे उनका उपयोग क्यों न करें ? वे भी क्यों दूसरे निर्धनों की तरह असुविधाएँ भुगतें ?” आश्रय ने कहा—“छात्रो ! उत्तम मनुष्य जिस समुदाय में रहते हैं, उसी की तरह जीवनयापन करते हैं। यह समता ही अपने और दूसरों के लिए सौजन्य उत्पन्न करती है।” “संपन्नता का प्रदर्शन ईर्ष्या और अहंकार उत्पन्न करता है, इससे विग्रह खड़े होते हैं और सहयोग का आधार टूट जाता है। विषमता ने ही समाज में अनेक विग्रह खड़े किए हैं और अपराधों-अनाचारों को जनम दिया है।” “यहाँ समानता का जीवन जीने की दिशा दी जाती है। समाज के अन्य लोगों की तरह ही जीना सिखाया जाता है। धनी अपना धन निर्धनों को ऊँचा उठाने में लगाएँ, न कि निजी सुविधा संवर्द्धन में।”

छात्रों ने समता के दूरगामी सत्परिणाम समझे और संपन्नों के मन में जो अधिक उपयोग का भाव उठा था, वह समाप्त हो गया।

उन्मादी चित्त

विद्या अनगढ़ चित्त को सुगढ़ बनाती एवं चिंतन की, व्यवहार की दिशा धारा का सुनियोजन करती है। मनुष्य की अनगढ़ता जन्मजात है एवं अन्य आहार-पोषण की ही तरह उसे विद्या की आवश्यकता सर्वोपरि है, ताकि उसका विकास श्रेष्ठ मनुष्य के रूप में हो सके। वशिष्ठजी ने राम को एक भयंकर वन में विचरण करने वाले उन्मत्त का आँखों देखा विवरण सुनाया। वह देखने में तो भला-चंगा लगता था, पर उसकी गतिविधियाँ ऐसी थीं, जिसे देखकर उसे विक्षिप्त ही कहा जा सकता था। रास्ते और पगडंडियों का व्यतिक्रम करके वह जहाँ-तहाँ विचरता, आँधे-सीधे मार्ग बनाता और उनमें चलकर अपने वस्त्र और शरीर फाड़ लेता। पैरों में काँटे लग रहे थे, फिर भी अपने को बुद्धिमान मानता और किसी के परामर्श को अहंकारवश स्वीकार न करता। उसे कभी भय-चिंता से नींद न आती। कभी अपने को राजा मानकर लंबी नींद सोता। कैंटीली झाड़ियों के क्षेत्र में उसे भूख-प्यास सहनी पड़ती और जब जी आता केलों के क्षेत्र में निकल जाता, शीतल वातावरण का लाभ लेता और फलों से पेट भी भर लेता, पानी भी वहाँ था। अपनी स्थिति पर उसे असंतोष भी न होता। आए दिन रोने-गाने के गोरखधंधे में ही वह उलझा रहता। राम ने वशिष्ठ से पूछा—“भगवन् ! वह उन्मादी कहाँ रहता है ? उसका क्या नाम है ? क्या उसका कोई उपचार नहीं है ?” वशिष्ठ ने कहा—“वत्स ! वह और कोई नहीं, मनुष्य का अनगढ़ चित्त ही है, जो जाल में फँसे पक्षी की तरह फड़फड़ाता तो है, पर स्थिति से उबरने का मार्ग नहीं ढूँढ़ पाता।”

नाञ्जसाऽभ्येति चैषा तु शिक्षया यत्नेन मानवैः।

शिक्षणीया भवत्येषा विद्या प्रोक्ता मनीषिभिः ॥ २५ ॥

सम्बद्धा सुविधाभिस्तु साफल्येन च या तु सा।

क्षेत्रस्य भौतिकस्यात्र शिक्षा प्रोक्ता मनीषिभिः ॥ २६ ॥

शिक्षाऽप्यस्ति च सा नूनमनिवार्या तथाऽपि तु।

अपूर्णेव तथैकाङ्गं विना विद्यासमन्वयात् ॥ २७ ॥

भावार्थ—यह अनायास नहीं, अति प्रयत्नपूर्वक सीखनी और सिखानी पड़ती है। यही विद्या है। शिक्षा उसे कहते हैं, जो भौतिक क्षेत्र की सुविधा-सफलता से संबंधित है। शिक्षा भी आवश्यक तो है, पर विद्या का समन्वय हुए बिना वह अपूर्ण एवं एकांगी ही रहती है ॥ २५-२७ ॥

व्याख्या—विद्या एवं शिक्षा का युग्म है। शिक्षा बाहर से थोपी जा सकती है एवं वह लौकिक प्रगति में सहायक होती है। किन्तु विद्या को बाहर से आरोपित नहीं किया जा सकता। बिना अंतःकरण की सुसंस्कारिता के अनगढ़ व्यक्ति को दी गई शिक्षा तो बंदर के हाथ तलवार की तरह सिद्ध होती है। विद्या के लिए मनुष्य को स्वयं प्रयास करना पड़ता है, प्रेरणा स्रोत कोई भी बन सकता है, वक्तावृष्ट, शिक्षण,



अभिभावक, मित्र अथवा हितैषीगण । विद्या अर्जन एक प्रकार की साधना है, अंतःक्षेत्र का प्रचंड पुरुषार्थ है, जिसे संपादित किए बिना मानव जीवन की हर उपलब्धि व्यर्थ है ।

पूर्ण सत्य की खोज ही कहा गया है—“विद्ययाऽमृतमश्नुते ।” इसके समक्ष सारे संसार का वैभव यहाँ तक कि स्वर्ग का आनंद भी तुच्छ है ।

लक्ष्य

भारद्वाज मुनि जीवन भर तपस्या में निरत रहे । मरते समय देवदूत लेने आए तो उनसे अनुरोध किया कि “मुझे इसी लोक में जन्मने दिया जाय । स्वर्ग जाकर क्या करूँगा ।” देवदूतों ने आश्चर्य से पूछा—“तप का लक्ष्य स्वर्ग होता है, सो आपको मिल चुका । तब तप किसलिए ?” भारद्वाज जी ने कहा—“ज्ञान संचय के लिए । पूर्ण सत्य तक पहुँचने के लिए अभी विद्या की संपदा मेरे पास नहीं के बराबर है । उसके लिए अभी मैं और भी अनेक जन्म तप करना चाहता हूँ । स्वर्ग से ज्ञान बढ़ा है । स्वर्ग से सुविधा और ज्ञान से आनंद जो मिलता है ।”

दो शवों की चर्चा

जिसने जीवन को उपभोग-उपार्जन, पेट-प्रजनन तक में ही खपा दिया, वह मृत्यु आ जाने पर भी उन संस्कारों से पीछा नहीं छोड़ा पाता । श्मशान घाट पर पड़ा एक शव दूसरे शव को देखकर मुस्कराने लगा । इस पर दूसरे शव ने कहा—“बंधु ! ऐसी क्या बात हो गई जो हँसना आ रहा है, हम दोनों तो एक ही स्थिति में हैं ।” पहला शव उसी मुस्कराहट के साथ बोला—“बंधु ! तुम्हें याद नहीं हम दोनों कभी सहपाठी थे, विद्याध्ययन के बाद से तुम वणिक वृत्ति में उलझ गए, दिन-रात पैसा और भौतिक सुख की कामना करते-करते अब तुम्हारी स्थिति यह है कि श्मशान घाट में भी पैसों का ही हिसाब लगा रहे हो ।” “और आप”—दूसरे शव ने पूछा । उत्तर मिला—“जब तक जीवित रहा, थोड़ा कमाया, पर मस्त रहा और अब जबकि मर गया हूँ तब भी वही निर्द्वेष्टता वही प्रसन्नता । अच्छा तो नमस्कार, लो अब चला ।” यह कहकर पहला शव चिता की ओर चल पड़ा और दूसरा शव अपने हिसाब-किताब की बातों में उलझ गया ।

अभिमान किस

बात का ?

अर्जित ज्ञान का अहंकार व्यर्थ है । अधिक ज्ञान व अधिक आयु होने पर भी विद्या संपन्न अल्पायु के साधकों के समक्ष वे तुच्छ हैं । योगी चांगदेव की आयु १४०० वर्ष की थी । उन्होंने संत ज्ञानेश्वर की कीर्ति सुनी । सोचा उन्हें पत्र लिखें । प्रश्न आ खड़ा हुआ संबोधन का । संत ज्ञानेश्वर मात्र सोलह वर्ष के थे उन्हें पूज्य कैसे लिखें ? अभिमान ने कहा । इतने बड़े संत को ‘चिरंजीव’ कैसे लिखें, विवेक ने टोका । असमंजस में बिना कुछ लिखे ही कोरा कागज पत्र के रूप में भेज दिया । संत भावों की भाषा जानते हैं, कोरे कागज का अर्थ समझ गए । बहन मुक्ताबाई ने उत्तर लिखा—“आपकी आयु १४०० वर्ष हो गई, फिर भी आप कोरे के कोरे ही रहे ।”

चांगदेव को लगा भूल हुई, मिलने चल पड़े । सिद्धि बल दिखाने के लिए शेर पर सवारी, साँप का चाबुक बनाया । ज्ञानेश्वर समझ गए, अभिमान गया नहीं । अगवानी के लिए जिस पत्थर पर बैठे थे उसे ही चलने की आज्ञा दी । पत्थर चलता देख चांगदेव को बोध हुआ । “जानवरों को वश में करने वाले से जड़ पदार्थों को वश में करने वाला श्रेष्ठ है ।” उन्होंने आयु का अहंकार छोड़ा और ज्ञानदेव के शिष्य बन गए ।

विवेकशील

नचिकेता

वाजिश्रवा ने सर्वमेध यज्ञ किया और उसमें अपनी समस्त संपदा एवं गोएँ दान कर दीं । गौओं में कुछ वृद्ध, अपंग और निकम्मी भी थीं । उन्हें ले जाने में ग्रहणकर्ता को उलटी कठिनाई उठानी पड़ती । बालक नचिकेता ने पिता वाजिश्रवा से अनुरोध किया—“जो श्रेष्ठ-सार्थक है, उसी का दान करें ।” वाजिश्रवा क्रुद्ध होकर बोले—“तुम्हीं सार्थक हो, तुम्हें मैं यम को दान करता हूँ ।” पिता के घर में जो विवेक जागृत हुआ था, वह यमाचार्य के यहाँ अध्ययन करने पर और भी अधिक विकसित हुआ । वे गुरुकुल में समर्पित भाव से रहे और पंचाग्नि विद्या में प्रवीण पारंगत बनकर रहे ।

विद्या का मर्म

तैराकी शिक्षक ने अपने शिष्य को संबोधित करते हुए कहा—“अभी अनजान होने की स्थिति में तुम गहरे घुसे, तो डूब जाओगे, पर जब तैरना सीख कर तुम पानी से ऊपर रहने की कला सीख लोगे, तो उसका लाभ स्वयं भी लोगे और दूसरों को भी डूबने से बचा सकोगे । वैभव का संसार भी ऐसा ही है । उसमें अनाड़ी डूब जाते हैं, पर विवेकवान उस पर शासन करते हैं और अपनी तथा दूसरों की भलाई के काम करते हैं ।



सुसंपन्न ने

दुर्भाग्य भुगता

सौभाग्यवश वैभव की स्थिति प्राप्त होने पर भी व्यक्ति अपने ही कुसंस्कारों से अपनी खाई स्वयं खोद लेता है ।

मिश्र के राजा ने अपने राजकुमार फारूख को शिक्षित और व्यवहारकुशल बनाने के लिए सारी व्यवस्थाएँ कीं, किन्तु वह उदंड और अहंकारी लड़का किसी की परवाह न करके अपने को उन्मादी की तरह सब कुछ समझता था । जो भी उसे उपयोगी सलाह देता उसी की जान को आता । सभी उससे घोर असंतुष्ट थे । बीस वर्ष की आयु में वह राज सिंहासन पर बैठा । अपनी बुरी आदतों और बेवकूफियों से थोड़े ही दिन में राज्यकोष खाली कर दिया और प्रजा में अराजकता जैसी स्थिति उत्पन्न कर दी । पड़ोसी आक्रमण की घात लगाने लगे । इतने में प्रजाजनों ने ही क्रांति करके उसे जेल में डाल दिया । जब तक जिया, बंदीगृह में सड़ता रहा । जो नौकर उसकी सेवा में नियुक्त थे, वे भी सीधे मुँह बात न करते थे और ऊटपटांग बात कहने पर उसे डाँट देते । सौभाग्य ने उसे सुयोग्य देने में कमी न रखी, पर अपनी मूर्खता से उसने स्थिति ऐसी बना ली, जिसे सामान्यजनों से भी गई-बीती कहा जा सके ।

सभ्यता की

कसौटी

व्यक्ति को परख उसके बाह्य रूप से, वेशभूषा से नहीं, अंतः की श्रेष्ठता से की जाती है ।

स्वामी विवेकानंद एक बार अमेरिका की एक सड़क से गुजर रहे थे । स्वामी जी गेरुए वस्त्र धारण किए हुए थे । उनकी विचित्र वेशभूषा देखकर लोगों ने समझा, यह कोई मूर्ख है । उनके पीछे हँसी-मजाक करती हुई काफी भीड़ चल पड़ी । स्वामी जी थोड़ा चलकर रुके और भीड़ की ओर देखते हुए बोले—“सज्जनो ! आपके देश में सभ्यता की कसौटी पोशाक है, पर मैं जिस देश से आया हूँ, वहाँ कपड़ों से नहीं मनुष्य की पहचान उसके चरित्र से होती है ।” स्वामी जी के तेजस्वी वचन सुनकर सारी भीड़ स्तब्ध रह गई । स्वामी जी सहज भाव से आगे बढ़ गए ।

निरंतर, हर पल जो सीखने को स्वयं को प्रखर बनाने को उद्यत हो, वही विद्या का धनी बनता, श्रेय सम्मान पाता व श्रेष्ठता के शिखर पर पहुँचता है ।

कला कैसे

निखरेगी ?

फ्रांस का प्रसिद्ध मूर्तिकार आगस्टस सेंट गाडेस जब पेरिस में मूर्तिकला का विद्यार्थी था, उसके पास एक सम्भ्रांत महिला अपनी एक मूर्ति बनवाने आई । उसने अपने कलागृह में उसकी मूर्ति बनाना आरंभ किया । जब मूर्ति बन चुकी, तो वह महिला उस मूर्ति को देखने आई । उसे वह मूर्ति पसंद नहीं आई । गाडेस ने उसे फिर बनाया, फिर भी उसे पसंद नहीं आई । इस प्रकार कितनी ही बार उसकी यह मूर्ति नापसंद कर दी गई । नापसंद किए जाने पर दुगुने उत्साह से उसे सँवारने में लग जाया करता था । एक दिन उसके मित्रों ने उससे उसके इस उत्साह का कारण पूछा, तो उसने बताया कि इसी प्रकार तो मेरी कला निखरेगी । इसी उत्साह तथा लगन के परिणामस्वरूप ही वह प्रसिद्ध मूर्तिकार बन सका था ।

ज्ञानविज्ञानयोर्योगः पन्थानं प्रगतेः सदा ।

सार्वत्रिक्याः प्रशस्तं स विदधाति न संशयः ॥ २८ ॥

शरीरयात्रासौविध्यसंग्रहः क्रियते यथा ।

तथैवात्मिकप्राखर्यप्राप्तये यततामपि ॥ २९ ॥

विना तेन नरस्तिष्ठेन्नरवानररूपकः ।

नरपामररूपो वा हेयप्रकृतिकारणात् ॥ ३० ॥

अविकासस्थितस्तिष्ठेदसन्तुष्टस्तिरस्कृतः ।

स्वास्थ्यशिक्षासाधनानां दृष्ट्यात्मासहस्र सः ॥ ३१ ॥

भावार्थ— ज्ञान और विज्ञान का समन्वय ही सर्वतोमुखी प्रगति का पथ प्रशस्त करता है । इसलिए शरीर यात्रा की सुविधाएँ जुटाने की तरह ही आत्मिक प्रखरता के लिए भी प्रयत्न होना चाहिए । उसके बिना मनुष्य को नर-वानर या नर-पामर बनकर रहना पड़ता है, हेय आदतों के कारण पिछड़ेपन की स्थिति में पड़ा रहता है और असंतोष-तिरस्कार के अतिरिक्त स्वास्थ्य तथा साधनों की दृष्टि से भी त्रास सहता है ॥ २८-३१ ॥



सार्थकं जन्ममानुष्यं कर्तुमावश्यकं मतम् ।
 सुसंस्कारत्वमनैतद् व्यर्थं जन्माऽन्यथानृणाम् ॥ ३२ ॥
 तस्योपलब्धेरेषैव विद्यापद्धतिरुत्तमा ।
 निश्चिताऽप्यनुभूता च शिक्षाविद्यासुसंगमः ॥ ३३ ॥
 महत्त्वपूर्णो मन्तव्यो नरैः सर्वत्र सर्वदा ।
 नोचेन्न स सदाचारं व्यवहर्तुं क्षमो भवेत् ॥ ३४ ॥

भावार्थ—मनुष्य जन्म को सार्थक करने के लिए सुसंस्कारिता का संपादन नितांत आवश्यक माना गया है । विद्या उसी को उपलब्ध कराने की, सुनिश्चित एवं अनुभूत पद्धति है । अस्तु, शिक्षा के साथ विद्या के समावेश का महत्त्व सर्वत्र समझा जाना चाहिए, नहीं तो, वह दैनिक जीवन में सदाचार का व्यवहार नहीं कर पाएगा ॥ ३२-३४ ॥

व्याख्या—मनुष्यों व पशुओं में आकृति भेद होते हुए भी अनेक में प्रकृति एक-सी पाई जाती है । वनमानुष देखे तो नहीं जाते, किन्तु उस मनोभूमि वाले नर-वानरों की कोई कमी नहीं । ऐसे भी अनेक हैं, जो निरुद्देश्य जीवन जीते या मर्यादा को तब तक ही मानते हैं, जब तक कि उन पर अंकुश रहे । मनुष्य को जन्म मिलने के साथ-साथ विधाता ने मानव आकृति भी दी है । किन्तु प्रकृति उसे अपने पुरुषार्थ से स्वयं अर्जित करनी होती है । खदान से निकला लोहा मिट्टी मिला होता है । उसे भट्टी में गलाना पड़ता है । जब मिला हुआ अंश जलकर नष्ट हो जाता है, तो वही अनगढ़ लोहा शुद्ध लोहे के रूप में सामने आता है । तपाने पर एवं सौंचे में ढलाई करने पर भिन्न-भिन्न पात्रों-उपकरणों के रूप में सामने आता है । लगभग यही तथ्य मनुष्य पर भी लागू होता है ।

जीवन निर्वाह के लिए साधन जुटाना है, पर यही पर्याप्त नहीं है । अंतरंग के विकास के बिना जीवन यात्रा अधूरी है । यदि उसने बहिरंग जीवन में काम आने वाले साधन जुटा भी लिए, तो भी वे आत्मिक प्रगति के अभाव में निरुद्देश्य ही पड़े रहेंगे, साधनों का अंबार होते हुए भी व्यक्ति अनगढ़ ही बना रहेगा, कोई लाभ उसका उठा नहीं पाएगा ।

यहाँ ऋषि ज्ञान व विज्ञान के समन्वय की जीवन में महत्ता प्रतिपादित करते हुए व्यक्ति के सांस्कृतिक विकास के लिए उसे अनिवार्य बताते हैं । ज्ञान वह जो अंतः की समृद्धि बढ़ाए, गुण, कर्म, स्वभाव का परिष्कार करे । विज्ञान वह जो बहिर्मुखी व्यावहारिक जानकारी मनुष्य को दे । दोनों एक दूसरे के बिना अपूर्ण हैं । ज्ञान संस्कृति का जन्मदाता है, तो विज्ञान सभ्यता का । संस्कृति व सभ्यता एक दूसरे के साथ चलने पर ही मनुष्य को सर्वांगपूर्ण विकास के पथ पर बढ़ाते हैं । अतः विद्या एवं शिक्षा दोनों को ऊपर बताई गई दो आवश्यकताओं को दृष्टिगत रख समन्वित रूप में प्रारंभ से ही दिए जाने की व्यवस्था बनाई जानी चाहिए । मनुष्य स्वेच्छाचारिता न बरतकर अनुशासित रहे, सदाचारी बने, इसके लिए यह समन्वय अत्यंत अनिवार्य है ।

आत्मतत्त्व को जानो विद्या व्यक्ति को विनम्र बनाती है, उसके अंतरंग के स्तर को ऊँचा उठाती है । शिक्षा तो कहीं भी मिल सकती है पर विद्या के सूत्र कहीं-कहीं ही मिलते हैं । किन्तु जब भी ऐसा अवसर आता है, व्यक्ति का कायाकल्प हो जाता है । छांदोग्य उपनिषद् के छठे प्रपाठक में पिता उद्दालक का उनके पुत्र श्वेतकेतु के साथ हुआ संवाद आता है । शिष्य विद्यालय की परीक्षा उत्तीर्ण करके आता है । पर इससे गर्व भी बढ़ा । उड़ड़ता बढ़ी और आत्म परिष्कार का कोई लक्षण दिखाई न दिया । इस पर पिता को क्रोध आया और कहा—“यदि व्यक्तित्व में शालीनता का समावेश न आया तो फिर पढ़ने में समय नष्ट करने से क्या लाभ ?” श्वेतकेतु ने कहा—“यदि मेरे गुरु ऐसा रहस्य जानते तो वे शिक्षक क्यों बने रहते ? ऋषि और द्रष्टा क्यों न बन जाते ।” उद्दालक ने एक गूलर का फल मँगाया और उसके भीतर नन्हें-नन्हें बीज दिखाए और कहा—“यही लघु कण होते हैं विशाल वृक्ष की सत्ता के मूल कारण । जो आत्म ज्ञान प्राप्त कर लेता है वही इस वट-वृक्ष की तरह सुविकसित होता है । तू उसी तत्व को ज्ञान । आत्मसत्ता को सुविकसित कर और जीवन को विशाल वटवृक्ष की तरह सुविस्तृत सुदृढ़ बना ।”

विद्यालय बनाम

गुरुकुल

शिक्षा अर्जित कर लौकिक दृष्टि से संपन्न बनने वालों की तुलना में विद्या को हृदयंगम कर जीवन जीने की सही कला का शिक्षण लेने वाले ज्ञान संपदा के धनी कहीं अधिक लाभ में रहते हैं, हर कहीं सराहे जाते हैं। एक अध्यापक अपने छात्रों को लेकर गुरुकुल की शिक्षा प्रणाली का अवलोकन करने गए। नगर के विद्यार्थी उनका भूमिशयन एवं शृंगार रहित सादगी भरा जीवन देखकर हैसने लगे और बोले—“कदाचित्त यह सब निर्धन परिवारों के लोग मालूम पड़ते हैं।” गुरुकुल के छात्रों से उनकी वाद-विवाद, विचार-विनिमय प्रतियोगिता रखी गई। प्रतीत हुआ कि व्यावहारिक ज्ञान में तथा सद्गुणों के अभ्यास में गुरुकुल के छात्र कहीं आगे हैं। स्वास्थ्य भी उनका सात्विक आहार एवं प्रकृति सान्निध्य में श्रम साध्य जीवनयापन करने के कारण कहीं अधिक उत्तम है। स्वभाव और अनुशासन की दृष्टि से भी वे अग्रणी थे। अधिष्ठाता ने बताया कि यह निर्धनों के नहीं, दूरदर्शियों के बालक हैं। इनके अभिभावकों ने इनका व्यक्तित्व निखारने के लिए यहाँ भेजा है। नगर के शिक्षार्थियों ने अपनी धारणा बदल दी। गुरुकुल शिक्षा प्रणाली को श्रेष्ठ माना।

अजेय अर्जुन

प्राचीन काल में गुरुकुलों में कठिनाइयों से टकराने का अभ्यास कराकर व्यक्तित्व को प्रखर बनाया जाता था। देवताओं पर स्वर्गलोक में असुरों ने आक्रमण किया। हारने लगे तो धरती पर अर्जुन के पास संदेश भेजा और सहायता माँगी। उसने असुरों से मोर्चा लिया और उन्हें भगा दिया। देवताओं ने गुरु बृहस्पति से पूछा—“मनुष्य हमसे अधिक प्रतापी निकले इसका क्या कारण है?” उनमें कहा—“अर्जुन कठिनाइयों से टकराकर बलिष्ठ बना और तुम विलासी रहकर अपनी सामर्थ्य गँवा बैठे। जीवन के हर क्षेत्र में अवांछनीयताओं से मोर्चा लेने हेतु जिस विद्या के प्रशिक्षण की आवश्यकता रहती है, वह गुरुकुल शिक्षण का एक प्रधान अंग रहा है। अर्जुन की विजय का प्रधान कारण यही था।

शिष्य की

श्रद्धा

शिष्य की विनम्रता एवं भावसिक्त श्रद्धा ही गुरुकुल शिक्षण-पद्धति का मूल प्राण है। स्वामी रामतीर्थ बचपन में गाँव के मौलवी साहब से पढ़ा करते थे। प्रारंभिक पढ़ाई पूरी होने पर उन्हें पाठशाला भेजा गया। तब मौलवी साहब को क्या दिया जाय यह प्रश्न सामने आया। स्वामी जी के पिताजी उन्हें मासिक वेतन के अतिरिक्त इस समय कुछ और भेंट करना चाहते थे, तभी स्वामी जी बोल उठे—“पिताजी! इन्हें अपनी बढ़िया दूध देने वाली गाय दे दीजिए। इन्होंने मुझे सबसे बढ़िया विद्या का दूध पिलाया है। शिष्य की इस ज्ञानमयी श्रद्धा से पिता तथा गुरु दोनों ही पुलकित हो उठे।

धर्म शिक्षकों

की श्रद्धा-

परीक्षा

न केवल छात्रों को, अपितु शिक्षकों को भी गुण, कर्म, स्वभाव की कसौटी पर परख कर संस्कार शिक्षण हेतु उपयुक्त पाने पर ही यह अवसर दिया जाना चाहिए। महर्षि आयोद धौम्य धर्म प्रचारकों का पौरोहित्य विद्यालय चलाते थे। पर उसमें प्रवीण वे उन्हीं को करते थे जो चरित्र और अनुशासन की परीक्षा में खरे उतरते। इस प्रयोजन के लिए उनमें उपमन्यु, आरुणि, उद्दालक आदि शिष्यों को अनुशासन पालन की कड़ी परीक्षाओं में परखा। खरे सिद्ध होने पर ही उन्हें पारंगत बनाया। धर्म शिक्षा देने वालों को हर दृष्टि से खरा होना चाहिए इस तथ्य को उनमें प्रशिक्षण के साथ एक शर्त के रूप में जोड़ रखा था।

प्रखर बुद्धि

संपन्न रमन

किन्हीं-किन्हीं में ज्ञान संपदा की विलक्षण विभूति स्वतः विकसित होती पाई जाती है तो अन्य अनेक को यह पुरुषार्थ से उपलब्ध होती है। त्रिचानापल्ली का एक छात्र विद्यालय में प्रवेश लेने गया। नियमानुसार उसकी परीक्षा ली गई। योग्यता देखकर अध्यापक ने सिफारिश की इस विद्यार्थी की बुद्धि और विद्या इतनी प्रखर है कि उसे कालेज में दाखिला मिलना चाहिए। हाईस्कूल के प्राध्यापक ने लड़के को बुलाया और उस सलाह से अवगत कराया। विद्यार्थी ने जवाब दिया—“मास्टर साहब! परीक्षा में अधिक अंक पाने का यह अर्थ नहीं कि जो एक क्रम-व्यवस्था बनी है उसे तोड़ा जाय। एक-एक सीढ़ी पर चढ़ते हुए ही उन्नति के अंतिम बिंदु तक पहुँचा जा सकता है तो फिर मैं ही बीच से छलांग क्यों लगाऊँ?” स्वल्प श्रम से मिलने वाली सफलता को ठुकरा देने वाले इस छात्र को आज सब चंद्रशेखर वेंकटरमन के नाम से जानते हैं। जिन्हें वैज्ञानिक अनुसंधानों पर नोबुल प्राइज मिला।

यह विनम्रता-निरहंकारिता ही उच्च स्तरीय उपलब्धियों की पृष्ठभूमि बनाती है।

अध्याय प्रथम)

(१५



पुरुषार्थ से

अर्जित विद्या

जिन्होंने विद्या की पूँजी पुरुषार्थ से उपलब्ध की, वे अन्य अनेक के लिए प्रेरणास्रोत बनते हैं। उनकी यह निधि सारे विश्व के धन कोषों में रखी राशि से भी अमूल्य है।

विश्व विख्यात संगीतकार बिथोवियन के प्रशिक्षक गुरु ने एक बार उनके एक मित्र को, जो कि एक राजकुमार था, कहा—“यों तो विश्व में हजारों राजकुमार होंगे किन्तु उन राजकुमारों की भीड़ के बीच में बिथोवियन ने अपनी स्वयं की कला साधना के कारण ख्याति प्राप्त की है।”

शिष्य के अंतरंग मित्र को कहे गए ये शब्द बिथोवियन की प्रशस्ति नहीं, वरन् संकल्प, साधना तथा श्रम की गरिमा बताते हैं। बिथोवियन को अपने जीवन में किसी का सहारा नहीं मिला। शराबी पिता द्वारा प्रताड़ित किया गया। प्रकृति ने उसे अंधा-बहरा बना दिया, पर वाह रे! धुन के धनी, संकल्पों के कुबेर, हारना तो सीखा ही नहीं। संगीत को बिथोवियन की इस साधना ने अमर बना दिया, साथ ही उसके नाम को भी।

मोची दार्शनिक

इंग्लैंड के रैदास

जोसेफ पेण्डेल अपने जमाने के ऊँचे दार्शनिक थे। उनका सारे इंग्लैंड में बड़ा मान था।

उनके पिता मोची का काम करते थे। वही उन्हें भी सुहाया। जितनी देर में पेट भरने की

मजदूरी पूरी हो जाय, उतना ही समय काम करते थे और शेष समय विद्याध्ययन में लगाते थे।

पुस्तकालयों से उनकी ज्ञान-पिपासा पूर्ण होती थी। वे नए जूते बनाने की अपेक्षा पुरानों की मरम्मत में अपनी प्रतिभा को विकसित होने और जनता के धन की बर्बादी रुकने का लाभ देखते थे। वे स्थायी दुकान लगाकर नहीं रहे। जब भी अच्छे पुस्तकालय और ऊँचे विद्वानों की चर्चा सुनते वहीं अपना सरंजाम उठा ले जाते और कहीं खाली जगह में बैठकर अपना धंधा आरंभ कर देते। शेष समय में अध्ययन और ज्ञान चर्चा करते रहते। उनसे बहुत कुछ लिखा भी है। उनकी तुलना भारत के संत रैदास से की जाती थी।

नौकर से

राष्ट्रपति

ओहियो के जंगल में गारफील्ड की विधवा माता रहती थी। लकड़ी काट कर गाँवों में बेचने जाती,

तो लड़के को झोंपड़ी में बंद करके ताला लगा जाती, ताकि जंगल के भेड़िये उसे खा न जाँय। रात

को माँ उसे दुलार करती और कुछ पढ़ाती। बड़ा होकर माँ-बेटे ने एक खच्चर ले लिया और लकड़ियाँ सिर पर ढोने की अपेक्षा उसी पर लाद कर ले जाने लगे। गारफील्ड को पढ़ने का चस्का लगा। उसे एक पुस्तकालय में सफाई की नौकरी मिल गई। वह स्कूली पढ़ाई भी पढ़ने लगा और ज्ञानवर्द्धक साहित्य भी। युवा होते-होते वह ग्रेजुएट बन गया और दूसरी अच्छी नौकरी भी मिल गई। इसी के साथ बचे हुए समय में वह समाज सेवा के अनेक कार्य करता। उसके स्वभाव और चरित्र से उस क्षेत्र के सभी लोग परिचित हो गए।

प्रगति पथ की अनेक मंजिलें पार करते हुए गारफील्ड अमेरिका की राज्यसभा का सदस्य चुना गया। इससे अगले चुनाव में वह राष्ट्रपति के पद पर प्रतिष्ठित हुआ। यह सफलता किसी देवता के वरदान से नहीं, उसे अपनी योग्यता और सेवा-साधना के बलबूते पर उपलब्ध हुई थी।

यह पथ हर व्यक्ति के लिए खुला हुआ है। जो किसी की प्रतीक्षा न कर स्वयं पुरुषार्थ में संलग्न होते हैं, वे अपनी संकल्प शक्ति से लक्ष्य को प्राप्त करके रहते हैं।

ज्ञान की

अनंतता

ज्ञान का समुद्र अत्यंत विशाल है। उसकी थाह कोई ले नहीं सकता। यह मान बैठना कि थोड़े ही

प्रयासों से ज्ञानार्जन हो सकेगा, एक आत्म प्रवंचना भर है। किन्तु प्रयास सतत् इसी दिशा में होते

रहना चाहिए।

भगवान बुद्ध एक बार आनंद के साथ एक सघन वन में से होकर गुजर रहे थे। रास्ते में ज्ञान चर्चा भी चल रही थी। आनंद ने पूछा—“देव! आप तो ज्ञान के भंडार हैं। आपने जो जाना, क्या आपने उसे हमें बता दिया?”

बुद्ध ने उलटकर पूछा—“इस जंगल में भूमि पर कितने सूखे पत्ते पड़े होंगे? फिर हम जिस वृक्ष के नीचे खड़े हैं, उस पर चिपके सूखे पत्तों की संख्या कितनी होगी? इसके बाद अपने पैरों तले जो अभी पड़े हैं, वे कितने हो सकते हैं?” आनंद इन प्रश्नों का उत्तर देने की स्थिति में नहीं थे। मौन तोड़ते हुए तथागत ने स्वयं ही कहा—“ज्ञान का विस्तार इतना है, जितना इन वन-प्रदेश में बिछे हुए सूखे पत्तों का परिवार। मैंने इतना जाना, जितना ऊपर वाले वृक्ष का पतझड़। इसमें भी तुम लोगों को इतना ही बताया जा सका, जितना कि अपने पैरों के नीचे कुछेक पत्तों का समूह पड़ा है।”

ज्ञान की अनंतता को समझाते हुए उसे निरंतर खोजते और जितना मिल सके उतना समेटते रहने में ही बुद्धिमत्ता है।

कैसे सिखाएँ, जानकारी का महत्व समझाते हुए सुकरात ने एक बार अपने शिष्यों से कहा—“जो अनजान है और अपने को जानकार मानता है, उससे बचो। जो अनजान है और अपनी अल्पज्ञता से **किससे सीखें ?** परिचित है उसे सिखाओ। जो जानता तो है, पर अपने ज्ञान के बारे में शंका लु है उसे जगाओ और जो जानता है, पर साथ ही अपनी जानकारी के प्रति आस्थावान है, वह बुद्धिमान है। ऐसे ही व्यक्ति के पीछे चलो।”

आगतेषु गुरुष्वत्र महर्षिः स ऋतम्भरः।

उत्थाय कृवान् व्यक्तां जिज्ञासां नम्रभावतः ॥ ३५ ॥

भावार्थ—आगतुक अध्यापकों में से महामनीषी महर्षि ऋतम्भर ने उठकर विनम्रतापूर्वक जिज्ञासा व्यक्त की ॥ ३५ ॥

ऋतम्भर उवाच—

संस्कारिणीमिमां विद्यां विधातु मर्त्यजीवने।

समाविष्टां विधिर्वाच्यो बोधबोधनयोः प्रभो ॥ ३६ ॥

भावार्थ—ऋतम्भर ने कहा—भगवन् ! सुसंस्कारी विद्या को मनुष्य जीवन में समाविष्ट करने की विधि-व्यवस्था समझाएँ। उसे किस प्रकार सीखा और सिखाया जाना चाहिए ॥ ३६ ॥

कात्यायन उवाच—

भद्र एष शुभारम्भः पितृभ्यां मर्त्यजीवने।

निजे कृत्वा परिष्कारं विधातव्यो यथा च तत् ॥ ३७ ॥

बीजं भवति चोत्पत्तिः क्षुपाणां तादृशां भवेत्।

दायित्वं पितरौ बुद्ध्वा सच्चारित्र्यं च चिन्तनम् ॥ ३८ ॥

उच्चस्तरं तु गृहणीयुर्भूत्वा कामातुरास्तु ते।

अनीप्सितां न चोत्पन्नां कुर्युः सन्ततिमात्मनः ॥ ३९ ॥

भावार्थ—कात्यायन बोले—भद्रजनो ! यह शुभारंभ माता-पिता को अपनी जीवनचर्या में सुधार-परिष्कार करके आरंभ करना चाहिए। जैसा बीज होता है, वैसी ही पौध उगती है। इसलिए जनक-जननी अपने महान उत्तरदायित्व को समझे और सुयोग्य संतान के लिए उच्चस्तरीय चिंतन और चरित्र अपनाएँ। कामातुर होकर अवांछनीय संतान उत्पन्न न करें ॥ ३७-३९ ॥

व्याख्या—काँटेदार बबूल का बीज बोकर आम के वृक्ष पनपने की आशा नहीं की जाती। खाद, पानी, निराई, गुड़ाई जितनी महत्वपूर्ण है, उससे भी अधिक यह कि बीज श्रेष्ठ है या नहीं। किसान इसीलिए अपनी फसल बोने से पहले श्रेष्ठ बीज ढूँढ़ते, तदुपरांत अन्य व्यवस्थाएँ करते हैं। माता-पिता की, शिशु-निर्माण में किसान जैसी ही भूमिका है। जितना श्रेष्ठ चिंतन व चरित्र का स्तर माता-पिता का होगा, उतनी ही उच्चस्तरीय सुसंतति होगी। एक नया जीवन संसार में प्रवेश ले, उसके पूर्व माता-पिता स्वयं अपनी मनोभूमि बनाएँ, संस्कारों को पोषण दें, तो ही ऐसी श्रेष्ठ संतान की अपेक्षा की जा सकती है, जो विद्यार्जन हेतु सक्षम आत्मबल जुटा सके।

तपस्वी की स्वयंभू मनु और शतरूपा रानी का मन भगवद् गुणों से युक्त संतान को गोदी में खिलाने का था। इसके लिए वे उपाय ढूँढ़ रहे थे। वशिष्ठ जी ने कहा—“तपस्वी आत्माओं की गोदी में ही भगवान् खेलते हैं। तुम दोनों अपने को तपाकर इस योग्य बनाओ कि परब्रह्म की इच्छा तुम्हारे आँचल में बैठने की होने लगे।” दोनों ने तप-साधना द्वारा अपने को पवित्र बनाया।

अगले जन्म में वे दोनों दशरथ-कौशल्या हुए और उनकी गोदी में भगवान् राम खेले थे। रुक्मिणी और कृष्ण को भी प्रद्युम्न जैसी उच्च आत्मा पाने के लिए बद्रीनाथ जाकर तप करना पड़ा था।

श्रेष्ठ वातावरण-

श्रेष्ठ संतति

देश के महामानवों के निर्माण में उनकी निजी क्षमता तथा आदर्शवादिता कारण रही है। उतना ही परोक्ष रूप से उनके अभिभावकों का प्रयास तथा परिवार का वातावरण भी रहा है।

महामना मालवीय जी, लोकमान्य तिलक, गोखले, रानाड़े, लाजपतराय, गांधी जी, सुभाष आदि के बचपन का अध्ययन किया जाय, तो प्रतीत होता है कि वे घर के आदर्शवादी प्रगतिशील परिवार में पले थे और उनके अभिभावकों ने उनको उत्कृष्ट बनाने में भरसक प्रयत्न किया था। बचपन के वे सुसंस्कार ही बड़े होने पर उन्हें महामानव स्तर का बना सके।

नंद और

यशोदा

गोकुल के महानंद धनवान् और विद्वान् थे। उनकी धर्मपत्नी यशोदा ने अपने दोनों पुत्र बलराम और श्रीकृष्ण समान रूप से विकसित किए। उन्हें परिश्रमी बनाया जो गौएँ चराते थे। संदीपन ऋषि के गुरुकुल में पढ़ने भेजा। अनीति के विरुद्ध लड़ने का जोखिम उठाने के लिए वे उन्हें प्रोत्साहित करतीं और साहस भरती रहीं, फलतः वे कंस और जरासंध जैसे दुष्टों का हनन करने में समर्थ हुए। माता-पिता बालकों में स्वतंत्र प्रतिभा विकसित करने में सदा सहायक रहे, किन्तु दुर्गुणी किसी को भी न बनने दिया।

दिलीप का

उत्तरदायित्व

निर्वाह

राजा दिलीप के कोई संतान न थी। वे उपाय पूछने गुरु वशिष्ठ के आश्रम में पहुँचे। ऋषि ने कहा-“आप यहाँ प्राकृतिक वातावरण में रहिए, दुग्ध कल्प कीजिए और गौ चराने के निमित्त आप दोनों उसके पीछे-पीछे दिन भर भ्रमण कीजिए।” राजा-रानी इसी उपचार को करने लगे। एक दिन मायावी सिंह ने राजा की गुरु भक्ति को परखना चाहा और गाय के ऊपर आक्रमण कर दिया। राजा का धनुष वाण काम न दे रहा था। उनसे सिंह से कहा-“भले ही आप मुझे खा लें। पर गौ को छोड़ दें उनकी गाय को गँवाकर मैं गुरु को क्या मुँह दिखाऊँगा।”

राजा की भक्ति भावना और उत्तरदायित्व दृढ़ता की परीक्षा करके सिंह ने गाय को छोड़ दिया और उन्हें भी नहीं खाया। समयानुसार दिलीप को तप-साधना एवं कर्तव्यनिष्ठा के फलस्वरूप श्रेष्ठ संतान उपलब्ध हुई, जिसने रघुकुल परंपरा को चलाया।

कर्कटी की

पराक्रमी

संतान

पांडव जब अज्ञातवास में थे तब भीम ने गंधर्व विवाह करके कर्कटी नामक वनवासी युवती को उपपत्नी बनाया। उसे सुयोग्य और संस्कारवान् बनाया। फलतः वह अपने पुत्र घटोत्कच को पिता के समान ही पराक्रमी योद्धा बना सकी। इतना ही नहीं, कर्कटी का पौत्र बर्बरीक भी असाधारण पराक्रमी बना। इस उत्पादन में पिता और माता का अधिक योगदान था। वह पति के वापस लौट आने पर भी अपने परिवार को महामानव स्तर का बनाती रही। जबकि उसके क्षेत्र में अन्य वनवासियों की संतान अनागढ़ ही बनी रही।

शृंगी ऋषि का

सुसंस्कारी

शिक्षण

लोमश ऋषि ने अपने पुत्र शृंगी को अपने से भी उच्चकोटि का ऋषि बनाने के लिए उनकी शिक्षा-साधना के अतिरिक्त आहार-बिहार का विशेष रूप से संरक्षण किया। उन्हें आश्रम में उत्पादित अन्न-फल ही खिलाए जाते थे। नारी का संपर्क तो दूर, उनके संबंध में उन्हें जानकारी तक नहीं होने दी। दशरथ और वशिष्ठ इस प्रबल अनुशासन की परीक्षा लेने गए। अप्सराओं के हाथों मिष्टान्न भेजा। उनसे नारियाँ कभी देखी न थीं, सो उनका परिचय पूछा। उत्तर मिला-“हम भी ब्रह्मचारी विद्यार्थी हैं। हमारा गुरुकुल शीत प्रधान क्षेत्र में है। सो बड़ी आयु तक दाढ़ी मूँछ नहीं आती। प्राणायाम अधिक करने से हमारे सीने चौड़े हो जाते हैं।” मिष्टान्न दिए और कहा-“यह हमारे आश्रम के फल हैं।” शृंगी ऋषि ने उनकी बात अक्षरशः सही मानी और पिता को सारा विवरण बताया। वे देखने बाहर आए तो अप्सराओं के साथ दशरथ और वशिष्ठ खड़े दीखे। हेतु बताया गया कि दशरथ का पुत्रेष्टि यज्ञ कराने योग्य शक्तिवान् वाणी इन दिनों शृंगी ऋषि की है। यंत्रवत् श्लोक पढ़ने वाले तो असंख्य हैं।

शृंगी ऋषि के द्वारा जो यज्ञ हुआ उससे चार राजकुमार राम, लक्ष्मण, भरत, शत्रुघ्न के रूप में ऐसे जन्मे जिनने इतिहास को धन्य कर दिया। ब्रह्मर्तव्य अर्जित करने के लिए साधना ही नहीं, इंद्रिय निग्रह भी आवश्यक है। शृंगी ऋषि ने यह सब अपने पिता द्वारा प्रदत्त उच्चस्तरीय शिक्षण से ही सीखा एवं श्रेष्ठ तपस्वी का पद पाया।



अबोधः शिशवो मातुरुदरावधितः स्वयम् ।
 अभ्यास्ते कुटुम्बस्य ज्ञेयं वातावृतौ बहु ॥ ४० ॥
 शिशूनां सप्तवर्षाणां प्रायो व्यक्तित्वनिर्मितः ।
 पूर्णैव जायते चास्यामवधौ पारिवारिकी ॥ ४१ ॥
 वातावृतिः शिशून् कृत्वा पूर्णतस्तु प्रभावितान् ।
 सुनिश्चिते क्रमे चैतान् परिवर्तयति स्वयम् ॥ ४२ ॥

भावार्थ—अबोध शिशु माता के उदर से लेकर परिवार के वातावरण में बहुत कुछ सीख लेते हैं । सात वर्ष की आयु तक बच्चों का व्यक्तित्व बहुत बड़ी मात्रा में विनिर्मित हो चुका होता है । इस अवधि में पारिवारिक वातावरण का ही भला-बुरा प्रभाव बालकों को सुनिश्चित ढाँचे में ढालता है ॥ ४०-४२ ॥

व्याख्या—विद्या वह उच्चस्तरीय संस्कारयुक्त मार्गदर्शन है, जिसका शुभारंभ गर्भावस्था से ही हो जाता है । माता की गर्भकाल की अवधि में जैसी मनःस्थिति होती है, जैसा चिंतन प्रवाह चलता है, बालक वैसा ही ढलता है । जन्म के तुरंत बाद से ही वह शिक्षण प्रत्यक्ष रूप से चल पड़ता है । आनुवांशिकता से गुण-संपदा के संतान में समाविष्ट होने की बात जितनी सही है, उतनी ही यह भी कि वातावरण में, स्वयं के जीवन क्रम में उन संस्कारों का समावेश किया गया अथवा नहीं, जो माता-पिता अपनी संतानों में चाहते हैं । एक दार्शनिक का वह कथन शत प्रतिशत सही है, जिसमें उन्होंने ५ वर्ष की अवधि के बाद शिक्षण हेतु अपने बच्चे को लेकर आने वाली एक माता को कहा था कि बच्चे को विद्या देने की बहुमूल्य अवधि ५ वर्ष तो वह गँवा चुकी । वस्तुतः सुसंतति के निर्धारण हेतु माता-पिता का स्थान भी उतना ही महत्वपूर्ण है, जितना कि जन्मोपरांत निर्धारित अवधि में गुरुकुल पहुँचने पर शिक्षक का ।

बहुमूल्य रत्नों की खदान प्रसिद्ध साहित्यकार पर्लबक ने लिखा है—“यों नई पीढ़ी का स्तर उभारने में सन्तुष्ट समाज का सहयोग अपेक्षित है, पर चूँकि बच्चे नारी के शरीर और मन का बहुत बड़ा हिस्सा लेकर जन्मते हैं, इसलिए उस खदान को विशेष रूप से समुन्नत होना चाहिए, ताकि अगले दिनों संसार को बहुमूल्य रत्न मिल सकें ।

श्रद्धा की पौध बचपन में रोपे गए संस्कार रूपी बीज ही कालांतर में फलित होते एवं चमत्कार दिखाते हैं ।
 माँ ने कहा—“बच्चे, अब तुम समझदार हो गए । स्नान कर लिया करो और प्रतिदिन तुलसी के वृक्ष में जल भी चढ़ाया करो । तुलसी की उपासना की हमारी परंपरा पुरखों से चली आ रही है ।” बच्चे ने तर्क किया—“माँ ! तुम कितनी भोली हो इतना भी नहीं जानती कि यह तो पेड़ है ? पेड़ों की भी कहीं पूजा की जाती है । इसमें समय व्यर्थ खोने से क्या लाभ है ?” “लाभ है मुझे ! श्रद्धा कभी निरर्थक नहीं जाती । हमारे जीवन में जो विकास और बौद्धिकता है, उसका आधार श्रद्धा ही है । श्रद्धा छोटी उपासना से विकसित होती है और यही अंत में जीवन को महान् बना देती है ।”

तब से विनोबा भावे ने प्रतिदिन तुलसी को जल देना शुरू कर दिया । माँ की शिक्षा कितनी सत्य निकली उसका प्रमाण सबके सामने है ।

प्रेम से बदलो आचार्य हरिद्रुमत यज्ञ संचालन के लिए गांधार जा रहे थे । मार्ग में एक ऐसा गाँव मिला, जहाँ के बारे में यह प्रचलित था कि उस गाँव का एक व्यक्ति भी नास्तिक नहीं है । किन्तु यह क्या, जिस समय वे एक गली से गुजर रहे थे, एक गृहस्थ अपने बच्चे को बुरी तरह ताड़ना दे रहा था । गृहस्थ उस समय गुस्से से लाल हो रहा था । हरिद्रुमत के पूछने पर उसने बताया—“महाराज ! नाराज न होऊँ, तो क्या करूँ ? सारे गाँव में यही ऐसा है, जो नास्तिक है, इससे मुझे अपयश मिलता है । आप ही बताइए, क्या किया जाए ?”

“आप इस बालक के साथ और अपेक्षाकृत घनिष्ठ प्रेम कीजिए ।” प्रताड़ना देकर नास्तिकता मिटाने का हरिद्रुमत ने उत्तर दिया और आगे बढ़ गए । पिता और परिवार ने बच्चे को प्रेम दिया—प्रगाढ़ प्रेम, उसी का परिणाम था कि यही बालक आगे चलकर महान् धार्मिक संत उद्दालक ने नाम से विश्व विख्यात हुआ । सही शिक्षण ही श्रेष्ठ व्यक्तित्व का निर्माण करता है ।



पहले स्वयं तो बदलें

यदि माता-पिता का स्वयं का आचरण हेय होगा, तो वे वही तो सीखेंगे, जो वे देखेंगे ।

तो बदलें

एक सात वर्षीय बालक को माँ पीटे ही जा रही थी । पड़ौस की एक महिला ने जाकर बचाया उसे । पूछने पर उसकी माँ ने बताया कि वह मंदिर में से चढ़ाती के आम तथा पैसे चुराकर लाया है, इसी से पीट रही हूँ इसे । उक्त महिला ने बड़े प्यार से उस बच्चे से पूछा—“क्यों बेटा ! तुम तो बड़े प्यारे बालक हो । चोरी तो गंदे बालक करते हैं । तुमने ऐसा क्यों किया ?” बार-बार पूछने पर सिसकियों के बीच से वह बोला—“माँ भी तो रोज ऊपर वाले चाचाजी के दूध में से आधा निकाल लेती हैं और हमसे कहती हैं कि बताना मत । मैंने तो आज पहली बार ही चोरी की है ।” महिला का मुख देखते ही बनता था उस समय । वास्तव में बच्चों के निर्माण में घर का वातावरण बहुत ही महत्वपूर्ण स्थान रखता है । यदि चरित्रवान संतान अपेक्षित है, तो सबसे पहले अपने ही गिरेबान में मुँह झाँकना होगा । माता-पिता की कथनी-करनी एक ही हो, यह जरूरी है, क्योंकि कच्चे मन पर वही संस्कार पड़ते हैं, जो उन्हें प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होता है ।

माता-पिता

की मनःस्थिति

एवं संतति

माता-पिता का चिंतन किस तरह संतति के सृजन को प्रभावित कर सकता है, इसकी साक्षी हेतु कई घटनाएँ उद्धृत की जा सकती हैं । स्पेन के किसी अंग्रेज परिवार में एक बार एक स्त्री गर्भवती हुई । गर्भवती जिस कमरे में रहती थी, उसमें अन्य चित्रों के साथ एक इथोपियन जाति के बहादुर का चित्र उस स्त्री को अति प्रिय था । कमरे में वह उस चित्र को बहुत भावनापूर्ण देखा करती थी । दूसरे काम करते समय भी उसे उस चित्र का स्मरण बना रहता था । अंत में जब उसे बालक जन्मा, तो उसके माता-पिता अंग्रेज होते हुए भी लड़के की आकृति और वर्ण इथोपियनों जैसा ही था । उस चित्र की मुखाकृति से बिलकुल मिलता-जुलता, उसी के अनुरूप था । घरों में भगवान् के, महापुरुषों के चित्र लगाए भी इसीलिए जाते हैं कि उनकी आकृतियों से निकलने वाले सूक्ष्म भावना प्रवाह का लाभ मिलता रहे ।

ऐसी ही एक घटना पिता से संबंधित है । एक अंग्रेज ने किसी ब्राजीली लड़की से विवाह किया । लड़की का रंग साँवला था, पर उसमें मोहकता अधिक थी । पति-पत्नी में घनिष्ठ प्रेम था, पर उन्हें कोई संतान नहीं हुई । कुछ समय पश्चात् वह मर गई । पति को बड़ा दुःख हुआ । कुछ दिन बाद उसने दूसरा विवाह अंग्रेज स्त्री से किया । वह गौरवर्ण की थी, पर इस अंग्रेज को अपनी पूर्व पत्नी की याद बनी रहती थी, इसलिए वह नई पत्नी को भी उसी भाव से देखा करता था । इस स्त्री से एक कन्या उत्पन्न हुई, जो ब्राजीलियन लड़की की तरह साँवली ही नहीं मुखाकृति से भी मिलती-जुलती थी । यह गर्भावस्था में पिता के मस्तिष्क में जमा हुआ पत्नी-प्रेम का संस्कार ही था, जिसके कारण बालिका ने उसका रंग और आकार ग्रहण किया ।

माँ की प्रेरणा

अमेरिका के राष्ट्रपति एंड्रयू जैक्सन की माता को एक जहाज पर नर्स के रूप में अमेरिका जाना पड़ा । तब जैक्सन चौदह वर्ष के थे । माता ने अपने पुत्र को एक संदेश भेजा था, जिसमें लिखा था—“एंड्रयू, यदि मैं जीवित वापस न लौटूँ, जिंदगी भर मेरी एक बात याद रखना—” इस संसार में हर मनुष्य को अपना रास्ता आप बनाना पड़ता है । आगे बढ़ने के लिए सच्चे दोस्तों की जरूरत पड़ती है और वे उन्हीं को मिल सकते हैं, जो स्वयं ईमानदार हैं ।”

पिता का

मार्गदर्शन

पंडित नेहरू बाल विकास पर यथार्थतः विश्वास रखते थे । उनकी बेटी की प्रतिभा का लोहा देश को मानना पड़ रहा है । उसके विकास के लिए वह कितने प्रयत्नरत रहे थे, इसका अंदाज ‘पिता के पत्र पुत्री के नाम’ को पढ़कर लग सकता है । बेटी दूर थी, तब पत्रों द्वारा जो मार्गदर्शन दिया गया, उसकी एक महत्वपूर्ण पुस्तक बन गई । इस उच्चस्तरीय मार्गदर्शन ने ही इंदिरा के विकास में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई ।

स्वाभिमानी

अंगद

श्रेष्ठता की परख वेशभूषा से नहीं होती, न ही आयु से । जैसा विकास बाल्यकाल से संतति का होता है, वैसी ही उच्चस्तरीय उसकी परिणति भी होती है । अंगद की आयु कुल चौबीस वर्ष की थी, जब वे राम के राजदूत बनकर लंकापुरी गए । अंगद को देखकर रावण हैसा और बोला—“लगत है, राम की सेना में कोई दाढ़ी मूँछ वाला विद्वान नहीं, जो एक छोकरे को यहाँ भेजा गया ।” अंगद का स्वाभिमान फड़क उठा । उन्होंने कहा—“भगवान् राम को पता होता कि रावण जैसा विद्वान भी



विद्वता की परख वेश से करता है, तो निःसंदेह यहाँ किसी दड़ियल बकरे को ही भेज दिया गया होता । यदि आप राम के दूत से चर्चा करना चाहते हैं, तो पहले व्यक्ति को उसके गुण, कर्म, स्वभाव से परखना सीखें ।”

दुश्मन की सभा में यह गर्वोक्ति करने वाला अंगद श्रेष्ठ माता-पिता की संतान तो था ही, उसे जो शिक्षण एवं वातावरण मिला, उसने उसे हनुमान जैसा पराक्रमी बना दिया ।

संगीत साधक एक विदेशी मेहमान द्वारा परीक्षा हेतु एक विशेष राग सुनाए जाने की प्रार्थना पर महाराज कृष्णराज ओडियार ने अपने संगीतकारों को वह चुनौती दी । सबको मौन देखकर, उसी समय वहाँ पधारे सुविख्यात संगीतज्ञ चिकरामप्पा को संबोधित करते हुए, उनसे व्यंग्य बाण फेंका—
“क्या हमारे संगीतज्ञों को कंगन और सिंदूर बाँटा जाए ?”

महाराज की यह व्यंग्योक्ति सुनकर संगीतज्ञ का स्वाभिमान फुँकार उठा । उन्होंने धीर-गंभीर स्वर में उनकी चुनौती स्वीकार करते हुए कहा—“महाराज ! इस राग के गाने के लिए बड़ों की क्या आवश्यकता ? मेरा सात साल का शेषणा गाएगा ।” संगीत की लहरियों को वातावरण में विकसित होने वाले इस पुष्प-पादप को उसके कलाकार पिता ने अपने हाथों तीन वर्ष की आयु में ही दीक्षित कर दिया था । बालक शेषणा गाने लगा । सधा हुआ कंठ स्वर, मुग्ध कर देने वाली रसयुक्त स्वर लहरी वातावरण में तैरने लगी । सभी श्रोता चकित से इस बाल कलाकार की कला साधना पर चकित हो उठे । एक समौ बैँध गया । संगीत की समाप्ति पर महाराज अपने आसन से उठे और बालक को अपनी भुजाओं पर उठा लिया । उसे सिंहासन पर अपनी गोद में बिठाकर मूल्यवान शाल के उपहार के साथ-साथ शुभाशीष दी—“हमारी सभा के गौरव की रक्षा करने वाला यह बालक अपने जीवन में यशस्वी संगीतज्ञ बने ।”

कृष्णराज ओडियार की यह शुभकामना साकार होकर रही । यह बालक आगे चलकर विश्वविख्यात गायक बना । बाल्यकाल में मिले शिक्षण ने ही बालक को इस ऊँची स्थिति में पहुँचाया ।

अपंगता माता के शिक्षण से दूर हुई यदि प्रयास-पुरुषार्थ किया जाय, तो अभिभावक क्या नहीं कर सकते । वे अपनी संतान में मनोबल फुँककर उनका कार्याकल्प भी कर सकते हैं ।

इंग्लैंड के ७५ हजार अन्य बच्चों की तरह वेलरी लांग भी मानसिक पक्षाघात से पीड़ित थी । डॉक्टरों ने उसके आजीवन अपंग रहने की भविष्यवाणी कर दी थी । पर हुआ इससे भिन्न एक अजीब आश्चर्य जैसा । उसकी माता अपने मनोविनोद छोड़कर गृहकार्यों से बचा हुआ समय पूरी तरह अपनी बच्ची के साथ लगाती और मस्तिष्क के स्नायु शारीरिक क्रियाओं की संगति जोड़ने के लिए तरह-तरह के प्रयोग करती रही, जबकि अन्य अपंग बालक माता-पिता से भी उपेक्षित और भार रूप रहते हैं ।

यह प्रयास निष्फल नहीं गया । बच्ची ने न केवल मस्तिष्क के साथ शरीर का तारतम्य जोड़ लिया, वरन् वह पढ़ने-लिखने भी लगी । प्रोत्साहन का परिणाम यह हुआ कि उसने एम०ए० कर लिया और एक बड़े पुस्तकालय में पुस्तकालयाध्यक्ष बन गई । रानी ने उसकी प्रगति को देखते हुए विशेष पुरस्कार दिया ।

बुद्ध शरण गच्छामि भगवान् बुद्ध कपिलवस्तु पधारे । यशोधरा का त्याग ही उन्हें इस स्थिति तक पहुँचा पाया था, यह भी उन्हें स्मरण था । वे महल पहुँचे और यशोधरा से पूछा—“यशोधरे ! कुशल से तो हो ?”

“हाँ स्वामी !” चिर प्रतिक्षित स्वर सुनकर यशोधरा का हृदय गद्गद हो उठा । “स्वामी नहीं, भिक्षु कहो यशोधरे ! मैं अपना धर्म निभाने आया हूँ । बोलो तुम कुछ भिक्षा दे सकोगी ?” यशोधरा विचारमग्न हो उठी । “अब क्या बचा है देने के लिए ? अपने दांपत्य की स्मृतियों को छोड़कर और कुछ भी तो नहीं है, जो देने योग्य हो ।” कुछ क्षण तक विचार करते रह कर उसके चेहरे पर निश्चय के भाव उभरे और बोली—“भंते ! अपने पूर्व संबंधों को ही दृष्टिगत रखकर क्या आप भी कुछ प्रतिदान कर सकोगे ?” भिक्षु धर्म की मर्यादा का उल्लंघन न होता होगा, तो अवश्य करूँगा आर्ये !”—बुद्ध ने उत्तर दिया । यशोधरा ने अपने पुत्र राहुल को पुकारा और यथागत की ओर उन्मुख होकर बोली—“तो भगवन् ! राहुल को भी अपनी पितृ-परंपरा निभाने देकर उसे अपना अधिकार पाने दीजिए ।” और फिर राहुल से बोली—“जाओ बेटा ! अपनी पितृ परंपरा का अनुकरण करो । बुद्ध की शरण में, धर्म की शरण में, संघ की शरण में जाओ ।”

राहुल के समवेत स्वरों में गूँज उठा—“बुद्ध शरण गच्छामि” । यशोधरा एवं सिद्धार्थ की श्रेष्ठ संतति राहुल भी



इसी परंपरा में सम्मिलित हो गया जिसे स्वयं सिद्धार्थ-गौतम बुद्ध ने आरंभ किया था । माता को इसमें और भी अधिक श्रेय जाता है जिसने पति के अभाव में भी अपनी संतति को उच्चतम संस्कार दिए ।

अतः पश्चाद् विनिर्मान्ति व्यक्तित्वं गुरुवश्च ते ।
नोपदेशेन पाठ्यैर्वा विषयैः सम्भवेदिदम् ॥ ४३ ॥
गुरुकुलेषु निवासस्याध्यापनस्याऽपि च द्वयोः ।
कार्यं सहैव सम्पन्नं जायते तेन तत्र च ॥ ४४ ॥
ग्रन्थाऽध्यापनमात्रं न जायतेऽपितु विद्यते ।
प्रबन्धस्तत्र शिक्षाया व्यवहारस्य शोभनः ॥ ४५ ॥
सुयोग्यपरिवारस्य भूमिकां निर्वहन्ति ये ।
यत्र वातावृत्तिः स्फूर्तिदाऽस्ति विद्यालयास्तु ते ॥ ४६ ॥

भावार्थ—इसके उपरान्त गुरुजन बालकों का व्यक्तित्व बनाते हैं । यह कार्य मात्र उपदेश या पाठ्यक्रम के सहारे संपन्न नहीं होता । गुरुकुलों में निवास और अध्ययन के दोनों ही कार्य साथ-साथ चलते हैं । इसलिए वहाँ पुस्तक पढ़ाने का ही नहीं, व्यवहार सिखाने का भी प्रबंध किया जाता है । सुयोग्य परिवार की भूमिका जो निभा सकते हैं, जहाँ प्रेरणाप्रद वातावरण होता है, वस्तुतः वे ही विद्यालय कहलाने के अधिकारी हैं ॥ ४३-४६ ॥

कुसंस्कारयुते वातावरणे याति विकृतिम् ।
व्यक्तित्वं बालकानां सा शिक्षा व्यर्थत्वमेति च ॥ ४७ ॥
भौतिकी वर्तते चाल्पं महत्त्वं ज्ञानजं परम् ।
प्रतिभाया महत्वेन युतायास्त्वधिकं मतम् ॥ ४८ ॥

भावार्थ—कुसंस्कारी वातावरण में बालकों के व्यक्तित्व उलटे बिगड़ते हैं । शिक्षा के रूप में जो भौतिक जानकारी प्राप्त हुई थी, वह भी निरर्थक चली जाती है । जानकारी का कम और संस्कारवान् प्रतिभा का महत्त्व अधिक है ॥ ४७-४८ ॥

व्याख्या—माता-पिता बाल्यकाल के प्रारंभिक वर्षों में बालक के विकास हेतु उत्तरदायी हैं, तो गुरु-शिक्षक उनके उत्तरकाल के लिए । यही वह अवधि है, जिनमें मस्तिष्क की पकड़ अत्यंत पैनी होती है । बालक गीली मिट्टी के समान होते हैं । इस समय उन्हें जैसे साँचे में ढाला जाएगा, वैसे ही वे बनेंगे । उनका व्यवहारिक शिक्षण, मानसिक पोषण जैसा होगा, वैसा ही उनका विकास होगा । वस्तुतः गुरुकुल भी एक परिवार संस्था ही है, गुरुजन अभिभावक हैं एवं अन्य साथी भाई-बहन के समान । जो मर्यादाएँ परिवार संस्था पर लागू होती हैं, उन्हीं का परिपालन गुरुकुलों में भी होना चाहिए । पारिवारिक स्नेह, यथोचित सुधार हेतु अंकुश संरक्षण, मार्गदर्शन पाकर व्यक्तित्व समग्र रूप में निखर कर आता एवं श्रेष्ठ नागरिक को जन्म देता है । यदि गुरुकुल मात्र लौकिक जानकारी तक ही सीमित रहें, वातावरण निर्माण की ओर वहाँ ध्यान न दिया जा रहा हो, तो बालकों में संस्कार नहीं विकसित हो पाते ।

संपन्न विद्यालयों तीर्थाटन करते हुए चल रहे छात्रों से एक प्रियवत ने अपने गुरु मुनि मार्कण्डेय जी से पूछा—
की गुरुकुल से “हे गुरुदेव ! जबकि बड़े नगरों में भव्य भवनों वाले विद्यालय मौजूद हैं और उनमें उच्च
तुलना पदवीधारी अध्यापक भी अनेकानेक विषयों को पढ़ाते हैं, साथ ही छात्र भी सजधज के साथ
रहते और अतिरिक्त अनुशासन के प्रतिबंध सहन किए बिना स्वेच्छाचारी सुविधाओं के साथ
अध्ययन करते हैं, तब उन सुविधाओं से बच्चों को वंचित करके विवेकशील लोग भी कष्टसाध्य जीवनचर्या वाले
गुरुकुलों में भेजकर लंबे समय तक उन्हें आँखों से ओझल क्यों रखते हैं ?”

मार्कण्डेय जी ने उत्तर दिया—“भद्र ! विद्या अमृत भी है और विष भी । चरित्रहीन, आदर्शहीन अध्यापकों द्वारा पढ़ाए जाने और अनुपयुक्त वातावरण में पढ़ने के कारण विद्यार्थी उच्छृंखल हो जाते हैं और जिस-तिस प्रकार अर्थोपार्जन के अतिरिक्त व्यक्तित्व की दृष्टि से हीन स्तर के रह जाते हैं । कुसंग का पूरा अवसर रहने के कारण वे

अशिक्षितों की तुलना में अधिक भायाचार अपनाते और ब्रह्मराक्षस स्तर के उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। वातावरण और संगति के अपरिपक्व बालकों पर अधिक दुष्प्रभाव पड़ते हैं। जिस प्रकार कुटिल अभिभावकों के दुर्गुण संतान में आते हैं, उसी प्रकार आदर्शहीन अध्यापक छात्रों पर भी अवांछनीय प्रभाव छोड़ते हैं और उन्हें हेय स्तर का बनाते हैं। विद्या वही सराहनीय है, जो छात्रों के गुण-कर्म-स्वभाव को उत्कृष्ट बनाए, अन्यथा वह मनुष्य को अधिक कुटिल बनाती है। इसी तुलना को दृष्टि में रखते हुए विचारशील लोग कड़ुई, किन्तु हितकारी औषधि की तरह गुरुकुलों को श्रेयस्कर मानते हैं।

उभयपक्षीय

प्रशिक्षण

वैशम्पायन ने अपने गुरुकुल को दो भागों में बाँटा था। एक में छोटे बालक थे, जिन्हें दुलार की अधिक आवश्यकता थी। उन्हें उनकी धर्मपत्नी सुजाता खिलाती, हँसाती और व्यवहार शिक्षा पढ़ाती थी। सामान्य ज्ञान और भाषा परिचय भी इसी विभाग के अंतर्गत चलता था। बालक यह अनुभव करते थे कि उन्हें माता का दुलार मिल रहा है और मन पर कोई भार नहीं पड़ रहा है। बड़े छात्रों को वे प्रायः बाहर प्रवास में अपने साथ रखते थे, ताकि क्षेत्रीय भाषाओं और परंपराओं का स्वरूप समझ कर वे अपना कार्यक्षेत्र व्यापक बना सकें। अपरिचित स्थानों में संपर्क साधने और परायों को अपना बनाने की कला भी वे इसी प्रवास में सीखते थे। धर्मोपदेश सुनने के अतिरिक्त अनेक व्यक्ति अपनी निजी और सामुदायिक परिस्थितियों के समाधान भी पूछते थे। इस प्रश्नोत्तर में सहज ही वरिष्ठ छात्रों को अगणित समस्याओं के कारण और निवारण की जानकारी प्राप्त करने का अवसर मिलता था।

यह वरिष्ठ छात्र ही आगे चलकर अपने-अपने क्षेत्रों में नेतृत्व करने एवं वातावरण बनाने में समर्थ होते थे। सुजाता अपने ढंग से छोटे बालकों का प्रशिक्षण करती थीं और वैशम्पायन अपने ढंग से वरिष्ठ छात्रों की प्रतिभा उभारते थे। दोनों ही विभाग प्रशिक्षण की बहुमुखी आवश्यकताओं को पूर्ण करते थे।

पाणिनि

गुरुकुल की प्रतियोगिताएँ

महर्षि पाणिनि का मुख्य विषय भाषाशास्त्र था। वे अपने गुरुकुल में साहित्य और व्याकरण पढ़ाकर छात्रों को कुशल वक्ता और साहित्य सृजेता बनाते थे। तो भी जीवन के प्रत्येक पक्ष में कुशलता प्राप्त करने का उन्होंने समुचित प्रबंध किया था, जिससे कि उनके छात्र मात्र उपदेशक ही बनकर न रह जाँय। उपदेशकों के लिए भी चरित्र निष्ठा, व्यवहार कुशलता और परिस्थितियों का सामना करने की क्षमता का होना आवश्यक है। पाणिनि प्रतियोगिताओं पर बहुत जोर देते थे। सुलेख, वार्तालाप में मधुरता और व्यवहार में सज्जनता का समावेश इन प्रतियोगिताओं का प्रधान विषय रहता था।

शारीरिक बलिष्ठता और मानसिक साहसिकता के लिए भी वे कोई न कोई आधार दूँद रखते थे और उनमें किससे क्या भूल हुई, किसने किस विशिष्टता का परिचय दिया, इसकी व्याख्या किया करते थे। इन प्रतियोगिताओं ने छात्रों की महत्वाकांक्षा बढ़ायी और वे सभी अपने-अपने घर जाकर अधिक प्रतिवन् सद्गुण हुए।

सुदृढ़ बनाने के लिए कष्टसाध्य जीवन

कौशम्बी के राजा शूरसेन से उनके मंत्री भद्रक ने पूछा—“राजन् ! आप श्रीमंत हैं। एक से एक बढ़कर विद्वानों को राजकुमारों की शिक्षा के लिए नियुक्त कर सकते हैं। फिर इन पुष्प से कोमल बालकों को वन्य प्रदेशों में बने गुरुकुलों में क्यों भेजते हैं ? वहाँ तो सुविधाओं का सर्वथा अभाव है। ऐसी कष्टसाध्य जीवनचर्या में बालकों को धकेलना उचित नहीं।” शूरसेन बोले—“हे भद्रक, जिस प्रकार तपाने से हर वस्तु सुदृढ़ होती है, उसी प्रकार मनुष्य भी कष्टसाध्य जीवनचर्या से परिश्रमी, धैर्यवान, साहसी एवं अनुभवी बनता है। वातावरण का नई आयु में सर्वाधिक प्रभाव पड़ता है। ऋषि-संपर्क और कष्टसाध्य जीवन इन दोनों ही सुविधाओं को हम राजमहल में उत्पन्न नहीं कर सकते, यहाँ तो हम उन्हें विलासी ही बना सकते हैं, अस्तु मोह को प्रधानता न देकर राजकुमारों के उज्ज्वल भविष्य को देखते हुए इन्हें गुरु अनुशासन में रहने के लिए भेजना ही उचित है।”

तर्क और कारणों को समझते हुए भद्रक ने तीनों राजकुमारों को कौशम्बी के ऋषि कुल तक पहुँचाने का प्रबंध कर दिया।

व्यवसाय में भी विद्या अनिवार्य

मृणालवती ने अपने पति विजयगुप्त से कहा—“आर्य ! अब बच्चे बड़े हो गए हैं। इन्हें कच्ची आयु से ही शिक्षा पाने के लिए गुरुकुल भेजना चाहिए। परिवार में रहकर वे यहाँ के

अध्याय प्रथम)



कुसंस्कारी वातावरण में ही सांस लेते रहने और बड़े होने पर अन्य लोगों की तरह स्वार्थी, धूर्त और प्रमादी बनने आरंभिक जीवन ही संस्कारवान बनने का उपयुक्त समय है। उत्तम वातावरण में ही बालक मनस्वी और सच्चरित्र बनते हैं।" विजयगुप्त को बालकों से बहुत मोह था। वे एक क्षण के लिए भी उन्हें आँखों से अलग न करना चाहते थे। साथ खिलाते और साथ सुलाते थे। इसलिए वे उन्हें आँखों से ओझल नहीं करना चाहते थे। उनका मन था बच्चे व्यवसाय सीखें उनका हाथ बँटाएँ और आँखों के सामने ही रहें। सो पत्नी से असहमति प्रकट करने लगे। मृणालवती ने कहा—“आर्य! आपसे कम मुझे बच्चे प्यारे नहीं हैं। माता का हृदय पिता से अधिक कोमल होता है, सो मन तो मेरा भी आप जैसा ही सोचता है, पर हमें बालकों के भविष्य को देखना चाहिए। घर के सब लोग जिन दुर्गुणों से भरे हैं, पड़ोस में जो अशिष्टता अपनाई जाती है, उसी को यह लोग सीखेंगे और व्यवसाय से धन कमाते रहने पर भी अपना स्वभाव बिगाड़ लेंगे और अपने तथा औरों के लिए कष्टप्रद होंगे।”

पति को पत्नी की बात बुद्धिमानी पूर्ण लगी और उनसे दूरदर्शिता अपनाकर उन्हें गुरुकुल के उत्तम वातावरण में शिक्षा के लिए भेजा। लौटने पर वे पैतृक व्यवसाय में कुछ ही दिनों में प्रवीण हो गए और ग्राहकों का मन जीतकर अधिक धन कमाया।

विद्यार्थी की तोता रटंत गुरुकुल में कितने ही विद्यार्थी पढ़ते थे। सब शाम को निकटवर्ती वन से लकड़ी बीनने जाया करते थे। एक छात्र को सर्प दीखा। एक मूर्ख छात्र ने पूछा—“वह कैसा था?” उत्तर में उसने कहा दिया—“हल की फाल के समान।” उसने “हल की फाल के समान वाले” शब्द रट लिए और वह किसी बात का विवरण बताता तो उसी शब्द हल फाल जैसा कह देता। अगले दिनों गन्ना, चूहा, गिलहरी, धान, गाय, हिरन आदि देखकर आया और उनका स्वरूप भी हल की फाल जैसा बताया। गुरु ने उसे समझाया—“तुम विद्या पढ़ने आए हो, तो गिरह की अकल भी लगाओ, तोता रटंत से अपनी मूर्खता मत बढ़ाओ।” शिक्षा और विद्या में यही अंतर है। विद्या में ज्ञान को आत्मसात किया जाता है एवं शिक्षा मात्र बहिर्मुखी जानकारी देती है। आज के शिक्षालयों में हमें विद्या कहीं दिखाई नहीं देती, ज्ञान के भंडागार ग्रंथ तो ढेरों की संख्या में अनेक विद्यार्थी लिए फिरते हैं, पर यह कहीं उनको स्पर्श भी कर पा रही है, ऐसा प्रतीत नहीं होता। ऐसी अव्यावहारिक शिक्षा नीति की परिणति ऐसी ही होती है, जैसी कि चार छात्रों की हुई।

चार अव्यावहारिक ‘विद्वान्’ चार स्नातक अपने विषयों में निष्णात होकर साथ-साथ घर वापस लौट रहे थे। चारों को अपनी विद्या पर बहुत गर्व था। रास्ते में पड़ाव डाला और भोजन बनाने का प्रबंध किया, तर्क शास्त्री आटा लेने बाजार गया। लौटा तो सोचने लगा कि पात्र वरिष्ठ है या आटा। तथ्य जानने के लिए उसने बर्तन को उलटा तो आटा रेत में बिखर गया।

कला शास्त्री लकड़ी काटने गया। सुंदर हरे-भरे वृक्ष पर मुग्ध होकर उसने गीली टहनी को काट लिया। गीली लकड़ी से जैसे-तैसे चूल्हा जला, थोड़ा चावल जो पास में था उसी को बटलोई में किसी प्रकार पकाया जाने लगा। भात पका तो उसमें से ‘खुद-बुद’ की आवाज होने लगी। तीसरा पाक शास्त्री उसी का ताना-बाना बुन रहा था। चौथे ने उबलने पर उठने वाले ‘खुद-बुद’ शब्दों को ध्यानपूर्वक सुना और व्याकरण के हिसाब से इस उच्चारण को गलत बताकर एक डंडा ही जड़ दिया। भात चूल्हे में फैल गया।

चारों ‘विद्वान्’ भूखे सोने लगे, तो पास में पड़े एक ग्रामीण ने अपनी पोटली में से नमक सत्तू निकालकर खिलाया और कहा—“पुस्तकीय ज्ञान की तुलना में व्यावहारिक अनुभव का मूल्य अधिक है।”

कथा उल्टी पड़ी शिक्षा कैसे दी जाय, क्या दी जाय—यह चलते-फिरते निर्णय लेने जैसा विषय नहीं है। इस पर गंभीर चिंतन अनिवार्य है।

किसी एक अमीर के दो संतानें थीं, एक लड़का, एक लड़की। दोनों आराम तलबी और विलासिता के वातावरण में पले, तो वयस्क होते ही उन्होंने व्यसन-व्यभिचार की राह पर सरपट दौड़ना आरंभ कर दिया। बच्चों को कैसे सुधारा जाय, यह प्रश्न अमीर को चिंतित किए हुए था। उपाय पूछने पर मित्रों ने अनेक सुझाव दिए। बहुत सोच विचार के बाद यह निश्चय हुआ कि उन्हें एक महीने तक महर्षि व्यास कृत महाभारत की कथा सुनाई जाय। उसमें धर्म, सदाचार के सभी तत्व मौजूद हैं। कथा का प्रबंध हो गया, दोनों बच्चों ने उसे सुना भी। कुछ दिन बाद

उसका परिणाम देखा-पूछा गया, तो मालूम पड़ा कि लड़का अपने दोस्तों से कहता है कि श्रीकृष्ण भगवान् के जब १६ हजार रानियाँ थीं, तो १०-२० के साथ संबंध रखने में क्या हर्ज है। उसी प्रकार लड़की ने अपनी सहेलियों को बताया कि कुंती कुमारी अवस्था में पुत्र जन्म दे सकती है और द्रौपदी पाँच पति रख सकती है तो हमी कौन बड़ा अनर्थ कर रहे हैं।

सुधार प्रयत्नों पर फिर विचार हुआ और यह निष्कर्ष निकाला गया कि कथा-श्रवण की धर्म-चर्चा अपर्याप्त है। दृष्टिकोण बदलने के लिए ऐसा प्रभावी वातावरण होना चाहिए जहाँ चर्चा और क्रिया में उत्कृष्टता का समुचित समन्वय हो। अगले कदम उसी आधार पर उठाए गए और वे सफल भी हुए।

जीवक की परीक्षा आदर्श शिक्षक मात्र अध्ययन ही नहीं करते, छात्र को उस विद्या में ऐसा पारंगत कर देते हैं कि वह स्वर्ण बनकर निखर उठता है। तक्षशिला विश्वविद्यालय में सात वर्ष तक आयुर्वेद पढ़ने के उपरांत आचार्य बृहस्पति ने जीवक की परीक्षा लेकर विदा करने का मुहूर्त निकाला। उनमें हाथ में खुरपी देकर कहा-“एक योजन की परिधि में एक ऐसी वनस्पति खोजकर लाओ, जो औषधि के काम न आती हो।” जीवक एक सप्ताह तक घूमे और लौटने पर बोले-“गुरुदेव! एक भी ऐसी वनस्पति नहीं मिली, जो औषधि के काम न आती हो।” बृहस्पति ने अपने शिष्य को गले लगा लिया व कहा-“वत्स! तुम सफल रहे। जाओ अब आयुर्वेद का प्रकाश दिग्-दिगंत में फैला दो।”

पिछला मिटने पर नया विलासिता के वातावरण में पले छात्र पर शिक्षक को दुहरी मेहनत करनी पड़ती है। एक बार भगवान् बुद्ध के पास श्रेष्ठ पुत्र सुमंत और श्रमिक पुत्र तरुण ने एक साथ प्रव्रज्या ली। दोनों ही भावनापूर्वक संभाराम के अनुशासनों का पालन करने लगे। कुछ माह बाद प्रगति सूचना देते हुए प्रधान भिक्षु ने बतलाया-“सुमंत तरुण की अपेक्षा अधिक स्वस्थ तथा पढ़ा-लिखा योग्य है। भावना भी उसकी कम नहीं। किन्तु सौंपे गए कार्यों और साधना की उपलब्धियाँ तरुण की सुमंत से श्रेष्ठ हैं, यह कारण समझ में नहीं आता।”

तथागत बोले-“सुमंत अभी जंग लगे लोहे के समान है। जंग छूटने में अभी समय लगेगा।” प्रधान भिक्षु प्रश्नवाचक दृष्टि से देखते रह गए। भगवान् ने स्पष्ट किया-“उसका लंबा जीवन आलस्य-प्रमाद में बीता है। इस कारण व्यक्तित्व जंग लगे औजार जैसा हो जाता है। तरुण ऐसा उपकरण है, जिसमें जंग नहीं लगी है, इसलिए तुरंत फल पा रहा है। सुमंत की पर्याप्त साधना उसकी जंग छुड़ाने में खर्च हो जाएगी, तब अभीष्ट परिणाम निकलने लगेंगे।”

सही प्रशिक्षण का सही मार्ग शिक्षाशास्त्री कौशियस टार्च ने सरकारी शिक्षण क्रम से निराश होकर एक निजी विद्यालय खोला, जिसमें आधा समय जीवन को प्रगतिशील बनाने और व्यावहारिक शिक्षा के लिए और आधा पुस्तकीय ज्ञान के लिए रखा। विद्यालय से निकले सभी छात्र अपने जीवन में असाधारण प्रगति कर सकें, अस्तु उनमें अध्यापक भी ऐसे रखे, जो जीवन व्यवहार के स्वयं अभ्यस्त हों, भले ही उनका पुस्तकीय ज्ञान कम हो।

बाल शिक्षा विशेषज्ञ कमीनियस मोराविया के एक निष्कटवर्ती गाँव में जन्मे कमीनियस किसी प्रकार गाँव की पाठशाला में पढ़े और ज्यों-त्यों करके कॉलेज की पढ़ाई भी पूरी की, पर इन विद्यालयों का वातावरण उन्हें तनिक भी पसंद नहीं आया। उनमें तोता रटंत तो बहुत थी, पर स्वच्छता, स्वास्थ्य, शिष्टाचार, सहयोग, समाज, चरित्र जैसे विषयों पर न गंभीर शिक्षण दिया जाता था और न उन मानवोचित विशिष्टताओं का अभ्यास कराया जाता था। यह अभाव उन्हें बुरी तरह खटका। उन्होंने वयस्क होते ही शिक्षा समस्या पर गंभीर विचार और परामर्श देने शुरू किए। शिक्षण संस्थाओं से संपर्क साधा और सरकार को भी इस हेतु किसी कदर सहमत करने में सफलता पायी। वे पोलैंड, स्वीडन, इंग्लैंड, इटली, हंगरी आदि देशों में ठहर-ठहर कर समय बिताते रहे। स्थानीय परिस्थितियों के अनुरूप बालकों के लिए, अभिभावकों के लिए और शिक्षण संस्थाओं के लिए साहित्य-सृजन करते रहे। उनकी पुस्तकों से शिक्षा जगत को उपयुक्त मार्गदर्शन मिला। इस प्रकार एक महान् उद्देश्य के लिए प्रयास करने में जीवन खपाकर संतोषपूर्वक दिवंगत हो गए।



स्वावलंबी शिक्षा के आंदोलनकर्ता —जान दैनरिक

स्विट्जरलैंड के म्यूनिख नगर में 'जान दैनरिक' जन्मे । अन्य विद्यार्थी संपन्न घरों के थे । इसलिए वे मनमाना खर्च भी करते थे और भावी जीवन के लिए अधिक धन कमाने की योजनाएँ बनाते थे, पर दैनरिक पर एक ही धुन सवार थी कि उनके जैसे गरीब परिवार को गरीबी, बेरोजगारी की मार से कैसे बचाया जा सकता है । इसके लिए उन्हें कुटीर उद्योगों की बात ही जँचती थी । इस संबंध में उस देश की तत्कालीन परिस्थितियों में क्या किया जा सकता है, इस पर वे बहुत सोचते, अध्यापकों तथा विशेषज्ञों से पूछते, पुस्तकें पढ़ते । उन्हें एक नई सनक में उलझा हुआ देखकर सहपाठी उन्हें सनकी कहकर व्यंग्य किया करते थे । थोड़ा वयस्क होते ही उनसे कुटीर उद्योगों का एक छोटा स्कूल 'स्टेज' गाँव में खोला । उसमें सफलता मिलने पर 'वर्ग ड्राफ्ट' और 'यवर्डन' में भी ऐसी ही संस्थाएँ खोलीं, जिसमें गरीब छात्र कुछ समय श्रम करके अपनी शिक्षा के लिए आवश्यक उपार्जन कर लेते थे । आगे चलकर उनकी योजना बहुत बढ़ी और धनिकों तथा विशेषज्ञों की सहायता से वह शुभारंभ व्यापक हुआ । जान दैनरिक ने स्वावलंबी शिक्षा पर बहुत कुछ लिखा भी है ।

वातावृत्तिः करोत्येतत्कार्यं सम्पन्नमञ्जसा ।
मात्रमध्यापकस्त्वेतन्न कर्तुं प्रभवेदिह ॥ ४९ ॥
शिक्षणेन महत् कार्यं परमध्यापको भवेत् ।
स्वभावेन चरित्रेण व्यवहारेण चोच्चगः ॥ ५० ॥
काले सोऽध्यापनस्यात् पाठयत्येव नो परम् ।
अभिभावकदायित्वं तदा निवर्हति स्वयम् ॥ ५१ ॥
दायित्वमेतद् यो यावन्निरवहद् वस्तुतस्तु सः ।
अधिकारी गुरुत्वस्य वर्तते धन्यजीवनः ॥ ५२ ॥

भावार्थ—यह कार्य विद्यालय का वातावरण ही सरलता से संपन्न करता है । अकेला अध्यापक मात्र प्रशिक्षण के सहारे इतना महान् कार्य संपन्न नहीं कर सकता । अध्यापक को अपना स्वभाव, चरित्र और व्यवहार भी उच्चस्तरीय रखना चाहिए, क्योंकि अध्यापन—काल में वह मात्र पढ़ाता ही नहीं, अभिभावकों और परिवार वालों की भी जिम्मेदारी निभाता है । इस जिम्मेदारी को जो, जितनी अच्छी तरह निभा सके, वही सच्चे अर्थों में गुरुजन कहलाने का अधिकारी है तथा उसका जीवन धन्य है ॥ ४९-५२ ॥

व्याख्या—वर्तमान मान्यता विद्यालयों की मात्र इतनी है कि पुस्तकों से लदकर वहाँ तक जाया जाय, समय क्षेप करके बच्चों के शाम को वापस लौटते ही अध्यापक एवं अभिभावक अपने कर्तव्यों की इतिश्री समझ लें । दोनों के ही रुचि न लेने एवं अभीष्ट वातावरण न बनने के कारण ही शिक्षा का स्तर नित्य गिरता जाता है । लौकिक शिक्षा की पदवी प्राप्त छात्रों की संख्या नित्य बढ़ती जा रही है । कहीं श्रेष्ठ विद्यार्थी नाम भर को दिखाई देते हैं । जो हैं, वे स्वयं के पुरुषार्थ से अथवा अपनी जन्मजात विलक्षण प्रतिभा के बलबूते ऊँचे उठे होते हैं ।

यहाँ ऋषि श्रेष्ठ कात्यायन संकेत करते हैं कि छात्र निर्माण हेतु जितनी बड़ी जिम्मेदारी अभिभावकों की एवं श्रेष्ठ वातावरण की है, उच्चस्तरीय शिक्षण की है, उससे भी अधिक स्वयं शिक्षक की है । उन्हें व्यक्तिगत जीवन में श्रेष्ठ चरित्र वाला एवं मातृ हृदय संपन्न होना चाहिए । पढ़ाना, विद्या को छात्र के अंदर तक उतार देना जितना जरूरी है, उतना ही अपने चरित्र से शिक्षण देना भी । शिक्षक का यह नैतिक दायित्व है कि वे पहले स्वयं वैसा बनें, जैसा वह छात्रों से अपेक्षा रखते हैं ।

आदर्श गुरुकुल— आदर्श शिष्य

ऋषि आयोद धौम्य के गुरुकुल में पारस्परिक सद्भाव सहयोग का विशेष प्रशिक्षण दिया जाता था । जिन छोटे छात्रों से पाठ याद न होता और सोचा हुआ कार्य पूरा न कर पाते, उन्हें बड़े छात्र दौड़कर उनकी कठिनाई का समाधान करते । गुरुदेव तक शिकायत पहुँचाने का अवसर ही न आता । सारी व्यवस्था सुनियोजित चलती रहती और उनका समाधान का उपक्रम भी न करना पड़ता ।

उन्हें संदेह हुआ कि कहीं छात्र आलस्य प्रमाद तो नहीं बरत रहे हैं। सो उनने एक-एक करके सभी को बुलाया और प्रगति का लेखा-जोखा लिया। पता चला कि बड़े, छोटों की सेवा-सहायता करते हैं और छोटे-बड़ों के प्रति कृतज्ञता भाव रखते हुए उनका सम्मान करते तथा परामर्श मानते हैं। इसी कारण समूचे गुरुकुल का समुचित विकास हो रहा है और पूरा छात्रावास एक भावभरा परिवार बन गया है। आयोद धौम्य को बड़ा संतोष हुआ उनने प्रशंसा की और प्रोत्साहन दिया। छात्रों का उत्साह बढ़ा। शिक्षा पूरी करके जब छात्र विदा होने लगे, तो उनने गुरु दक्षिणा माँगने का गुरुदेव से अनुरोध किया। आयोद धौम्य ने कहा—“तुममें से जिनकी भी स्थिति और रुचि अध्यापन में हो, वे यहाँ से जाकर अपने-अपने निवास स्थानों में विद्यालय चलायें। विद्या ही सच्चा धन है। उनके दान का पुण्य साधन दान की तुलना में अत्यधिक है।” समर्थ छात्रों ने गुरु दक्षिणा चुकाने के लिए वही किया और यशस्वी हुए।

दार्शनिक

अरस्तू-एक आदर्श गुरु

मेसीडोन में जन्मे महान् दार्शनिक अरस्तू का लक्ष्य अपने शिक्षण को सदाचरण तक सीमित न रखकर मनुष्य को नेतृत्व की क्षमता से सुसंपन्न बनाने का था। अतिमानव महापुरुष गढ़ने की उनकी ललक थी। उनके संपर्क में जो भी आया उसे मात्र सदाचारी बनाकर संतोष न किया, वरन् पराक्रम उभारने का प्रयत्न किया। वे कहते थे कि पराक्रमी ही अपना और दूसरों का भला कर सकते हैं। बिगड़ी हुई परिस्थितियों को बनाने की क्षमता उन्हीं में होती है। जन साधारण उनके पीछे चलता है। अरस्तू के संपर्क में कम ही लोग आते थे। वे स्वर्णकार की तरह उपयोगी धातु देखकर ही आभूषण बनाने का श्रम करते थे। अपने जीवनकाल में उन्होंने अगणित पराक्रमी गढ़े।

उस देश का राजा बड़ा महत्वाकांक्षी था, पर कुछ व्यवस्थित योजना न बन पाने और साधन न जुट पाने के कारण कुछ न कर सका। उसने अपने पुत्र फिलिप को अरस्तू के सुपुर्द किया और अपने सपने इस माध्यम से पूरा करने का विचार किया। फिलिप ही बड़ा होने पर सिकंदर कहलाया। उसका विचार विश्व में चक्रवर्ती शासन स्थापित करने का था। इसलिए वह आजीवन प्रयत्न करता रहा। सिकंदर की योजनाएँ अरस्तू के परामर्श से ही बनती थीं।

गुरु कैसे हों ? परमात्म तत्व की प्राप्ति के लिए उपनिषद्कार ने सूत्र दिया है—“तद् विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्” अर्थात्, उसे ‘जानने के लिए जिज्ञासु व्यक्ति गुरु के पास जाय। कैसे ? उसी सूत्र में संकेत है—“समित्पाणिः श्रोत्रियं, ब्रह्मनिष्ठम्।” गुरु के पास हाथ में समिधा लेकर, शिष्ट भाव से नम्रभाव से जाय। भाव है—“समिधा अग्नि पकड़ती है। गुरु के पास ज्ञान ज्योति है। साधना समिधा जैसी पात्रता लेकर जाए।” कैसे गुरु के पास ? जो ‘श्रोत्रिय’—अर्थात्, ज्ञान से श्रुतियों का ज्ञाता हो उनका तत्व समझता हो और ‘ब्रह्मनिष्ठम्’ अर्थात्, आचरण से ब्रह्मनिष्ठ हो। ब्रह्म अनुशासन को समझता भी हो और उसका पालन करने की निष्ठा क्षमता भी रखता हो। ऐसा संयोग जहाँ बनेगा, परमात्म तत्व की प्राप्ति अवश्य होगी।

शिष्य के विवेक की परीक्षा

संत तुकाराम जी को लगन लगी। उन्हें प्रभु कृपा से सद्गुरु मिले। मंत्र दीक्षा दी। तुकाराम जी ने कहा—“गुरुवर ! दक्षिणा क्या दूँ ? गुरु बोले पावभर तूप दे दे।” महाराष्ट्र में ‘तूप’ का अर्थ घी होता है। तुकाराम एक पाव घी देकर छुट्टी पा सकते थे। पर सोचा ‘तूप’ शब्द का ही प्रयोग क्यों किया, ‘घी’, ‘घृत’ आदि क्यों नहीं कहा। तुकाराम जी मानसिक उधेड़बुन में थे गुरु मंद-मंद मुस्करा रहे थे। शिष्य के विवेक और समर्पण भाव की परीक्षा थी। तुकाराम ने गुरु की मुख-मुद्रा देखी। समझ गए अर्थ कुछ गूढ़ ही है। अर्थ किया तू प, अर्थात् ‘तेरापन’। मेरेपन का अभिमान गुरु माँगते हैं। एक पाव घी के साथ भाव संकल्प कर दिया, अभिमान छोड़ने का। संत तुकाराम की निरभिमानिता उन्हें वहाँ तक उठा ले गई, जहाँ संदेह स्वर्ग ले जाने के लिए विमान भेजा गया। यह विवेकपूर्ण गुरुदक्षिणा ही फलित हुई थी।

आदर्श गोखले

परिवार

शिक्षा हेतु सुविधा, संरक्षण एवं मार्गदर्शन देने वाले जो भी हों, मित्र, संबंधी अथवा गुरुजन अपना उत्तरदायित्व निबाहने के कारण स्वयं धन्य बनते हैं एवं श्रेष्ठ व्यक्ति समाज को दे जाते हैं। गाँधी जी के राजनैतिक गुरु देशमान्य गोपालकृष्ण गोखले बचपन में बहुत गरीब थे। जैसे-तैसे स्कूल की शिक्षा समाप्त करने के बाद जब कॉलेज की पढ़ाई का समय आया, तो खर्च का प्रश्न उपस्थित हुआ। गोखले के बड़े भाई गोविंदराव को अपने छोटे भाई की योग्यता और प्रतिभा पर पूरा विश्वास था। उन्होंने कहा—“मैं मेहनत-मजदूरी करके भी छोटे भाई को अवश्य पढ़ाऊँगा।” बड़े भाई की पत्नी ने देवर के लिए अपने गहने

तक बेचकर प्रारंभिक फीस आदि का प्रबंध किया और उन्हें राजाराम कॉलेज कोल्हापुर में दाखिल कर दिया। बड़े भाई गोविंदराव उस समय १५) रुपये प्रतिमास कमाते थे। उसमें से ७) रुपये वे छोटे भाई को मासिक खर्च के लिए नियमित रूप से भेज देते थे। गोखले इन रुपयों में बड़ी कफायतदारी से अपना निर्वाह करते थे। बी०ए० हो जाने पर गोखले जी को ३५) रुपये मासिक पर एक स्कूल में अध्यापक की नौकरी मिल गई। इस वेतन में से वे प्रतिमास २) रुपये अपने भाई को नियमित रूप से भेजने लगे। वे जीवन भर अपने भाई-भाभी के त्याग और उपकार को नहीं भूलें थे। ऐसे थे श्री गोपालकृष्ण गोखले एवं उनके भाई जिन्होंने परस्पर एक-दूसरे के प्रति अपना धर्म पूरी तरह निभाया।

सफलता का रहस्य एक व्यक्ति बाण बनाने की विद्या में पारंगत था। उसके बनाए बाण अद्भुत होते थे। इस कला को सीखने एक लुहार उसके पास पहुँचा। उसने पास बैठकर गंभीरता से उसकी कार्य पद्धति देखने के लिए कहा। एक बारत सामने की सड़क से गाजे-बाजे के साथ निकली। विद्यार्थी ने उसका विवरण सुनाया। बाण बनाने वाले ने कहा-“न तब मुझे देखने की फुरसत थी और न अब सुनने की। समग्र तत्परता और अभिरुचि के साथ काम करना, यही उसे अद्भुत बना लेने का रहस्य है। सीखने वाला समझ गया और एकाग्रता का अभ्यास करने लगा। जितनी सफलता मिली उतने ही उत्तम बाण बनने लगे।

यही आदर्श हर विद्या व्यसनी पर भी लागू होता है। शिक्षण हेतु सूत्र कहीं से भी मिलें, उसे स्वीकार किया जाना चाहिए।

पढ़ाई पूरी होते ही स्कूल खोला दक्षिण अफ्रीका के एक नीग्रो परिवार में जन्मे लड़के का नाम था बुकर टी० वाशिंगटन। उन दिनों काले दासों को सोलह-सोलह घंटे काम करना पड़ता था और खाने पहनने की कोई सुविधा न थी। बच्चे ८-१० वर्ष के होते ही काम में जोत दिए जाते। इन्हीं दुर्भाग्यग्रस्तों में बुकर भी था। बच्चे की इच्छा पढ़ने की हुई। काले लोगों के लिए ५९० मील दूर कनवा नगर में एक स्कूल था। पैसा नहीं था। इतनी दूर कैसे जाया जाय। वह रास्ते में मेहनत मजुरी करता पैदल चलता वहाँ तक जा पहुँचा। बड़ी कठिनाई से प्रवेश मिला। पर उसने पढ़ने में उतना ही श्रम किया जितना मालिकों के यहाँ करना पड़ता था।

ग्रेजुएट होने के उपरांत उसने नौकरी की इच्छा नहीं की। वरन् अपने समुदाय के लिए पढ़ाई की व्यवस्था करने में जुट पड़ा। उसने एक-एक पैसा करके धन संग्रह किया। आज उसके स्कूल में ११०० विद्यार्थी पढ़ते हैं। यह सारा प्रयास उस अकेले के पुरुषार्थ का ही प्रतिफल है।

विनोबा के सहायक बल्लभ स्वामी आश्रम व्यवस्था का शिक्षण ही महामानवों की पृष्ठभूमि बनाता है। सन् १९२०-२१ में गांधी जी साबरमती आश्रम में राष्ट्रीय शिक्षण प्रक्रिया का प्रयोग बड़े उत्साह पूर्वक चला रहे थे विनोबा उसके इंचार्ज थे। प्रतिभावान विद्यार्थी तलाश किए जा रहे थे, जो पढ़ने के बाद देश के काम आएँ। इन्हीं छात्रों में से एक बल्लभ भाई भी थे, जो आगे चलकर बल्लभ स्वामी के नाम से प्रख्यात हुए। इन्हीं दिनों आंदोलन और शिक्षा कार्यक्रम को अलग रखने के लिए वर्धा में आश्रम बना। विनोबा छात्रों को लेकर वहाँ चले गए। इन छात्रों में सबसे प्रतिभावान थे-बल्लभ स्वामी। उनने विनोबा के प्रमुख सहायक के रूप में छोटी आयु होते हुए भी बहुत कुछ उत्तरदायित्व सँभाला।

वर्धा आश्रम की प्रवृत्तियाँ दिन-दिन बढ़ती गईं और बल्लभ स्वामी आगे बढ़कर उन सबमें हाथ बँटते रहे। जो भी काम उन्हें सौंपा गया, बड़ी तल्लीनता से उसे पूरा कर दिखाया। सर्वोदय की कार्य पद्धति का शिक्षण चला और उसका देशव्यापी विस्तार हुआ। सर्व सेवा संघ की स्थापना हुई। उसके प्रथम अध्यक्ष स्वामी जी बने और उसके द्वारा गांधीवादी साहित्य का सुविस्तृत प्रकाशन हुआ। विनोबा के भूदान यज्ञ के प्रवास की समुचित व्यवस्था बनाना उन्हीं के जिम्मे था। एक उत्तरदायी, प्रामाणिक एवं प्रतिभावान कार्यकर्ताओं ने उस समय के रचनात्मक कार्यकर्ताओं का हृदय जीत लिया। ५८ वर्ष की आयु में ही वे इस संसार को छोड़ गए, किन्तु उनकी आत्मा अपने कार्य से पूरी तरह संतुष्ट थी।

हंसराज जी की समानांतर शिक्षण प्रणाली परंपरा से बँधी शिक्षण प्रणाली को तोड़ना भी एक बहुत साहस भरा पुरुषार्थ है। मनोबल के धनी व्यक्ति आदर्श स्थापित करने हेतु सब कुछ बाजी पर लगा देते हैं। अंग्रेजी सरकार को अपने पिटू अंग्रेजी स्कूल कॉलेजों में ही मिल रहे थे। कोई और समानांतर शिक्षा संस्थान न होने के कारण छात्रों को मजबूरी में वहीं पढ़ना पड़ता था।

विद्यार्थी हंसराज ने इस समस्या के समाधान के लिए भारतीय संस्कृति के अनुरूप छोटे-बड़े स्तर के विद्यालय स्थापित करने का निश्चय किया। डी० ए० व्ही० स्कूल कॉलेजों के अतिरिक्त गुरुकुल शिक्षा प्रणाली का नया दौर आरंभ हुआ। ग्रेजुएट होने के उपरांत हंसराज जी महात्मा हंसराज हो गए और शिक्षा संस्थाएँ खोलने, खुलवाने शिक्षा देने और उन्हें सुनियोजित करने में उनका सारा समय लगता। वे अपने वतन लाहौर तो कभी-कभी ही जाते थे। प्रयोजन की पूर्ति के लिए निरंतर उत्साही लोगों से संपर्क साधने हेतु परिभ्रमण ही करते रहे थे। भारतीयतामय उनके प्राण थे। गुरुकुल ज्वालापुर (हरिद्वार) उन्हीं की स्थापनाओं में से एक है।

स्वामी रामकृष्ण परमहंस कहते थे-

“दीपक के नीचे अँधेरा ही रहता है। उसका प्रकाश दूर पड़ता है। इसी प्रकार साधु महात्माओं को उनके आस-पास वाले लोग समझ नहीं सकते, दूर रहने वाले उनके भाव से मुग्ध हो जाते हैं।”

“यदि आत्महत्या करनी हो तो एक निहानी ही पर्याप्त होती है, पर दूसरे को मारने के लिए ढाल-तलवार की आवश्यकता होती है। इसी प्रकार लोक शिक्षा देनी हो, तो बहुत से शास्त्र पढ़ने पड़ते हैं और अनेक तर्क युक्तियों से विचार करके समझाना पड़ता है, परंतु खुद को धर्म लाभ केवल एक बात पर विश्वास करने से ही हो सकता है।”

ज्ञानात् पुस्तकसम्बद्धादतिरिक्तं च कौशलम्।

व्यवहारसमुद्भूतं स्वभावः श्रेष्ठतां गतः ॥ ५३ ॥

तयोर्निर्मितये भाव्यं वातावृत्याऽनुकूलया।

निर्देशेन तथाऽनेकैः साधनैरपि संततम् ॥ ५४ ॥

विशेषताभिरेताभिर्युता शिक्षणपद्धतिः।

यत्नाऽऽस्ते तत्र ये बाला पुष्टिं यान्ति पठन्त्यपि ॥ ५५ ॥

प्रगतिं सार्वभौमां ते सन्ततं यान्ति च क्रमात्।

जीवने चाऽन्यमर्त्यानां कृते प्रामाणिकाश्च ते ॥ ५६ ॥

परिवाराद् भूमिका सा प्रारब्धा सन्ततं चलेत्।

विद्यालयस्य कैशोर्यं यावदत्येति बालकः ॥ ५७ ॥

प्रौढतां परिपक्वत्वं गृह्णात्येव च नो यदा।

तदैव ज्ञेयं बालस्य जाता निर्मितिरुत्तमा ॥ ५८ ॥

भावार्थ-पुस्तकीय ज्ञान के अतिरिक्त व्यवहार, कौशल और श्रेष्ठता-संपन्न स्वभाव बनाने के लिए तदनुरूप वातावरण, मार्गदर्शन एवं साधन भी होने चाहिए। ऐसी विशेषताओं से युक्त शिक्षण पद्धति जहाँ है, वहाँ पढ़ने, पलने और बढ़ने वाले बालक सर्वतोन्मुखी प्रगति करते हैं तथा जीवन में अन्य लोगों के लिए प्रमाण बनते हैं। अस्तु, घर-परिवार से विद्यालय की भूमिका आरंभ होकर तब तक चलती रहनी चाहिए, जब तक कच्ची आयु पार करके प्रौढ़ता-परिपक्वता की भूमिका न निभाने लगे। जब ऐसा हो जाय, तब समझना चाहिए कि बालक का निर्माण हो गया ॥ ५३-५८ ॥

व्याख्या-जीवन बहुरंगी है। यहाँ तरह-तरह की परिस्थितियों से, भिन्न-भिन्न मनःस्थिति के व्यक्तियों से निरंतर पाला पड़ता रहता है। जीवन संग्राम में सफल होने के लिए व्यक्ति को व्यवहार कुशल होना अत्यंत अनिवार्य है। इस विधा का शिक्षण किसी विद्यालय में अलग से नहीं दिया जाता, अपितु समग्र शिक्षण पद्धति ही ऐसी होती है, जिससे उससे जुड़ने वाले छात्र सर्वांगपूर्ण विकास कर सकें। शिक्षण तभी समग्र माना जा सकता है, जब बच्चे को परिवार संस्था से लेकर गुरुकुल तक निरंतर इसी प्रकार मार्गदर्शन मिलता रहे। एक बार मनःस्थिति के साँचे में ढलने पर वह जीवन का एक अंग बन जाती है। तब यह प्रयास-पुरुषार्थ सफल हुआ माना जा सकता है।

महर्षि आरुणि का

महाविद्यालय

महर्षि आरुणि मेधावी छात्र थे। उनसे कड़े अनुशासन में व्यक्तित्व के विकास की शिक्षा पाई थी। वे शिक्षण काल में ही यह सोचते रहे कि प्रतिभाओं का विकास ही समय की

अध्याय प्रथम)

(२९

आवश्यकताओं को पूर्ण कर सकता है। मात्र भाषा-ज्ञान एवं सामान्य-ज्ञान से दैनिक उपार्जन संबंधी प्रयोजन ही पूरे हो सकते हैं। अर्थकारी शिक्षा पाकर लोग सुविधा साधन तो प्राप्त कर सकते हैं, पर महान नहीं बन सकते। अस्तु, उनसे आरंभिक संस्कारों की परीक्षा लेकर ही अपने विद्यालय में भर्ती का नियम बनाया। सभी स्तर के छात्रों को उनके यहाँ प्रवेश की सुविधा न थी।

आरुणि पुरातन पुराण इतिहासों से मात्र भले-बुरे निष्कर्ष निकालने भर का प्रयोजन पूरा करते थे। समय की समस्याओं एवं आवश्यकताओं का स्वरूप, कारण और निराकरण समझाना उनका प्रधान विषय था। उनके यहाँ पक्ष और विपक्ष का तुलनात्मक अध्ययन कराया जाता था, जिनसे कि वे प्रतिपक्षियों की सहायता करने में समर्थ हो सकें। उन दिनों उच्चस्तरीय महाविद्यालय थोड़े ही थे, जिनमें प्रतिभावानों को ऊँची भूमिका निभाने के योग्य बनाया जा सके। ऐसे थोड़े छात्र ही अपना और समाज का भारी हित साधन करते थे।

सत्यकेतु की महर्षि सत्यकेतु जिस गुरुकुल में पढ़े थे, उसमें पुस्तकें कम पढ़ाई जाती थीं, पर व्यावहारिक ज्ञान **स्वावलंबी** अर्जित करने और प्रतिभा का विकास करने पर अधिक जोर दिया जाता था। लौटने पर उनसे **शिक्षा** अन्य कार्यों में संलग्न होने की अपेक्षा वैसा ही गुरुकुल चलाने का निश्चय किया। छात्रों का आधा समय बौद्धिक शिक्षा के लिए और आधा व्यावहारिक ज्ञान के लिए रखा। सभी छात्रों को थोड़ी-थोड़ी भूमि देकर उत्तम कृषि करने में लगाया और साथ ही गोपालन का काम भी सौंपा। इस प्रतिस्पर्धा में सभी छात्र अपनी कुशलता का परिचय देते और अधिक उत्पादन में एक-दूसरे से आगे रहने का प्रयत्न करते।

गुरुकुल स्वावलंबी बना, छात्र अपने श्रम से निर्वाह करने में प्रवीण हो गए और उनका आत्मविश्वास बढ़ा। दिनचर्या को नियमित और व्यवहार को सज्जनोचित बनाने की कला में प्रवीण होकर उनके छात्र घर लौटते ही अपने परिवार में ज़ेह सहयोग की धारा बहा देते। शारीरिक स्वस्थता और आर्थिक संपन्नता की दृष्टि से वे अपेक्षाकृत अधिक सफल रहते और उनकी सर्वत्र प्रशंसा होती।

गुरुकुल का गुरु आश्रम में बारह वर्ष पढ़ने के उपरांत जब धौम्य घर लौटे, तो उनकी प्रतिभा असाधारण थी। **छात्र मंत्री** नगर के विद्यालयों में पढ़ने वाले और घर पर अध्यापक बुलाने वाले छात्रों को पुस्तकीय जानकारीयों तो थीं, पर उन गुणों का एक प्रकार से अभाव ही था, जिनके कारण व्यक्तित्व उभरते हैं और प्रतिभा का निखार होता है। धौम्य ने भी अपना गुरुकुल आरंभ कर व्यावहारिक **बना** स्वावलंबन प्रधान शिक्षा आरंभ की।

नगर के संप्रदाय लोगों ने सभी छात्रों को बुलाया और उनसे विभिन्न परिस्थितियों का सामना करने संबंधी प्रश्न पूछे। उन्हें वैसे अवसर ही न मिले, इसलिए कुछ भी उत्तर न दे सके। किन्तु गुरु सान्निध्य में रहकर जिनने प्रश्नोत्तरों के माध्यम से शिक्षा पाई थी तथा छात्र परिवार के साथ रहकर परिवार संरचना का ज्ञान सीखा था, धौम्य का शिष्य सत्यमित्र सर्वोच्च निकला। उसे पुरस्कृत किया गया। भविष्य में वह राजा का मंत्री बना।

कुल गुरु और भगवान राम के कुल गुरु वशिष्ठ थे। पर उन्हीं के समकालीन गायत्री (आत्मिकी) और सावित्री **विद्या गुरु** (भौतिक) के निष्णात विश्वामित्र भी थे। विश्वामित्र यज्ञ रक्षा के बहाने राम-लक्ष्मण को अपने आश्रम में ले गए और उपरोक्त बला-अति बला विद्याओं का अभ्यास कराया। उन उपलब्धियों के आधार पर वे असुर निकंदन और मर्यादा पुरुषोत्तम कहलाए और राम-राज्य की नवयुग स्थापना में समर्थ हुए।

शिक्षा के अकबर ने १४ साल की उम्र में शासन सँभाला और उसे औरों की अपेक्षा अधिक सफलता के **बहाने पुरुषार्थ** साथ चलाया। संरक्षक लोग उसका समय पढ़ाने-लिखाने में लगाए रहकर बर्बाद करने पर तुले हुए थे। उसने कहा—“शिक्षा पुरुषार्थ की चेरी है। मुझे अपना काम करने दो।” जो गुरु उसे **न रुके** राज-काज से दूर रहकर पढ़ने की बात बताता रहता था, उसे उसने सर्वधर्म समभाव हेतु विभिन्न मंतव्यों के संकलन में लगा दिया एवं अपनी व्यावहारिक शिक्षा के बलबूते ही एक सम्राट् के रूप में प्रतिष्ठित हुआ।

मुझे भीख स्वावलंबन व्यक्ति की सबसे बड़ी निधि है। किसी से सहायता माँगने की अपेक्षा स्वाभिमान **नहीं चाहिए** व्यक्ति अपने पुरुषार्थ पर अधिक विश्वास रखता है चाहे प्रकृति उसके विकास में कितनी ही बाधक रही हो?

दया भाव दिखाते हुए एक सज्जन ने एक डालर का सिक्का एक अपंग बच्चे के हाथ में रखा और कहा—“जाओ बेटे, कुछ खाकर अपनी भूख मिटा लो ।” सिक्का लौटाने हुए बच्चे ने स्वाभिमान पूर्वक कहा—“साहब ! मैं भीख माँगने नहीं आया, आपसे विनय करने आया हूँ कि मुझे किसी स्कूल में भरती करा दो, जहाँ मैं पढ़ सकूँ ।” उन सज्जन ने बच्चे से प्रभावित होकर उसे एक स्कूल में दाखिल करा दिया । दोनों पाँवों का लँगड़ा यह लड़का ही एक दिन कुशल हवाबाज सैंडर्स के नाम से विख्यात हुआ ।

जिन्हें भी अशिक्षितों से, असहायों से कोई सहानुभूति है, उन्हें अपनी कृपा धनराशि के रूप में जुटाने के स्थान पर उन्हें स्वावलंबन प्रधान शिक्षा देनी चाहिए । यह उनका, सहायता पाने वाले के लिए सर्वश्रेष्ठ उपहार है ।

प्रगति के

पाँच आधार

अरस्तू ने एक शिष्य द्वारा उन्नति का मार्ग पूछे जाने पर उसे पाँच बातें बताई—(१) अपना दायरा बढ़ाओ, संकीर्ण स्वार्थपरता से आगे बढ़कर सामाजिक बनो । (२) आज की उपलब्धियों पर संतोष करो और भावी प्रगति की आशा करो । (३) दूसरों के दोष ढूँढ़ने में शक्ति खर्च न करके, अपने को ऊँचा उठाने के प्रयास में लगे रहो । (४) कठिनाई को देखकर न चिंता करो, न निराश होओ, वरन् धैर्य और साहस के साथ उसके निवारण का उपाय करने में जुट जाओ । (५) हर किसी में अच्छाई खोजो और उससे कुछ सीखकर अपना ज्ञान और अनुभव बढ़ाओ । इन पाँच आधारों पर ही कोई व्यक्ति उन्नति के उच्च शिखर पर पहुँच सकता है ।

भद्रा ! नरेषु संस्कारभावनायास्तु जागृतेः ।
 दायित्वं बालकेष्वत्र जातेष्वपि युवस्वपि ॥ ५९ ॥
 समाप्तिं याति नो देवसंस्कृतिः प्राक् तु जन्मनः ।
 पश्चादपि च मृत्योस्तां कर्तुं संस्कारसंयुताम् ॥ ६० ॥
 मानवीं चेतनां दिव्यामकार्षीत् क्रममुत्तमम् ।
 नोदगच्छेत् पशुता मर्त्येऽनिवार्य चाङ्गमत्र तु ॥ ६१ ॥
 इदन्तु सभ्यतास्थूलनियमाश्रितमप्यलम् ।
 सिद्ध्यतीह ततोऽग्रे च मनुष्ये बलिदानिनाम् ॥ ६२ ॥
 सतां समाजसंस्कारकर्तृणां चित्तभूमिकाम् ।
 कर्तुं विकसितां तं च निर्मातुमृषिमुत्तमम् ॥ ६३ ॥
 मनीषिणां महामर्त्यं देवदूतं समिष्यते ।
 संस्कृतेरिदमेवास्ति कार्यं मङ्गलदं नृणाम् ॥ ६४ ॥

भावार्थ—हे भद्रजनों ! मनुष्य में सुसंस्कारिता जगाने का उत्तरदायित्व बालकों के युवा हो जाने पर ही समाप्त हो जाता है । देव संस्कृति ने जन्म के पूर्व से मृत्यु के पश्चात् तक मानव चेतना को संस्कारित करने का क्रम बनाया है । मनुष्य में पशुता के कुसंस्कार न उभरने देना उसका एक अनिवार्य पक्ष है । यह तो सभ्यता के स्थूल नियमों के माध्यम से भी किसी सीमा तक सध जाता है, किन्तु इससे आगे मनुष्य में संत, सुधारक, शहीद की मनोभूमि विकसित करना, उसे मनीषी, ऋषि, महामानव, देवदूत स्तर तक विकसित करना भी अभीष्ट है । यह कार्य संस्कृति का है ॥ ५९-६४ ॥

व्याख्या—मात्र विद्यार्जन कर विद्वान बना देना, पदवी दिलाकर वैभव संपन्न बना देना ही शिक्षा का लक्ष्य नहीं होता । देव संस्कृति के इस महत्वपूर्ण प्रसंग की परिधि अत्यंत विशाल है । बालक में जगाए गए संस्कारों की परिणति आगे चलकर और भी महान हो, यह उद्देश्य ऋषिगणों का, शिक्षण प्रक्रिया के मूल में रहा है । गर्भावस्था से ही संस्कारों के पोषण की प्रक्रिया आरंभ होती एवं मृत्योपरान्त तक चलती रहती है । यह देव संस्कृति के विभिन्न उपक्रमों के माध्यम से संपन्न होता है । व्यक्ति न बिगड़े, अपनी पूर्व योनियों के चिर संचित संस्कारों की ओर पुनः उन्मुख न हो यह ठीक है, किन्तु यह भी जरूरी है कि वह और भी श्रेष्ठ बने ।

विकास क्रम में सुसंस्कारों के समावेश द्वारा व्यक्ति किस तरह श्रेष्ठ पुरुष के रूप में, देव मानव के रूप में विकसित होता है, यह संस्कृति का दायित्व है । उदार, परमार्थ परायणता, दूसरों के लिए कुछ करने

की ललक, परदुःखकातरता जिसमें विकसित होने लगे, वह व्यक्ति संत का पद पा लेता है। इसके बीजांकुर बाल्यकाल में डाले एवं निरंतर पोषित किए जाने चाहिए। समाज में संव्याप्त अनीति के प्रति आक्रोश, प्रचलन के नाम पर चले आ रहे पूर्वाग्रहों-परंपराओं का डटकर विरोध, पिछड़ों को उठाने-आगे बढ़ाने हेतु तत्परता जिसमें विकसित होती है, वे सुधारक कहलाते हैं। शहीद वे जो संस्कृति, राष्ट्र, समाज की रक्षा हेतु अपना सब कुछ बलिदान कर दें। कोई अनिवार्य नहीं कि इसके लिए शरीर ही त्यागना पड़े, शहीद वे भी होते हैं, जो वैभव का, सुख-साधनों का स्वेच्छा से परित्याग कर स्वयं सादगी से रहकर दूसरों के लिए जीते हैं। प्रकारांतर से इन्हीं को ऋषि, महामानव, चिंतक, मनीषी, देवदूत, देवमानव कहा गया है। मनुष्य शरीर में ये प्रत्यक्ष देवता के समान होकर धरती पर स्वर्ग जैसी परिस्थितियाँ उत्पन्न करते हैं।

ऐसे अनेक उदाहरण देव संस्कृति के वर्तमान, मध्यकालीन व पुरातन इतिहास के मिलते हैं, जिनमें व्यक्ति सामान्य से असामान्य बनकर समाज की महान सेवा कर गए। वे मात्र संस्कृति की रक्षा के लिए किए।

दर्शन के

प्रकांड विद्वान्

कॉलेज में पादरी हिंदू धर्म की बुराई किया करते। एक बालक को यह बात सहन न हुई। उसने खड़े होकर पूछा—“महोदय ! क्या ईसाई धर्म दूसरे धर्मों की निंदा करना सिखाता है ?”
पादरी खीज उठा, उसने कहा—“और क्या हिंदू धर्म दूसरों की प्रशंसा करता है ?” बालक ने तटस्थता से उत्तर दिया—“हाँ ! हमारा धर्म किसी भी धर्म की बुराई नहीं करता। गीता में हमारे भगवान् कृष्ण ने स्वयं कहा है कि किसी भी देवता की उपासना करने से मेरी ही उपासना होती है। अब आप ही बताइए हमारा धर्म दूसरे धर्मों की निंदा कैसे कर सकता है ?”

पादरी को उत्तर देते न बना। भारतीय संस्कृति जिसकी रग-रग में बस रही थी, वह बालक दर्शन का प्रकांड विद्वान् हुआ, आज हम उन्हें डा० राधाकृष्णन के नाम से जानते हैं। वे रूस में भारत के प्रथम राजदूत व बाद में भारत के राष्ट्रपति बने। देवसंस्कृति का प्रकाश उन्होंने सारे विश्व में फैलाया।

संस्कृति के

उद्धारक

पंजाब के महाराजा रणजीतसिंह एक साधारण जमींदार के लड़के थे, किन्तु अपनी सामर्थ्य के बल पर वे पंजाब के राजा बने। प्रसिद्ध कोहेनूर हीरा इन्हीं के पास बहुत समय तक रहा, जो उन्होंने पठान शासकों से प्राप्त किया था। रणजीतसिंह की बहादुरी इतिहास प्रसिद्ध है। उन्होंने आक्रांताओं से देश की सीमा की सतत् रक्षा की।

चंद्रगुप्त मौर्य दासी पुत्र था, लेकिन विशाल मौर्य साम्राज्य का विस्तार उसी ने किया। अपने पुरुषार्थ-अध्यवसाय के बल पर चंद्रगुप्त मौर्य ने एक बड़े साम्राज्य की नींव डाली। उसके समय में ही वृहत्तर भारत एक विस्तृत रूप ले सका था।

महाराज छत्रसाल एक छोटे जमींदार के पुत्र थे, लेकिन उन्होंने अपनी स्थिति से बढ़कर प्रसिद्ध बुंदेला राज्य की स्थापना की। छत्रसाल ने शिवाजी की तरह अपनी शक्तियों को बढ़ाकर उनसे मिलकर मुगलों के विरुद्ध मोर्चा जमाया। वे कभी भी किसी प्रलोभन के समक्ष झुके नहीं। जब तक वे जीवित रहे, सभी राज्याध्यक्षों को एक कर उनमें विदेशी आक्रांताओं से मोर्चा लेने के लिए मनु्य जगाते रहे।

प्रतिकूलताओं

में भी जूझने

वाले नौरोजी

दादा भाई नौरोजी बंबई के एक पारसी परिवार में जन्मे। एम०ए० करने के बाद उन्होंने ऊँची नौकरी करने की अपेक्षा अध्यापक बनना श्रेयस्कर समझा, क्योंकि उसमें लोक सेवा के लिए अवकाश भी रहता था और जन संपर्क का अवसर भी मिलता था। वे स्त्री शिक्षा के लिए व्याकुल थे। भारत में वैसा वातावरण तनिक भी नहीं था। उनसे सरकार पर दबाव डाल कर कई कन्या पाठशालाएँ खुलवाई और घर-घर जाकर अध्यापिकाएँ पढ़ाया करें, ऐसा प्रबंध किया। रूढ़िवादियों का विरोध रहने पर भी वह कार्य आगे बढ़ता गया।

कांग्रेस की स्थापना हो चुकी थी, तब तक कोई आंदोलन न था। उनसे इंग्लैंड जाकर जनता को भारत की स्थिति और माँग समझाने का औचित्य समझा और लंदन चले गए। उनका प्रचार कारगर हुआ और वे इंग्लैंड की पार्लियामेंट के सदस्य चुने गए। वहाँ पहुँचकर उन्हें भारत की माँग अच्छी तरह रखने का अवसर



मिला । कुछ सुधार तो तभी से होने आरंभ हो गए ।

जब वे स्वदेश लौटे, तो सन् १९०६ में कांग्रेस के अध्यक्ष बनाए गए । वे जीवन भर कांग्रेस संगठन और आंदोलन को मजबूत बनाने में लगे रहे ।

क्रांतिकारियों के जन्मदाता

लाला लाजपतराय पंजाब के एक माने हुए वकील थे । वकालत से बचे हुए समय को उनमें शिक्षा प्रचार में लगाया । अंग्रेजी सरकार उन दिनों मात्र उतने ही अंग्रेजी स्कूल खोलती थी, जितने से उनके लिए क्लर्क मिल सकें । लालाजी ने देश की प्रगति के लिए शिक्षा प्रसार आवश्यक समझा और अपनी समस्त आजीविका और मित्रों का सहयोग लेकर वे इस कार्य को व्यापक बनाने में लगे रहे । अछूतों के लिए उनमें विशेष काम किया । डी०ए०व्ही० स्कूल-कॉलेजों की एक प्रकार से बाढ़ आ गई । कांग्रेस आंदोलन में सम्मिलित हुए और लाहौर में 'वंदे मातरम्' अखबार निकाला । सामाजिक कुरीतियों और राजनैतिक अत्याचारों पर वे करारी चोट करते थे । लालाजी को मांडले की जेल में बंद कर दिया गया । छूटे तो कलकत्ता कांग्रेस के अध्यक्ष बने । स्वतंत्रता के लिए वातावरण बनाने के लिए विदेशों में उन्होंने काफी दौरे किए । उन्हें कई बार जेल जाना पड़ा । कांग्रेस के जीवनदानी कार्यकर्ता का निर्वाह चलाने के लिए सर्वेंट ऑफ दी मिल्स सोसाइटी बनाई और उसके लिए अच्छी निधि एकत्रित की ।

साइमन कमीशन को बॉयकाट करते समय पुलिस की लाठियाँ लगने से उनका स्वर्गवास हो गया । उनके स्वर्गवास ने देश में अनेक क्रांतिकारी पैदा कर दिए ।

सुधारक-संत कबीर

कबीर किसी विधवा के पेट से काशी में जन्मे । माता उसे जन्मते ही रास्ते पर पड़ा छोड़ गई । उसे एक मुसलमान जुलाहे ने पाल लिया । बालक बड़ा होनहार था । पिता के काम में छुटपन से ही मन लगाकर सहयोग देता । साथ ही स्वामी रामानंद के सत्संग में भी सम्मिलित होता । वहीं उसने पढ़ना, कविता बनाना और वादन भी सीख लिया । जिस प्रकार एकलव्य ने मिट्टी के द्रोणाचार्य को गुरु बनाया था, उसी प्रकार कबीर ने भी रामानंद का शरीर स्पर्श हो जाने और 'राम-राम' कह देने भर से अपनी गुरु-दीक्षा पूर्ण हुई मान ली ।

कबीर ने वयस्क होते ही कुरीतियों का निवारण, अंधविश्वासों का उन्मूलन, सांप्रदायिक सद्भाव एवं सच्चरित्रता, लोक सेवा में असली भक्ति भावना होने का प्रचार किया । उनके असंख्यों अनुयायी बने । वहाँ कट्टर पंथी मुसलमान उनके शत्रु भी बने और त्रास देने में कमी न रही । पर कबीर अपने मार्ग पर चलते ही रहे । वे पिता का काम करते हुए आजीविका उपार्जित करते थे ।

कबीर ने अपने ही स्वभाव की एक युवती से विवाह कर लिया । वे ११८ वर्ष जिए । अंत समय मगहर गए, लोगों की इस मान्यता का खंडन करने कि काशी में मरने से मुक्ति होती है । मरते समय हजारों भक्त एकत्रित थे । मुसलमान दफन करना चाहते थे और हिंदू जलाना । झगड़ा बढ़ने लगा, तो कबीर की लाश गायब हो गयी । कफन के नीचे फूल पड़े रह गए । उन्हीं को हिंदुओं ने जलाया और समाधि बनाई । मुसलमानों ने फूल गाढ़े और उस स्थान पर मकबरा बनवाया । ऐसे थे सच्चे भक्त कबीर । उनमें जातिगत ऊँच-नीच का जन्म भर विरोध किया ।

देश के लिए समर्पित शंकरदेव जी

ए०ए० पास करने के उपरांत पं० शंकरदेव अपनी मातृभूमि नेपाल लौट गए । शासन उन्हें अच्छी नौकरी भी दे रहा था, पर बंधन में बँधने की अपेक्षा उनमें वहाँ की जनता को जागृत और संगठित करना उचित समझा । ताकि शासन सुधार की आधारशिला मजबूत बनाई जा सके ।

उनने जन सहयोग से छोटे-बड़े अनेक विद्यालय भी चलाए, जिनमें समय के अनुरूप शिक्षा दी जाती थी । शंकर देव अपना गुजारा किसी प्रकार करते रहे, किन्तु सारा जीवन नेपाल का स्तर ऊँचा उठाने में लगे रहे । शासन से लेकर जनता तक, सभी उनकी आदर्शवादी ईमानदारी के कायल थे ।

विदेशी, पर देवसंस्कृति की अनुचर

देव संस्कृति ने दूर देशों से प्रतिभाओं को खींचकर इस राष्ट्र में बुलाया व उनसे वह काम कराया है, जिसने उन्हें इतिहास में अमर बना दिया । श्रीमती एनीबेसेंट लंदन में जन्मी । वे थियोसॉफिकल सोसाइटी की संस्थापिकाओं में से एक थीं । सत्य की खोज और सेवा के लिए समर्पण, इन भावनाओं से उनका अंतरंग ओतप्रोत था ।

सेवा के लिए उपयुक्त कार्यक्षेत्र देखकर वे भारत चली आई और न केवल थियोसॉफी आंदोलन तक सीमित नहीं, वरन् परिस्थितियों और आवश्यकताओं के अनुरूप उत्तरदायित्व अपने कंधों पर उठाए। उन्होंने मद्रास से 'काननवील' और 'दैनिक मद्रास स्टैंडर्ड' पत्र निकाले। 'डोली हेरल्ड' चलाया और स्काउट आंदोलन को व्यापक बनाने के लिए घनघोर प्रयत्न किए। महिला जागरण के लिए अनेक महिला संगठन बनाए। 'सेंट्रल हिंदू कॉलेज' उन्हीं की स्थापना है, जो आगे चलकर काशी हिंदू विश्वविद्यालय के रूप में विकसित हुआ और महामाना मालवीय जी ने उसे सँभाला। भारतीय स्वतंत्रता के लिए उनसे कम काम नहीं किया। जेल गई। राष्ट्रीय कांग्रेस की अध्यक्ष बनीं और समय-समय पर देश की उलझी गुत्थियों को सुलझाती रहीं। उन्होंने अत्यंत महत्वपूर्ण ३०० पुस्तकें लिखीं। एनीबेसेंट ८६ वर्ष जीवित रहीं और इसी देश को अपना मानकर इसी की मिट्टी में समा गई।

दधीचि का अस्थिदान

इंद्र जैसे महाबली देवता के लिए भी, जब तक महर्षि दधीचि की धर्मपत्नी भगवती वेदवती उपस्थित थीं, आश्रम में प्रवेश करना कठिन था। इंद्र सबसे छुप सकते थे, पर सती के अपूर्व तेज के समक्ष छद्मवेष छिपा सकना, उनके लिए भी संभव न हुआ। वेदवती जल भरने के लिए बाहर निकलीं, तब इंद्र ने आश्रम में प्रवेश किया और महर्षि दधीचि से अस्थिदान ले लिया। देववती लौटीं, तब तक अस्थिदान दिया जा चुका था। महर्षि दधीचि वृत्रासुर हनन हेतु वज्र बनाने के लिए अस्थिदान कर चुके थे, प्राण निकल चुके थे। वेदवती ने एक क्षण में ही सारी स्थिति का अनुमान कर लिया। अभी वे इंद्र को शाप देने ही जा रही थीं कि दिव्य देहधारी महर्षि ने उन्हें परावाणी में समझाया—“भद्रे ! देवत्व की रक्षा के लिए यह दान मैंने स्वेच्छा से दिया है। अब आपके लिए भी यह उचित है कि शाप न देकर गर्भ में पलने वाली आत्मा का ऐसा निर्माण करो कि 'तत्त्वशोध' की हमारी साधना अधूरी न रहने पाए।” “आज्ञा शिरोधार्य है देव !” यह कहकर वेदवती तपश्चर्या में संलग्न हो गई। इतिहास साक्षी है कि अपने गर्भ से पिप्पलाद जैसा महान् ऋषि उत्पन्न कर उन्होंने पति की अंतिम कामना पूरी कर दी।

देशप्रेम पहले

आदर्श नागरिक के लिए राष्ट्र व समाज के समक्ष अपनी संतान भी कुछ नहीं के समान है। यह मोह नहीं, कर्तव्य की जीत होती है।

यूनान और फारस के बीच युद्ध चल रहा था। यूनानी बड़ी वीरता से लड़ रहे थे, पर देवी के मंदिर के पुजारी की, फारस वालों के लिए जासूसी के कारण वे हार रहे थे। न्याय-सभा न्याय करने जुटी। पुजारी ने अपराध स्वीकार कर लिया और क्षमा याचना की। सभा में विचार होने लगा। इतने में एक बूढ़ी औरत सभा के सम्मुख आकर बोली—“समय अधिक सोच-विचार का नहीं है। यह दोबारा देश-द्रोह नहीं करेगा, इसका क्या भरोसा ? छोड़ देने से तो दूसरों को भी प्रोत्साहन मिलेगा। इसे तुरंत प्राण दंड मिलना चाहिए। यह मेरा पुत्र है, लेकिन पुत्र प्रेम से अधिक मैं देश-प्रेम को महत्व देती हूँ।”

राष्ट्र देव की बलिवेदी पर

अशफाकउल्ला काकोरी कांड में जेल की कालकोठरी में बंद थे। फाँसी के फंदे को चूमने में कुछ घंटे ही शेष थे। सभी रिश्तेदार और हितैषी उन्हें मुखविर बन जाने की सलाह दे रहे थे। परंतु भारतमाता के संरक्षक सच्चे सपूत पर इन सबका कोई असर न पड़ा। उन्होंने फाँसी की कोठरी से अपनी माँ को जो खत लिखा था, वह उनकी संस्कारित चेतना का जीवंत प्रमाण है।

उन्होंने लिखा—“मेरी माँ से बढ़कर मेरे खानदान में कौन-सी माँ हो सकती है, जिसका बेटा जवाँ मर्दी और बहादुरी से इस्तकामत इस्तकाल से रास्तबाजी के साथ मासूमियत का जामा पहने हुए कुर्बान गाहे वतन पर कुरबान हो रहा है। !..... आपको फख्र करना चाहिए कि आपका बच्चा बहादुरी की मौत मर रहा है। यह आपके दूध का असर है कि दिल अंदर से फूला चला जाता है। मुझे कतई ख्याल नहीं गुजरता कि मुझे कल फाँसी दी जाएगी। मेरी अच्छी माँ ! मेरी खताएँ माफ़ फरमा कर मशगुले खुदा हो जाओ।”

उनके जैसे अनेक शरीद-रामप्रसाद बिस्मिल, सरदार भगतसिंह, सुखदेव, चंद्रशेखर आजाद ने ही स्वतंत्र भारत के लिए स्वयं उत्सर्ग कर, वह वातावरण बनाया, जिसने फिरंगियों को स्वदेश लौट जाने के लिए विवश कर दिया।

बंकिमबाबू का आनंदमठ

बंगाल के बंकिम बाबू अंग्रेजी सरकार में उच्च ओहदे पर डिप्टी मजिस्ट्रेट थे। उन्होंने साथ ही एक से एक अधिक प्राणवान पुस्तकों का बंगला में सृजन किया है, किन्तु उन सबमें 'आनंदमठ' उनकी विशेष कृति है। इससे उन्होंने राष्ट्र स्वातंत्र्य हेतु योजनाबद्ध क्रांति का एक

व्यावहारिक कार्यक्रम प्रस्तुत किया है। मंदिर युग के खंडहरों में क्रांतिकारी साधुवेश में निवास करते हैं। इस प्रकार उनकी भोजन और निवास की गुत्थी सुलझ जाती है। मंदिर-मठों पर शासन को भी उतना संदेह नहीं होता। दिन में देश का प्रचार और रात्रि में आक्रमण का क्रम चलता है। इस कार्य में उन्हें भावनाशील जनता की जहाँ सहायता मिलती है, वहाँ पता चल जाने पर शासन द्वारा त्रास भी कम नहीं दिया जाता।

इस प्रकार योजना का सांगोपांग स्वरूप प्रस्तुत करके प्रकारांतर से भारत के वातावरण में क्रांति की सफलता का एक अच्छा मार्गदर्शन किया है। उसके अनुरूप अनेक स्थानों पर प्रयास हुए भी। आनंदमठ को सरकार ने जब्त कर लिया। फिर भी भारत की सभी भाषाओं में उसके अनुवाद होते रहे। क्रांतिकारी आंदोलन की जड़ यहीं से जमी व पनपी।

गणेश शंकर विद्यार्थी का बलिदान गणेशशंकर विद्यार्थी अपनी निजी प्रतिभा के बल पर इतने ऊँचे उठे कि उन्होंने 'कर्मवीर', 'सरस्वती' आदि पत्रिकाओं में सहायक रहकर अपना निजी पत्र 'प्रताप' प्रकाशित किया। वह सदा अत्याचार पीड़ितों का हिमायती रहा। शासन के विरुद्ध लिखने में उन्हें कई बार जेल जाना पड़ा। प्रांतीय कांग्रेस और हिंदी साहित्य सम्मेलन के अध्यक्ष भी रहे। हिंदू-मुस्लिम दंगे की आग बुझाते हुए किन्हीं धर्मांधों ने उन पर हमला किया और प्राण ले लिए। उनके बलिदान पर विचार व्यक्त करते हुए, गांधी जी ने कहा था, 'मुझे उन पर ईर्ष्या होती है।'।

घरवालों ने नहीं रोका क्रांतिकारी दल के सदस्यों में एक ऐसे भी थे, जिनके पिता ने उनकी इस आकांक्षा का समर्थन भी किया और सहयोग भी दिया। आमतौर से परिवार के लोग अपनों को खतरे में पड़ने से रोकते हैं। शंभूनाथ, जो अपने पिता के इकलौते बेटे थे, उनसे क्रांतिकारी दल में जाने की जब अपने पिता से आज्ञा माँगी तो उनसे इतना ही कहा कि सोच-समझ कर कदम बढ़ाना। खतरों को पहले से ही ध्यान में रखो। उनके लायक हिम्मत हो तो ही जाना। बीच में से उलट कर हँसी मत कराना। साथ ही उन्होंने कहा—“बाहर से पैसा लूटने से पहले घर में जो कुछ है, उसे खत्म कर लो, ताकि कोई यह न कहे कि अपना बचाए फिरते हैं और दूसरों पर हाथ मारते हैं।” घर में जो पूँजी थी, पिता ने वह खुशी-खुशी दे दी। जब बिल्कुल खाली हाथ हो गए, तब पार्टी में डकैती आदि दूसरे तरीकों से धन प्राप्त करने लगे। शंभूनाथ पर कई मुकदमे चले, हाईकोर्ट ने उन्हें आजीवन कैद की सजा दी। जेल में जिन बंदियों से उनका संपर्क रहा, उन्हें भी क्रांतिकारी बनाने में वे लगे रहे। घर से मिले संस्कारों ने शंभूनाथ को राष्ट्र के लिए सब कुछ करने, मर-मिट जाने हेतु उद्यत कर दिया। देव संस्कृति की यही सबसे बड़ी विशेषता है।

किशोर क्रांतिकारी स्वतंत्रता संग्राम के क्रांतिकारी सदस्य खुदीराम बोस को मुजफ्फरपुर (बिहार) की जेल में फाँसी लगी। तब उनकी उम्र १८ वर्ष ८ महीने की थी। वे जन्म से बंगाली थे, पर अपने को समूचे भारत का पुत्र मानते थे। उन पर अंग्रेज किंग फोर्ड की हत्या का अभियोग लगाया गया था। वे बड़े हँसमुख थे। फाँसी से कुछ समय पूर्व जेलर ने उदारतापूर्वक उन्हें आम खाने को दिए और कहा—“चुपचाप खा लो, किसी को पता न चले।” बोस ने उन्हें ले लिया। जब शाम को जेलर पूछने आए कि 'खा लिए' तो उनसे कहा—“फाँसी होने वाली है, डर के मारे कुछ खाया-पिया नहीं जाता। वे रखे हैं कोने में आपके आम।” जेलर ने उन्हें निकाला, तो देखा कि सिर्फ छिलके थे और उनमें हवा भरके साबुत जैसा बना दिया गया था। उठाते ही वे पिचक गए, तो जेलर हँस पड़ा, वे भी हँस पड़े। मौत का उन्हें तनिक भी भय न था।

लोकमान्य तिलक ने इस फाँसी पर अपने पत्र 'केशरी' में 'देश का दुर्भाग्य' शीर्षक लेख लिखा। इस पर उन्हें छः वर्ष का कारावास हुआ था।

हँसते हुए बलिदान दूसरे महायुद्ध में हिटलर ने बेल्जियम को भी जीत लिया। बेल्जियम की राजकुमारी एथल कैवल ने नर्स का काम स्वीकार कर लिया। वह घायलों की सेवा करने लगी। नंबर के हिसाब से घायलों की भर्ती और चिकित्सा की जाती थी। यह बात जर्मनी वालों को बहुत बुरी लगी। वे चाहते थे कि विजेता को प्राथमिकता मिले। ऐसा न करने पर उसे गोली मार दी गई। न्याय की रक्षा के लिए उसने हँसते हुए गोली खाई।

क्रांतिकारी-खान खोजे वर्धा जिले के डॉ० खान खोजे विवाह का प्रसंग पक्का होने के एक दिन पूर्व ही भाग खड़े हुए थे। उनके बाबा ने सन् १८५७ के गदर में बढ़-चढ़ कर काम किया था। उनके पोते ने बाबा की

परंपरा अपनाई और निजी उपार्जन की अपेक्षा जीवन को राष्ट्रहित में होम दिया। उनके क्रांतिकारी कार्यों का पता सरकार को लग गया था, इसलिए उनके पिता को धमकाया गया और वकालत की सनद जब्त करने की धमकी दी गई। खान खोजे एक पानी के जहाज पर कुली बन कर विदेश चले गए। उनसे विदेश में चल रही हलचलों के लिए अर्थ व्यवस्था जुटाने का जिम्मा अपने ऊपर लिया। मैक्सिको में उनसे एक बड़ा कृषि फार्म बनाया, उसकी सारी आजीविका अंतर्राष्ट्रीय गंदर पार्टी को देते रहे। स्वयं सर्वथा निस्पृह रहकर जिए। इनके प्रयासों से भारत की स्वाधीनता में बड़ा योगदान मिला।

आजादी के दीवाने

देश प्रेम में दीवाने होकर अमर शहीद करतारसिंह ने जब स्वतंत्रता के लिए विप्लवी युवकों के संगठन में सम्मिलित होने का निश्चय किया, तो परिवार के लोग बड़े चिंतित हुए। कुछ ही दिनों बाद वे एक कांड में पकड़ लिए गए और उन्हें फांसी की सजा दी गई, तो उनके बाबा आकर उनसे लिपट गए और भाव विह्वल होकर रोने लगे। बिलखते हुए बाबा ने फांसी के लिए तैयार करतार सिंह से कहा—“करतार ! मेरे बेटे ! इस तरह से अपने प्राणों को मत दे !” तो करतार ने अपने बाबा को सांत्वना देते हुए कहा—“दादा ! मिलखा आजकल कहाँ है ?” “बह तो हैजे की बीमारी से मर गया बेटा !”—बाबा ने करुणार्द्र रूंधे कंठ से कहा। “और तुम्हारा बह सरदार” “उसे भी तो मेरे हुए बरसों गुजर गए हैं रे !” “तो क्या दादा, आप मेरे लिए भी यही सोचते हैं कि आपका लाड़ला करतार भी उसी बिस्तर पर पड़ा रह कर कगहता हुआ मेरे ? क्या यह मौत उन मौतों से अच्छी नहीं है ?”

दादा चुप रह गए और मृत्यु को अंतिम सत्य बताते हुए उसे शानदार ढंग से अच्छे उद्देश्य की प्राप्ति के लिए यत्न करते हुए वरण करना श्रेष्ठ सिद्ध कर करतार सिंह फांसी के फंदे पर झूल गए। शहीदों के लिए राष्ट्र सर्वोपरि होता है एवं ये संस्कार ऐसे जमाए होते हैं कि किसी भी प्रलोभन से नहीं मिटते।

लौह पुरुष

सरदार पटेल

एक घटना सन् १९४६ की है। बंबई बंदरगाह के नौ सेनिकों ने विद्रोह का झंडा ऊँचा कर दिया था। अंग्रेज अधिकारियों ने उन्हें गोली से भून देने की धमकी दी थी, साथ ही भारतीय नौ सैनिकों ने जबाब में उनकी खाक कर देने की चुनौती दे रखी थी। बड़ी भयानक स्थिति थी। उस समय बंबई का नेतृत्व सरदार पटेल के हाथों में था। लोग उनकी तरफ बड़ी घबड़ाई नजरो से देख रहे थे। किन्तु सरदार पर परिस्थिति का रंच-मात्र भी प्रभाव नहीं पड़ा था। न तो वे अधीर थे और न विचलित। बंबई के गवर्नर ने उन्हें बुलाया और काफी तुराँ दिखाया। इस पर सरदार ने शेर की तरह दहाड़ कर गवर्नर से कह दिया कि वह अपनी सरकार से पूछ लें कि अंग्रेज भारत से मित्रों के रूप में विदा होंगे या लाशों के रूप में। अंग्रेज गवर्नर सरदार का रौद्र रूप देख कर काँप उठा और फिर उसने कुछ ऐसा किया कि बंबई प्रसंग में अंग्रेज सरकार को समझौता करते ही बना। यही सरदार पटेल थे, जिन्होंने राष्ट्रीय एकता को सर्वोपरि मान स्वतंत्र भारत के प्रथम गृहमंत्री के रूप में २४ बटे के भीतर बिना किसी शस्त्र का प्रयोग किए सारे रजवाड़े का भारतीय गणतंत्र में समावेश कर दिया था।

साहस जैसी दैवी विभूति अनायास ही नहीं उपजती। यह वह निधि है, जिसे पुरुषार्थ द्वारा अपने अंदर विकसित कर उचित प्रयोजनों में लगाया व मानव जीवन को धन्य बनाया जाता है।

विज्ञानं भौतिकं लोके पदार्थस्य तदोजसः ।

उपयोगं प्रशास्त्येव नियन्त्रणमथापि च ॥ ६५ ॥

आश्रित्याध्यात्मविज्ञानमन्तश्चेतन्यगं तथा ।

महाचैतन्यगं नूनं लभ्यतेऽज्ञानुशासनम् ॥ ६६ ॥

नियन्त्रिता पदार्थाः स्युरन्तश्चेतनया तथा ।

जीवान्तश्चेतना स्याच्च परचैतन्यसंयुता ॥ ६७ ॥

विकासस्य सुखस्याथ शान्तेः श्रेष्ठः क्रमस्त्वयम् ।

देवसंस्कृतिरेनं च सिद्धान्तं सुप्रतिष्ठितम् ॥ ६८ ॥

नरस्य चिन्तने कर्तुं चरित्रे सफला ह्यभूत् ।

लोककल्याणमत्यर्थमस्मादेव ह्यभूत्ततः

॥ ६९ ॥



अतो विश्वस्तरेणेयं श्रेष्ठं याता च मान्यताम् ।

निर्माति मानवं यातु देवं वै देवसंस्कृतिः ॥ ७० ॥

भावार्थ—भौतिक विज्ञान पदार्थ एवं पदार्थगत ऊर्जा के नियंत्रण और उपयोग का मार्ग प्रशस्त करता है । अध्यात्म विज्ञान के सहारे अंतःचेतना तथा महत् चेतना के अनुशासन हस्तगत होते हैं । पदार्थ पर अंतःचेतना का नियंत्रण रहे, अंतःचेतना महत् चेतना से युक्त रहे । विकास और सुख-शांति का श्रेष्ठ क्रम यही है । यह महान् सिद्धांत, देव संस्कृति ने जन-जन के चिंतन और चरित्र में उतार देने में सफलता पाई है । इसी से महान् लोक-कल्याण हुआ है । इसीलिए इसे विश्वस्तर पर श्रेष्ठतम संस्कृति के रूप में मान्यता मिली है । यह मानव को देवता बनाती है, अतः देव संस्कृति कहलाती है ॥ ६५-७० ॥

व्याख्या—भारतीय संस्कृति-देव संस्कृति ने चिर पुरातन काल से मानवता को अनेकानेक अनुदान दिए हैं । अपने स्वरूप, श्रेष्ठ उद्देश्यों, सार्वभौम रूप के कारण इसे विश्व संस्कृति का पर्याय माना जा सकता है । सभ्यता इसी के गर्भ से पनपी, जिससे ज्ञान-विज्ञान की अनेकानेक विधाओं ने जन्म लिया एवं सारे विश्व को उन उपलब्धियों से लाभान्वित किया । किसी देश, जाति, धर्म-संप्रदाय, वर्ग, समाज विशेष तक सीमित न रहकर यह संपूर्ण मानव जाति के विकास एवं कल्याण का पथ प्रशस्त करती रही है । इसका मूल आधार है यहाँ की ऋषि परंपरा । ऋषियों की आध्यात्मिक एवं वैचारिक संपदा अब भी परोक्ष रूप से वातावरण में गुंजित पाई जा सकती है ।

भौतिकी और आत्मिकी की परस्पर अन्योन्याश्रयता का प्रतिपादन देव संस्कृति की मूलभूत विशेषता है । पदार्थ विज्ञान, भौतिकी स्थूल उपादानों से संबंधित है, जबकि चेतना विज्ञान, आत्मिकी, परोक्ष चेतना हलचलों से संबंधित है । पदार्थ में गति है तो चेतन में गति है । गति के पीछे कोई उद्देश्य न हो, वह गति से (प्रज्ञा-विवेक अंतर्दृष्टि) समन्वित न हो तो एक निरर्थक परिभ्रमण की खिलवाड़ ही चारों ओर नजर आएगी । साधनों के बिना गति, अंतश्चेतना भी अधूरी है । भौतिकी का अनुदान 'सुविधा' है तो आत्मिकी का वरदान है 'प्रतिभा' । दोनों की अपनी-अपनी उपयोगिता है, किन्तु इन्हें समन्वित रूप से प्रस्तुत करना संस्कृति का उत्तरदायित्व है । देव संस्कृति ने इन्हीं सूत्रों को जन सुलभ बनाकर जन-जन के मनों तक पहुँचाया है । इसी कारण इसके अनुयायी बाह्य सुख साधनों के उपभोग तक ही सीमित नहीं रहे, अपितु अंतः के पुरुषार्थ में सतत संलग्न रहे । धर्म संस्कृति की प्राण चेतना का जीवंत रहना ही इसके अनुयायियों की चरित्र निष्ठ के मूल में रही है ।

सिकंदर संस्कृति की गरिमा से अभिभूत

मैकक्रिडल नामक एक पाश्चात्य विचारक ने मैगस्थनीज के इंडिक ग्रंथ का उदाहरण देते हुए अपनी पुस्तक में लिखा है कि जब सिकंदर भारत पर आक्रमण हेतु निकला तब उसके गुरु अरस्तू ने उसे आदेश दिया था कि वह भारत से लौटते समय दो उपहार अवश्य लाए—एक गीता, दूसरा एक दार्शनिक संत जो वहाँ की थाती है । सिकंदर जब वापस लौटने को था तो उसने अपने सेनापति को आदेश दिया कि "भारत के किसी संत को ढूँढ़कर ससम्मान ले आओ ।" सैनिक 'दंडी स्वामी' जिसका उल्लेख ग्रीक भाषा में 'डैडी मींग' के रूप में हुआ है, से मिला । दंडी स्वामी से सिकंदर के दूत ने मिलकर कहा—“आप हमारे साथ चलें, सिकंदर महान् आपको मालोमाल कर देंगे । अपार वैभव आपके चरणों में होगा ।” अपनी सहज मुस्कान में दंडी स्वामी ने उत्तर दिया—“हमारे रहने के लिए शस्य-श्यामला भारत की पावन भूमि, पहनने के लिए वल्कल वस्त्र, पीने के लिए गंगा की अमृत धार तथा खाने के लिए एक घाव आटा पर्याप्त है । हमारे पास संसार की सबसे बड़ी संपत्ति आत्मधन है । इस धन की दृष्टि से तुम्हारा दरिद्र सिकंदर हमें क्या दे सकता है ?” शक्ति एवं संपत्ति के दर्प से चूर सिकंदर ने सैनिक की वार्तालाप को जब सुना तो विस्मित रह गया । अहंकार चकनाचूर हो गया । आध्यात्मिक संपदा के धनी इस देश के समक्ष नतमस्तक होकर चला गया ।

देव संस्कृति के प्रति अगाध श्रद्धा

मैक्समूलर ने एक पुस्तक लिखी है—“इंडिया व्हाट कैन इट टीच अस” । इस पुस्तक को पढ़ने से उनकी भारत के प्रति अगाध श्रद्धा भाव का पता लगता है । वे लिखते हैं कि—“मैं विश्व भर में उस देश को ढूँढ़ने के लिए चारों दिशाओं में दृष्टि दौड़ाऊँ, जिस पर प्रकृति देवी ने

अध्याय प्रथम)

(३७

अपना संपूर्ण वैभव, पराक्रम एवं सौंदर्य मुक्त हाथों से लुटाकर उसे पृथ्वी का स्वर्ग बना दिया है तो मेरा इशारा भारत की ओर होगा। यदि मुझसे पूछा जाय कि अंतरिक्ष के नीचे वह कौन-सा स्थल है, जहाँ मनुष्य ने अपने अंतराल में सन्निहित ईश्वर प्रदत्त उदात्त भावों को पूर्णरूपेण विकसित किया है तथा जीवन की गहराई में उतार कर कठिनतम समस्याओं पर विचार किया है। उनमें अधिकांश को सुलझाया है। यह सब जानकर 'कांट' एवं 'प्लेटो' जैसे दार्शनिकों से प्रभावित मनीषी भी आश्चर्यचकित रह जाँय वह पूछें कि वह देश कौन सा है, तो मेरी अंगुली सहज ही भारत की ओर उठेगी और यदि मैं अपने आपसे प्रश्न करूँ कि हम यूरोपवासी, जो अब तक केवल ग्रीक, यहूदी एवं रोमन विचारों में पलते रहे हैं, किस साहित्य से वह प्रेरणा ले सकते हैं, जो हमारे अंतरंग जीवन को परिशोधित करे, उसे उन्नति की ओर अग्रसर करे, व्यापक एवं विश्वजनीन बनाए, सही अर्थों में मानवीय गुणों से सुसंपन्न करे जिससे हमारे पंचभौतिक जीवन को ही नहीं, हमारी सनातन आत्मा को भी प्रेरणा मिले तो पुनः मेरी उँगली भारत की ओर उठ जाएगी।"

प्राकृतिक सौंदर्य, संपदा एवं आत्मिक विचार संपदा का धनी यही वह देश है जिसके ज्ञान सागर में डुबकी लगाकर जर्मनी का प्रसिद्ध दार्शनिक शोपेनहावर कह पड़ा कि—"विश्व के संपूर्ण साहित्यिक भंडार में किसी ग्रंथ का अध्ययन मानव विकास के लिए इतना उपयोगी एवं ऊँचा उठाने वाला नहीं है जितना कि उपनिषदों की विचारधारा का अवगाहन। इस सागर में डुबकी लगाने से मुझे शांति मिली है तथा मृत्यु के समय में भी शांति मिलेगी।"

उपनिषदों की चेतना शक्ति संप्रदाय, मजहब, जाति, वर्ग एवं राष्ट्रीय दीवारों से निकलकर मानवी सिद्धांतों एवं विश्व बंधुत्व को प्रोत्साहन देने वाली यहाँ की ज्ञान संपदा ने प्रत्येक धर्म एवं मजहब के व्यक्तियों को प्रभावित किया है। औरंगजेब का भाई दाराशिकोह उपनिषदों के एक बार रसास्वादन के उपरांत उसकी मस्ती में इतना डूबा कि निरंतर छः माह तक काशी के पंडितों को बुलाकर उनकी व्याख्या सुना रहा। दूसरों को भी उसका लाभ मिले—यह सोचकर उसने १६३६ में स्वयं फारसी में उपनिषदों का अनुवाद किया। दाराशिकोह के इस भाषांतर को फ्रैंच के विद्वान 'एन्क्विटिल ड्यूपैरो' ने पढ़ा। उसकी रुचि इतनी बढ़ी कि सभी प्रमुख प्राच्य शास्त्रों, वेदों, उपनिषदों का अध्ययन कर डाला। फारसी अनुवाद के आधार पर उसने १८०१ में इनका लैटिन भाषा में अनुवाद किया। दाराशिकोह का फारसी अनुवाद एवं इन्क्विटिल का ईसाई अनुवाद अब भी मुस्लिम एवं ईसाई जगत में अत्यंत श्रद्धा के साथ पढ़ा जाता है।

प्रसिद्ध फ्रांसीसी दार्शनिक लुई जेकिलिमेट ने भाव भरे शब्दों में लिखा है—

"हे मानव जाति के आदर्शों की पोषक भारत भूमि ! तुझे नमस्कार है। शताब्दियों तक अगणित आक्रमण सहते रहने पर भी तेरी गरिमा न तो मलिन हुई, न कलुषित। तेरा स्वागत है। हे श्रद्धा, प्रेम, कला और विज्ञान की जन्मदात्री ! तुझे शत-शत नमन !"

विकसन्ति महात्मानः संस्कृतिश्चापि कुलचित् ।
क्षेत्रे विशेष एवात्र परं बद्धा न सीम्नि ते ॥ ७१ ॥
विकासं भारते याता देवसंस्कृतिरित्यहो ।
सत्यं परन्तु सा विश्वसंस्कृतौ चिन्तिता बुधैः ॥ ७२ ॥
गौरवं चेदमेवेयं गता काले महत्तरे ।
तदा विश्वं सुखं शान्तिमन्वभूच्च निरन्तरम् ॥ ७३ ॥

भावार्थ—संत और संस्कृति किसी क्षेत्र में विकसित तो होते हैं, परन्तु उन्हें किसी सीमा-बंधन में बाँधा नहीं जा सकता। देव-संस्कृति भारतभूमि में विकसित हुई, यह सत्य है, किन्तु वह वस्तुतः विश्वसंस्कृति के रूप में मनीषियों द्वारा गढ़ी गई थी और यही गौरव उसे दीर्घकाल तक प्राप्त भी रहा। उस समय विश्व ने महान् सुख-शांति अनुभव की ॥ ७१-७३ ॥

व्याख्या—यह सही है कि कोई भी विभूति अथवा विशिष्टता स्थान विशेष से जुड़ी होने के कारण वही नाम ले लेती है, पर वह उस सीमा में आबद्ध संकीर्ण बनी नहीं कही जा सकती। संत सार्वभौम होते हैं, सारी मानव जाति का कल्याण उनका मूल उद्देश्य होता है। भारत को सनातन काल से विश्व गुरु

कहलाने का, वसुधा का मुकुटमणि कहे जाने का श्रेय इसलिए मिला कि यहाँ के ऋषियों-चिंतकों ने सदैव समग्र वसुधा के उत्कर्ष को ध्यान में रखते हुए अपनी गतिविधियाँ चलाई। उनके प्रतिपादन सार्वभौम हैं। वे विश्व एकता के लिए सारी वसुधा पर भ्रमण करते रहे हैं। उन्होंने स्नेह के बंधन में सारी मानव जाति को सूत्रबद्ध करने का प्रयास किया एवं इसमें वे सफल रहे। व्यास-बाल्मीकि, बुद्ध-महावीर, शंकराचार्य-रामानुज, कुमारजीव-विवेकानंद, ज्ञानेश्वर-तुकाराम, नानक-कबीर एवं महात्मा गांधी-अरविंद जैसी विभूतियों ने संस्कृति की इस प्रगति यात्रा को आगे बढ़ाया है। भारतीय संस्कृति उपयोगिता की दृष्टि से विश्वधर्म, विश्वसंस्कृति के रूप में ही आरंभ से गठित की गई, इसीलिए इतनी अधिक विविधताओं का समावेश इसमें मिलता है।

देव संस्कृति- भारतीय संस्कृति, मानव संस्कृति है। उसमें मानवता के सभी सदगुणों को भली प्रकार विकसित करने वाले सभी तत्व पर्याप्त मात्रा में मौजूद हैं। जिस प्रकार कश्मीर में पैदा होने वाली केशर, कश्मीरी केशर के नाम से अपनी जन्मभूमि के नाम पर प्रसिद्ध है। इस नाम के अर्थ यह नहीं कि उसका उपयोग केवल कश्मीर निवासियों तक ही सीमित है। भारतीय संस्कृति नाम ही इसीलिए पड़ा कि वह भारत में पैदा हुई है, वस्तुतः वह विश्व संस्कृति है, मानव संस्कृति है। सारे विश्व के मानवों की अंतःप्रेरणा को श्रेष्ठ दिशा में प्रेरित करने की क्षमता उसमें कूट-कूट कर भरी है।

संस्कृति का अर्थ है-वह कृति, कार्य-पद्धति जो संस्कार संपन्न हो। ऊबड़-खाबड़ पैड़-पौधों को जिस प्रकार काट-छांट कर उन्हें सुरम्य और सुशोभित बनाया जाता है, वही कार्य व्यक्ति की उच्छृंखल मनोवृत्तियों पर नियंत्रण स्थापित करके संस्कृति द्वारा संपन्न किया जाता है। किसान जैसे भूमि को खाद, पानी, जुताई आदि से उर्वरक बनाता है और बीज बोने से लेकर फसल तैयार होने तक उन पौधों को सींचने, संभालने, निराने, रखाने की अनेक प्रक्रियाएँ करता है, वही कार्य संस्कृति द्वारा मानवीय मनोभूमि को उर्वर एवं फलित बनाने के लिए किया जाता है। अंग्रेजी में संस्कृति के लिए 'कल्चर' शब्द आता है। उसका शब्दार्थ भी उसी ध्वनि को प्रकट करता है। अस्त-व्यस्तता के निराकरण व्यवस्था के निर्माण के लिए जो प्रयत्न किए जाँय, उन्हें 'कल्चर' कहा जा सकता है। संस्कृति का यही प्रयोजन है। 'संस्कृति' के साथ 'भारतीय' शब्द जोड़ कर उसे भारतीय संस्कृति कहा जाता है। इसका अर्थ यह नहीं कि वह मात्र भारतीयों के लिए ही उपयोगी है। अन्वेषण का श्रेय देने के लिए कई बार नामकरण उनके कर्ताओं को दे दिया जाता है। कई ग्रह-नक्षत्रों की अभी-अभी नई खोज हुई है। उनके नाम शोधकर्ताओं के नाम पर रखे गए हैं। पहाड़ों की जिन ऊँची चोटियों पर जो यात्री पहले पहुँचे, इनके नाम भी उन साहसियों के नाम पर रख दिए गए। धर्म-संप्रदायों के संबंध में भी ऐसा ही होता है। उनके आचार्यों, संस्थापकों का नाम स्मरण बना रहे, इसलिए उनके नाम से भी संप्रदाय पुकारे जाते हैं। इसका अर्थ उन पदार्थों या मान्यताओं को उन्हीं की संपत्ति मान लेना नहीं है, जिनका कि नाम जोड़ दिया गया है। हिन्दुस्तान में 'वर्जीनिया' तम्बाकू पैदा नहीं होती चूँकि उसका आरंभिक उत्पादन 'वर्जीनिया' में हुआ था, इसलिए नामकरण उसी आधार पर हो गया। यह प्रतिबंध लगाने की कोई सोच भी नहीं सकता कि तंबाकू का उपयोग या उत्पादन मात्र वर्जीनिया के लिए ही सीमित रखा जाय। भारतीय संस्कृति का उद्भव, विकास, प्रयोग, पोषण एवं विस्तार भारत से हुआ, इसलिए उसे उस नाम से पुकारा जाता है, तो यह उचित ही है, पर इसका अर्थ यह नहीं माना जाना चाहिए कि उसका प्रयोग इसी देश के निवासियों तक सीमित था अथवा रहना चाहिए।

यजुर्वेद ७/१४ में एक पद आता है-“सा प्रथमा संस्कृति विश्ववारा” अर्थात् यह प्रथम संस्कृति है, जो विश्वव्यापी है। सृष्टि के आरंभ में संभव है ऐसी छुटपुट संस्कृतियों का भी उदय हुआ हो, जो वर्ग विशेष, काल विशेष या क्षेत्र विशेष के लिए उपयोगी रही हों। उन सब को पीछे छोड़कर यह भारतीय संस्कृति ही प्रथम बार इस रूप में प्रस्तुत हुई कि उसे विश्व संस्कृति कहा जा सके। हुआ भी यही-जब उसका स्वरूप सर्वसाधारण को विदित हुआ, तो उसकी सर्वश्रेष्ठता को सर्वत्र स्वीकार ही किया जाता रहा और सर्वोच्च भी। फलस्वरूप यह विश्वव्यापी होती चली गई। इस स्थिति का उपरोक्त मंत्र भाग में संकेत है। इतिहास न भी माने, तो भी तथ्य के रूप में स्वीकार करना ही होगा, कि विश्व संस्कृति माने जाने योग्य समस्त विशेषताएँ इस भारतीय संस्कृति में समग्र रूप से विद्यमान हैं।

‘विश्ववारा’ शब्द का अर्थ होता है-“जो समस्त संसार द्वारा वरण की जा सके, स्वीकार की जा सके।”



दूसरे शब्दों में इसे 'सार्वभौम' भी कह सकते हैं । संस्कृति के लिए दूसरा शब्द ब्राह्मण ग्रंथों में 'सोम' आता है । सोम क्या है ? अमृतम् वै सोमः (शतपथ) अर्थात् अमृत ही सोम है । अमृत क्या है-ज्ञान और तप से उत्पन्न हुआ आनंद । इस प्रकार भारतीय संस्कृति का तात्पर्य उस श्रद्धा से है, जो ज्ञान और तप की, विवेकयुक्त सत्प्रयत्नों की ओर हमारी भावना और क्रियाशीलता को अग्रसर करती है । इस संस्कृति को जब, जहाँ जितनी मात्रा में अपनाया गया है, वहाँ उतना ही भौतिक समृद्धि और आत्मिक विभूति का अनुभव आस्वादन किया गया ।

देव संस्कृति की उत्कृष्ट ऋषि परंपरा भारत की समुन्नत परिस्थिति और परिष्कृत मनःस्थिति का श्रेय यहाँ के ऋषियों को दिया जाता है, यह उचित भी है । उज्ज्वल चरित्र, उत्कृष्ट चिंतन, और साहसिक पुरुषार्थ का त्रिविध समन्वय जिन व्यक्तित्वों में होगा, वे स्वयं तो ऊँचे होंगे ही, अपने साथ-साथ लोक मानस को और समस्त वातावरण को भी ऊँचा उठाएँगे । ऋषियों की क्रिया-प्रक्रिया यही थी । वे सार्वजनिक क्षेत्र के हर पक्ष को देखते और सँभालते थे । द्रोणाचार्य, विश्वामित्र, परशुराम जैसे ऋषि धनुर्वेद में पारंगत थे । ये शस्त्र निर्माण और संचालन की शोध एवं शिक्षा के कार्य में संलग्न थे, ताकि असुरता से सफलतापूर्वक जूझा जा सके । चरक, सुश्रुत, वागभट्ट, अश्विनी कुमार, धन्वन्तरि जैसे ऋषि स्वास्थ्य संबंधित और चिकित्सा के रहस्यों को ढूँढ़ने और उसे सर्वसाधारण के लिए प्रस्तुत करने में संलग्न थे । नागार्जुन, हारीत, सुषेण जैसे रसायन विद्या के विकास और विस्तार में जुटे हुए थे । विश्वकर्मा, शतोधन जैसे ऋषियों ने शिल्प एवं वास्तुकला के संबंध में जो खोजा, उससे विश्व-सौंदर्य में असाधारण वृद्धि हुई । नारद, उपमन्यु, उद्दालक जैसे ऋषि स्वर-शास्त्र के सामगान के पारंगत थे । उन्होंने गायन-वाद्य की कला के मर्मों से जन मानस को आंदोलित किया और उसके रसास्वादन का विधि-विधान समझाया ।

उत्कच, विद्वध, महानंद जैसे ऋषि कृषि और पशु-पालन का विज्ञान विकसित करने में जुटे थे । व्यास परंपरा के ऋषियों ने शास्त्र रचना की मुहिम सँभाली । सूत-परंपरा के ऋषि प्रवचनकर्ता थे । चाणक्य, याज्ञवल्क्य, कण्व, धौम्य जैसे ऋषियों द्वारा विश्वविद्यालय स्तर के शिक्षा संस्थान चलाए जाते थे । छोटे-बड़े गुरुकुल तो प्रायः सभी ऋषि चलाते थे । कपिल, कणाद, गौतम, पतंजलि जैसे दार्शनिकों द्वारा विश्वमानव की बौद्धिक क्षुधा बुझाने के लिए बहुमूल्य प्रतिपादन किए जाते रहे । वशिष्ठ, शुक्राचार्य, विदुर आदि ऋषि राजतंत्र का मार्गदर्शन करने में निरत थे । च्यवन, दधीचि जैसे ऋषियों ने तप-साधना करके मानवी अंतस्तल में छिपी रहस्यमय शक्तियों के उपयोग का पथ प्रशस्त किया था । लोकमंगल के अनेकानेक प्रयोजनों में यह ऋषि वर्ग के लोग निरंतर संलग्न रहते थे ।

व्यक्तिगत सुख-सुविधाओं को परमार्थ प्रयोजनों के लिए निछावर करते रहने में हर व्यक्ति ने यहाँ अपने को सौभाग्यशाली माना है । दधीचि ने अपनी अस्थियाँ निकाल कर देवताओं को दे दीं । शुःनशेप नरमेध की प्रथम आहुति बनने के लिए आगे आया । मोरध्वज को पुत्रदान में संकोच नहीं हुआ । शिवि ने अपना मांस निकाल कर दिया । हरिश्चंद्र ने अपनी सारी संपदा विश्वामित्र को सौंपी । संयमराय ने अपने स्वामी पृथ्वीराज के प्राण बचाने के लिए अपने अंग काट-काट कर गिद्धों को डाले थे और उस समय की स्वामी-सेवक के बीच बनी रहने वाली वफादारी का उदाहरण प्रस्तुत किया था ।

तब हर घर में भामाशाह थे । संचित पूँजी को परमार्थ के लिए सुरक्षित अमानत भर माना जाता था, समय आने पर देने में किसी को कोई संकोच नहीं होता था ।

भारत की सर्वतोमुखी प्रगति और गौरव-गरिमा के अंतःसल में वस्तुतः यही महानता का भावनात्मक इतिहास छिपा पड़ा है । इसी के फलस्वरूप यह देश भौतिक संपदाओं से सुसंपन्न रहा । हर्षोल्लास के प्रचुर साधनों से भंडार भरे रहे । शारीरिक बलिष्ठता और मानसिक प्रबुद्धता का स्तर बहुत ऊँचा रहा । मनुष्य, मनुष्य के बीच सघन आत्मीयता बिखरी पड़ती थी । मिल-जुलकर कमाने और खाने की प्रवृत्ति ने हर क्षेत्र में संतोषजनक प्रगति का पथ प्रशस्त किया था, संयमशीलता, सज्जनता, सादगी और शालीनता की विभूतियाँ हर व्यक्ति को उपलब्ध थीं । गुण, कर्म, स्वभाव की उत्कृष्टता में एक-दूसरे से आगे बढ़ने की प्रतिस्पर्धा में व्यक्ति निरत था । उन परिस्थितियों में सर्वत्र सुख-शांति का साम्राज्य था । यहाँ के निवासी देवता कहे जाते थे और यह देश स्वर्ग माना जाता था । इस वैभव को भारतवासियों ने अपनी भौगोलिक सीमाओं में सीमित नहीं रखा, वरन् विश्व के कोने-कोने में जाकर बिखेरा ।

संत—

सार्वभौम संपदा

यही नहीं, विदेश के अनेकों मनीषी इस संस्कृति से अभिभूत होकर उसके अंग बन गए। जीवन भर वे इसकी महत्ता के प्रचार-प्रसार में लगे रहे। मैक्समूलर, कामिल बुल्के, डॉ० विल्सन जैसे ऐसे अनेक उदाहरण उद्धृत किया जा सकते हैं।

यह सही है कि संत किसी राष्ट्र या समुदाय विशेष के नहीं होते। वे उत्कृष्टता के पक्षधर होते हैं।

समायण के

तत्त्वान्वेषी—

कामिल बुल्के

बेल्जियम में जन्मे कामिल बुल्के आरंभ से ही तत्त्वज्ञान में अभिरुचि रखते थे। अपने देश में इंजीनियरिंग में ग्रेजुएट होने के उपरान्त वे भारत आए और ऋषि प्रणीत अध्यात्म ज्ञान का गहरा अध्ययन करने लगे। उनसे कलकत्ता विश्वविद्यालय से संस्कृत में बी०ए० किया, बाद में बाल्मीकि रामायण तथा तुलसीकृत राम चरित्र मानस के गहन अध्ययन में लग गए। उनकी आत्मा भारत में रम गई। शाकाहारी संत की तरह रहने लगे। उन्होंने रामायण के रहस्यमय प्रसंगों की जानकारी सर्वसाधारण को कराने के लिए अनेक महत्वपूर्ण पुस्तकें लिखी हैं।

जिस रामायण को हम कथा मात्र मानते हैं, उसे इस बुद्धिवादी और तत्त्वान्वेषी संत ने युग के लिए बहुत ही सारगर्भित ग्रंथ सिद्ध किया है।

विश्व नागरिक—

मीरा बेन

विदेशों में गांधी जी के बारे में बहुत बर्चा होती थी। उनमें से कितने ही कौतूहलवश गांधी जी के साथ रहना चाहते थे। इनमें से कुछेक को थोड़े समय ठहरने की आज्ञा मिल जाती थी, पर आश्रमबासी के रूप में उन्हें ही स्वीकृति दी जाती थी जो आजीवन निर्धारित प्रयोजनों के लिए अपना जीवन अर्पण करें।

मिस स्लेड इंग्लैंड के एक सैनिक परिवार में जन्मीं। उनकी बहुत इच्छा गांधी जी के संपर्क में रहने की थी। उन्हें अपने घर पर ही आश्रम जीवन का अभ्यास करने के लिए कहा गया और बन पड़े तो हिन्दुस्तान आने के लिए कहा गया। मिस स्लेड हिन्दुस्तान आकर मीरा बेन के नाम से प्रख्यात हुईं। उनसे भारत को अपना घर माना और इंग्लैंड निवासियों की नाराजी की परवाह न की। वह अपने को विश्व नागरिक बना चुकी थीं। उनसे पशु-पक्षियों तक से आत्मीयता स्थापित की और ऋषिकेश के समीप पशुलोक स्थापित करके जनसाधारण का ध्यान पशुओं के साथ आत्मीयता बरतने के लिए आकर्षित किया। वे आजीवन कुमारी रहीं।

चिकित्सक से

संस्कृति प्रेमी

विल्सन इंग्लैंड से भारत में चिकित्सा अधिकारी बनकर आए थे। वहाँ आकर उन्हें भारतीय संस्कृति की गंभीरता का बोध हुआ। उनसे संस्कृत भाषा पढ़ी और अनेक महत्वपूर्ण ग्रंथों का अनुवाद किया। सरकारी काम से बचा हुआ सारा समय वे इसी कार्य में लगाते थे। भारत से लौटने के बाद वे ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी में संस्कृत के प्रोफेसर रहे। तब उन्हें और भी अधिक पढ़ने का अवसर मिला। जर्मनी के मैक्समूलर को उनसे अपना मानस पुत्र माना, अपना निष्कर्ष उसे समझाया। वेदों के भाष्यकार मैक्समूलर को इतना श्रम करने का साहस विल्सन की प्रेरणा से ही मिला था।

आसुरीषु सदा शक्तिष्वलमाकर्षणं जनैः ।

अन्वभावि भवत्येवानिष्टकारी समं तु तत् ॥ ७४ ॥

बाह्याकर्षणमेतासु देवशक्तिषु तादृशम् ।

जायते न परन्त्वन्तः सौन्दर्यं क्षमता च सा ॥ ७५ ॥

कल्याणकारिणी नूनमद्वितीयैव विद्यते ।

देवसंस्कृतिरित्यर्थं मानवं तत्प्रपञ्चतः ॥ ७६ ॥

संरक्ष्य च सुरौपम्यविकासप्रेरणां तथा ।

विधिं देवोपमं लोके यच्छतीह निरन्तरम् ॥ ७७ ॥

भावार्थ—आसुरी शक्तियों में आकर्षण विशेष होता है, परंतु वे अनिष्टकारी होती हैं। देवशक्तियों में बाह्याकर्षण उतना नहीं होता, परंतु आंतरिक सुंदरता और कल्याणकारी क्षमता अद्वितीय होती है। देवसंस्कृति मानवमात्र को आसुरी प्रपंच से बचाकर, देवोपम विकास की प्रेरणा और विधि-व्यवस्था प्रदान करती है ॥ ७४-७७ ॥

अध्याय प्रथम)

(४९

व्याख्या—आधुनिक पाश्चात्य सभ्यता भोग प्रधान है। अधिक उपार्जन एवं उसका उपभोग, सुख-सुविधाएँ इत्यादि ही उनका लक्ष्य बनकर रह गया है। इससे समृद्धि तो बढ़ी है किन्तु सबसे बड़ी हानि यह हुई है कि उससे सांस्कृतिक मूल्यों का हास हुआ है। नैतिकता के प्रति पदार्थ परक दृष्टिकोण होने से न केवल दुराचरण बढ़ा है अपितु पारस्परिक संबंधों में रूढ़ता, संकीर्ण स्वार्थपरता एवं स्वच्छंद उपभोगवाद ने मनश्चेतना पर अपना आधिपत्य जमा लिया है। आदर्शवादिता कहने-सुनने की चीज रह गई है। यह संस्कृति की अवमानना की ही परिणति है। देवशक्तियों को पोषण देने वाली संस्कृति ही उस महा विनाश को बचा सकती है जो आधुनिकता का भविष्यत् कहा जा सकता है।

देवसंस्कृति का इतिहास बताता है कि अंतः के विकास एवं मानवी गरिमा की स्थापना हेतु इसकी अवधारणाओं ने अतिमहत्वपूर्ण भूमिका निभाई है।

देव देने वाले को और दैत्य लेने वाले को कहते हैं। जिसने संसार में लिया कम और दिया अधिक, वह देव है। जो लेता अधिक और देता कम है उसकी गणना दैत्यों में की जाएगी। संक्षेप में स्वार्थी को दैत्य और परमार्थी को देव कहते हैं। देवों को मान दिया जाता है और दैत्यों के लिए सहज ही घृणा उठती है। यह नितांत स्वाभाविक है। स्थिति को देखते हुए लोक मानस में इस प्रकार की प्रतिक्रिया उठाना उचित ही है। व्यक्ति का चिंतन और कार्य जिस स्तर का है उसी के अनुरूप तो उसे श्रेय दिया या हेय समझा जा सकता है।

तत्त्वदर्शन में मानव के लिए महानात्मा, देवात्मा और परमात्मा बनने की दिशा को ही परम लक्ष्य माना गया है। इसी से इस जन्म की सार्थकता है। स्वर्गमुक्ति, सिद्धि, आत्म साक्षात्कार, प्रभु प्राप्ति जैसे दिव्य लाभ मात्र परमार्थ पक्ष पर चलते हुए, देव संस्कृति अपनाते हुए ही प्राप्त किए जा सकते हैं। सांसारिक यश, गौरव, सम्मान, सहयोग जैसे उद्यस्तरीय लाभ इसी मार्ग पर चलने से मिलते हैं।

श्रेष्ठ मान्यताओं पर आधारित देव संस्कृति के सारे सिद्धांत अपने आप में इतने सही एवं युगानुकूल हैं कि आज भी उन्हें परीक्षित कर ऊँचा उठ सकना, देवमानव की स्थिति में जा खड़ा होना संभव है। इसका एकमात्र कारण यह है कि ऋषियों ने जो अध्यात्म सिद्धांत निर्धारित किए, उन्हें अपनी बहुमूल्य मानवी काया रूपी प्रयोगशाला में सत्यापित भी किया। आत्मा-परमात्मा, कर्मफल, मरणोत्तर जीवन संबंधी आप्तमान्यताओं का, भारतीय दर्शन के मूलभूत सिद्धांतों का इसीलिए युगों-युगों से सम्मान किया जाता रहा है। उनके आधार पर जीवन दर्शन बना है व भारत निवासी उन पर चलकर प्रगति पथ पर आगे बढ़े हैं। जब भी इन मान्यताओं को झुठलाया गया, उस समुदाय को प्रतिकूलताओं ने घेरा है एवं उसे अंधकार भरे समय से गुजरना पड़ा है।

देव मानवों की प्रेरणा- गंगोत्री भारतीय संस्कृति

प्राचीन भारत का इतिहास इस देश में जन्मे नर-रत्नों का इतिहास है। भारत भूमि ने अन्न, वृक्ष, खनिज जैसी प्राकृतिक संपदाएँ उत्पन्न करके भौतिक संपदाओं के ही भंडार नहीं भरे वरन् देवमानवों का भी प्रचुर मात्रा में उत्पादन किया। घर-घर में नर-रत्नों की खान थी। किसकी चमक कितनी प्रखर है, इसकी प्रतिस्पर्धा रहती थी। महानता को कसौटी पर किसका कितना बढ़ा-चढ़ा मूल्यांकन होता है, इसी महत्वाकांक्षा से हर किसी का मन उद्देलित रहता था। शूरवीर उन दिनों तलवार चलाने वाले ही नहीं माने जाते थे, वरन् उन्हें योद्धा घोषित किया जाता था, जिनने अपनी पशु प्रवृत्तियों को, तृष्णा-वासना को पैरों तले रोंद कर सच्ची विजय प्राप्त की। ऐसे आत्मजयी वीर योद्धा ही अभिनंदन और अभिवादन के पात्र समझे जाते थे। हर वर्ग में, हर क्षेत्र में ऐसे आत्मजयी वीर योद्धा भरे पड़े थे, उनके गौरवशाली अस्तित्व भारत माता की कीर्ति ध्वजा दशों दिशाओं में उड़ाते थे। इस आधार पर सुविकसित भारत की गौरव-गरिमा के सामने समस्त विश्व श्रद्धान्वत मस्तिष्क झुकाए खड़ा रहता था। उनकी विजय दुंदुभि विश्व के कोने-कोने में गूँजती-प्रतिध्वनित होती सुनाई पड़ती थी। प्राचीन इतिहास के जितने पृष्ठ उलटे जायें उनमें भारत की इसी विशिष्टता का उल्लेख स्वर्णाक्षरों में लिखा हुआ मिलता चला जाएगा।

उन दिनों अभिभावक यह प्रयत्न करते थे कि गर्भावस्था में पहुँचते ही बालक महामानवों की भूमिका में

अवतरित हो । इसलिए उसकी शिक्षा उसी दिन से आरंभ हो जाती थी, जिस दिन कि उसने गर्भ में प्रवेश किया । मदालसा ने अपने कुछ बालकों को ब्रह्मज्ञानी बनाया, जब तक वे गर्भ में रहे, उसने अपना चिंतन और चरित्र वैसा ही ढाला जैसी कि उसे संतान चाहिए थी । फलतः वे ब्रह्मवेत्ताओं के संस्कार लेकर जन्मे । एक बालक को उसने अपनी इच्छानुसार राज्याध्यक्ष बनने योग्य ढाला । कुंती, अंजनी, सीता, शकुंतला के रूप में नर-रत्नों को जन्म देने वाली ऐसी अनेक देवियों की गाथाओं से हमारा इतिहास भरा पड़ा है ।

नचिकेता के उदाचेता पिता वाजिश्रवा जब समस्त धन-धान्य लोक मंगल के लिए दान दे चुके तो उसने पूछा—“आप लोभ त्याग की परीक्षा में सफल हो चुके फिर मोह त्याग में क्यों असफल होते हैं ? मुझे खिलौना बनाकर अपने पास क्यों रखना चाहते हैं ? लोक मंगल के लिए मुझे भी दान क्यों नहीं दे देते ?” वाजिश्रवा ने पुत्र को अपने से बढ़कर आदर्शवादी देखा तो हर्षोल्लास से उनकी आँखें डबडबा आईं, उन्होंने तत्काल महा तपस्वी यमाचार्य के हाथ में अपने पुत्र नचिकेता का हाथ सौंप दिया और वह ब्रह्मवेत्ता बनकर इस विश्व वसुधा का गौरव बढ़ाने में समर्थ हुआ ।

आद्य शंकराचार्य की माता अपने इकलौते पुत्र को भौतिक प्रगति में सुख-समृद्धि युक्त देखना चाहती थीं । पुत्र-वधू और पौत्र के साथ रहने के लिए लालायित थीं । माता की मोह-ममता को उनके दस वर्षीय बालक ने चतुरतापूर्वक तोड़-मोड़ कर फेंक दिया । प्रसिद्ध है कि वे नदी में नहाने के समय ‘मगर ने पकड़ा’ चिल्ला करके बोले कि मुझे शंकर जी को दान करो अन्यथा मगर खा जाएगा । माता ने अपना बालक शिवजी को दान कर दिया । वे मगर के मुँह में से छूटकर बाहर आ गए और परिव्राजक बनकर भारतीय संस्कृति का पुनरुत्थान करने में समर्थ हुए ।

कुंती अज्ञातवास की अवधि में अपने बालकों को लेकर एक ब्राह्मण परिवार में छिपी हुई दिन काट रही थीं । उस गाँव में हर घर से एक मनुष्य राक्षस द्वारा खाए जाने का क्रम चल रहा था । उस दिन आश्रयदाता ब्राह्मण के इकलौते पुत्र की बारी आ गई । पाँचों बच्चे मचल पड़े । हममें से एक राक्षस के सामने क्यों न चला जाय और ब्राह्मण बालक को क्यों न बचा लिया जाय ? उनके प्रबल आग्रह ने कुंती को बात मानने के लिए बाध्य कर दिया । अब इस सौभाग्य का लाभ कौन उठाए इस पर सब बच्चे आपस में लड़ने लगे । अंततः गोली निकाल कर भाग्य का फैसला कराया गया । निर्णय भीम के पक्ष में हुआ । वह राक्षस के स्पृशने हँसता-उछलता चला गया और स्वयं शिकार बनने के स्थान पर उलटा उसे ही मार कर आया । बच्चे उन दिनों जानते थे कि मरना भी यदि उद्देश्य के लिए संभव हो सके, तो वह हजार बार जीने की अपेक्षा अधिक श्रेष्ठ है ।

गृहस्थ जीवन में भी जन साधारण के बीच आदर्शों की घोर प्रतिस्पर्धा और प्रतिद्वंद्विता ठनी रहती थी । कौन किससे आगे निकलता है ? यह चुनौती अपने-अपने क्षेत्र में हर कोई अपने साथियों को देता रहता था । राम और भरत में दोनों के सामने ऐसा ही धर्म संकट उत्पन्न था । दोनों ही चाहते थे कि त्याग और आदर्श के क्षेत्र में उनकी हेठी न होने पाए । ‘राज्य हमें नहीं दूसरे को मिले’ इस प्रतिद्वंद्विता में कोई हारा नहीं । फैसला यह हुआ कि राम की तरह ही भरत भी चौदह वर्ष तक तपस्वी जीवन जिएँगे, राज्य सिंहासन पर राम की खड़ाऊँ स्थापित की जाएँगी ।

विश्वामित्र उन दिनों नवयुग का सूत्रपात कर रहे थे, उन्हें साधनों की आवश्यकता थी । उनके शिष्य हरिश्चंद्र ने पूर्ण निस्पृहता का परिचय दिया, अपनी सारी संपदा ऋषि के हवाले कर दी । कमी पड़ी तो अपने को, स्त्री-बच्चों को बेचकर प्रस्तुत आवश्यकता की पूर्ति का आदर्श प्रस्तुत किया । सुदामा के गुरुकुल की अभावग्रस्त स्थिति दूर करने के लिए कृष्ण ने अपनी द्वारिका की संपत्ति का अधिकांश भाग ऋषि सुदामा को सौंप दिया था । राजा कर्ण को विपुल वेतन मिलता था, वे अपनी दैनिक आय में से निर्वाह की न्यूनतम राशि लेकर शेष उसी दिन सत्प्रयोजनों के लिए दान कर देते थे । मरते समय दाँतों में लगा सोना तक दान कर जाने वाले कर्ण की परंपरा उन दिनों सभी सुसंपन्न व्यक्तियों में प्रचलित थी । कभी किसी के पास धन जमा हो गया, तो विशिष्ट अवसर सामने आते ही उसने भामाशाह की तरह अपनी सारी संपदा प्रताप जैसे प्रयोजनों के लिए सौंपते हुए अपना भार हलका कर लिया ।

राजा जनक व्यक्तिगत निर्वाह के लिए कृषि करते थे और स्वयं हल चलाते थे । राज्यकोष प्रजा की अमानत था और उसी के लिए खर्च होता था । ऐसा ही आचरण अन्य राजा भी करते थे । रानी अहिल्याबाई के राज्यकोष में से अधिकांश धर्म प्रयोजनों के लिए खर्च होता रहा । राजनैतिक विकृतियों का निवारण करने के लिए प्रस्तुत अश्वमेध योजनाएँ और सामाजिक अव्यवस्थाओं के निराकरण के लिए प्रस्तुत वाजपेय यज्ञ अभियानों में न केवल राजाओं के



राज्यकोष खाली होते थे वरन् संपन्न लोगों की संपन्नता भी झाड़-बुहार कर साफ कर दी जाती थी ।

अभिभावकों के प्रति संतान के कर्तव्य के उदाहरण दूँदें तो श्रवण कुमार द्वारा अंधे माँ-बाप को कंधे पर काँवर पं बिठा कर तीर्थ यात्रा कराना, भीष्म पितामह का अपने पिता की प्रसन्नता के लिए आजीवन अविवाहित रहना, ययाति पुत्र का अपना यौवन वृद्ध पिता को देना, सत्यवान का तपस्वी पिता की सेवा व्यवस्था लकड़हारा बनकर करते रहना—उन दिनों की संतान की कर्तव्य परायणता के सामान्य उदाहरण हैं ।

पतिव्रत धर्म निर्वाह करने वाली सावित्री, दमयंती, सीता, गांधारी सर्वत्र मिलेंगीं । स्वयं कष्टमय जीवन स्वीकार करके पतियों को कर्तव्य पथ पर धकेलने वाली वीर नारियाँ घर-घर में मौजूद थीं । उन्हें नीचे नहीं गिराती थीं वरन् ऊँचा उठाती थीं । पुत्रों को गुरुकुल के लिए, पतियों को धर्मयुद्ध के लिए भेजते हुए वे मोहग्रस्तता के आँसू नहीं बहाती थीं, वरन् गर्व-गौरव के साथ आरती उतारते हुए विदा करती थीं । हाड़ा की रानी की तरह उन्हें अपना सिर काट कर पति को मोहग्रस्तता से उबारने में आपत्ति नहीं होती थी । पन्ना दाई को अपना बच्चा प्यारा तो था, पर सौंपे हुए कर्तव्य से बढ़कर नहीं । उसने स्वामी का बच्चा बचाने के लिए अपने लाड़ले की आहुति चढ़ाते हुए आघात तो सहा, पर मन हलका यह सोचकर कर लिया कि उसने नारी की गरिमा की एक उपयुक्त स्थापना करने में गौरवमयी परंपरा सही रूप में निबाही । चित्तौड़ की रानियों ने अपना शरीर नहीं, नारी का साहस जीवित रखना उचित समझा और वे जीवित जलने जैसे कष्ट को सहने के लिए प्रसन्नतापूर्वक तैयार हो गईं ।

उपर्युक्त उदाहरण देव संस्कृति के उस स्वर्णिम इतिहास की एक झलक देते हैं ब बताते हैं कि कैसे इसके विभिन्न सूत्रों को अपनाकर इस देश के नागरिक देवमानव के रूप में निष्कसित हो सके । देव संस्कृति अपने इस आत्मोत्थान की रीति-नीति के कारण ही आराध्य बनी व श्रेष्ठता का गौरव ज्ञाती रही है ।

सन्देशवाहकाश्चास्याः स्वसदाचारतो जगन् ।
प्रशिक्षितात् प्रकुर्वन्तः प्रेरिताम् व्याचरन् भुवि ॥ ७८ ॥
केवलं न मनुष्यांस्ते प्राणिमान् तु सर्वदा ।
अन्वभूवन् स्वतुल्यं च तेषामेषा मनःस्थितिः ॥ ७९ ॥
प्रचण्डात्मीयताधारमाधित्याभूत् फलान्वितः ।
उद्घोषो विश्वमाकर्तुं कुटुम्बमिव वर्द्धितम् ॥ ८० ॥

भावार्थ—देव संस्कृति के महान् संदेशवाहक अपने-अपने आचरण से जन-जन को प्रेरणा-प्रशिक्षण देते सारे भूमंडल पर विचरते रहे हैं । वे मनुष्यों को ही नहीं, प्राणिमात्र को ही आत्मवत् अनुभव करते रहे हैं, क्योंकि उनकी मनःस्थिति ही ऐसी थी । इस प्रचंड आत्मीयभाव के आधार पर ही सारे विश्व को एक कुटुम्ब के रूप में विकसित करने का उनका उद्घोष सफल होता रहा है ॥ ७८-८० ॥

व्याख्या—‘वसुधैव कुटुम्बकम्’ की भावना से प्रेरित होकर ‘बहुजन हिताय’ की दृष्टि से यहाँ के निवासी समय-समय पर देश की सीमाओं को लाँघते हुए अपने ज्ञान-विज्ञान की संपत्ति को उन्मुक्त हाथों से बाँटने के लिए दूसरे देशों में भी पहुँचते रहे हैं । तब आज जैसे यातायात के सुविकसित साधन भी न थे । दुर्गम पहाड़ों, नदियों, रेगिस्तान, बरहों की कष्टसाध्य यात्राएँ उनको पावन मनोरथ से डिगा नहीं पाती थीं । बृहत्तर भारत की नींव उनके इन दुस्साहसी प्रयत्नों से ही पड़ी । कुमारजीव, कश्यप, मतंग, बुद्धयश तथा गुणवर्मन आदि बौद्ध भिक्षुओं ने प्राणों बने हथेली पर रखकर चीन की पैदल यात्राएँ कीं । उनके भाषणों, उपदेशों से वहाँ के मनीषी इतने अधिक प्रभावित हुए कि उस भूमि की चरणरज मस्तक पर लगाने चल पड़े जिसने अमृत तुल्य तत्त्वज्ञान को जन्म दिया । फाह्यान, हेन साँग, इत्सिंग आदि चीनी विद्वान् भारत आए तथा वर्षों तक अपनी ज्ञान पिपासा शांत करते रहे, जो अपने देशवासियों में बाँटने वापस लौटे । मंगोलिया, साईबेरिया, कोरिया आदि में भी भारतीय विद्वानों के पहुँचने तथा संस्कृति के प्रचार का उल्लेख मिलता है ।

कलिंग युद्ध के बाद अशोक का हृदय परिवर्तन हुआ । प्रायश्चित्त के लिए बौद्ध धर्म में दीक्षित होकर

धर्म के लिए न केवल स्वयं कार्य करना आरंभ किया, वरन् अपने पुत्र-पुत्री को भी वैसे ही अनुकरण के लिए प्रेरित किया। श्रीलंका में उसने अपने पुत्र महेन्द्र और पुत्री संघमित्रा को प्रचारार्थ भेजा। गया से बोधिवृक्ष की शाखा लेकर उन्होंने लंका में आरोपित की। बौद्ध धर्म के धार्मिक चिह्न, ग्रंथों एवं प्रासादों के रूप में, जो लंका में दिखाई पड़ते हैं, वे महेन्द्र संघमित्रा के प्रयासों के ही पुण्य प्रतिफल हैं। वर्मा का पुरातन नाम ब्रह्मदेश है। जिस पर भारतीय प्रभाव की झलक स्पष्ट दिखाई पड़ती है। बौद्ध भिक्षु यहाँ भी पहुँचे।

कंबोडिया, तीसरी से सातवीं शताब्दी तक हिन्दू गणराज्य रहा। वहाँ के निवासियों का विश्वास है कि इस देश का नाम भारत के ही एक ब्राह्मण कौण्डिन्य के नाम पर पड़ा, जिसने यहाँ नाग कन्या से विवाह किया और अपना राज्य स्थापित किया। उनके बाद जयवर्मन, यशोवर्मन, सूर्यवर्मन आदि राजा हुए। यहाँ के प्रख्यात मंदिर हैं—अंगकोर के। जिनकी दीवारों के पत्थरों पर रामायण के दृश्य खुदे हुए हैं। लाओस के कुछ मंदिरों में भी रामकथा के दृश्य देखे जा सकते हैं।

इंडोनेशिया यों तो वर्तमान मुस्लिम देश है, किन्तु भारतीय संस्कृति की अमिट छाप इस पर आज भी है। इंडोनेशिया यूनानी भाषा का शब्द है, जिसका अर्थ होता है—भारत द्वीप। जावा, सुमात्रा, बोर्नियो आदि इसके द्वीप हैं। प्राचीनकाल में वे सभी भारत के अंग रहे थे। रक्त एवं संस्कृति दोनों ही दृष्टियों से वहाँ के निवासी भारतीयों से अविच्छिन्न रूप से जुड़े हैं। जावा के लोगों में विश्वास है कि भारत के पाराशर तथा व्यास ऋषि वहाँ गए थे तथा बस्तियाँ बसाई थीं। शैलेंड राजवंश द्वारा बरोबुदुर जैसे मंदिर वहाँ बनवाए गए, जिसमें बुद्ध की ४३२ मूर्तियाँ हैं। उन मूर्तियों पर गुप्तकला की भी स्पष्ट छाप है। मंदिर का बौद्ध स्तूप कलाकृति एवं सौंदर्य की दृष्टि से संसार भर में सर्वोत्कृष्ट माना जाता है। जावा के जोग, जकार्ता की रामलीला एवं नाटक संसार भर में प्रसिद्ध हैं। वे मूलतः राम कथानक पर आधारित होते हैं। मंदिर की प्रस्तर भित्तियों पर संपूर्ण रामकथा का चित्रण किया गया है। सुमात्रा में हिन्दू राज्य की स्थापना तथा भारतीय संस्कृति का विस्तार चौथी शताब्दी में हुआ। पलेमवर्ग नामक स्थान कभी सुमात्रा की राजधानी था जहाँ भारतीय धर्म संस्कृति एवं अध्यात्म विषयों का शिक्षण होता था। पाली एवं संस्कृत भाषा यहाँ पढ़ाई जाती थी। इंडोनेशिया के वाली द्वीप के विषय में चीनी कहते हैं कि चौथी शताब्दी में कौण्डिन्यवंशी भारतीय राजा ने हिंदू राज्य की स्थापना की थी, जो दशवीं शताब्दी तक कायम रहा। बाद में वह हालैंड के आधीन आ गया।

बोर्नियो द्वीप सबसे बड़ा है। यहाँ हिंदू राज्य की स्थापना पहली सदी में हो गई थी। शिव, अगस्त्य, गणेश, ब्रह्मा, स्कंद आदि ऋषियों एवं देवताओं की मूर्तियाँ यहाँ प्राप्त हुईं तथा कितने ही पुरातन हिन्दू मंदिर आज भी मौजूद हैं, जो यह बताते हैं कि यह द्वीप भारतीय संस्कृति का गढ़ रह चुका है।

इतिहासकारों का मत है कि थाईलैंड का पुराना नाम स्याम देश था। तीसरी शताब्दी में वह भारत का उपनिवेश बना तथा बारहवीं शताब्दी तक भारत के अधीन रहा। स्याम की सभ्यता भारतीय संस्कृति से पूरी तरह अनुप्राणित है। उसकी लिपि का उद्गम पाली भाषा में हुआ है, जो भारत की देन है। उनके रीति-रिवाजों में भारतीय जैसा साम्य दिखाई पड़ता है। दशहरा जैसे पर्व धूमधाम से मनाए जाते हैं। थाई जीवन में राम एवं रामायण के कथानक की गहराई तक जड़ें जमाए हुई हैं। अष्टमी, पूर्णिमा, अमावस्या आदि पर्वों पर भारत की तरह वहाँ भी छुट्टियाँ रहती हैं। थाई रामाबण का नाम 'रामकियेन' है, जिसका अर्थ होता है—राम कीर्ति। थाईलैंड में अयोध्या और लोषपुरी जैसी नगरियाँ हैं।

तिब्बती साहित्य पर बौद्ध धर्म का गहरा प्रभाव है। वहाँ के राजा सांगचन गम्पो ने भारतीय लिपि के आधार पर तिब्बत की वर्णमाला का आविष्कार किया, नालंदा के आचार्य शांतरक्षित ने सन् ७४७ में तिब्बत पहुँचकर समये नामक पहला विहार बनवाया। तत्पश्चात् काश्मीर के भिक्षुक पद्मसंभव के प्रयत्नों से वहाँ महायान की तांत्रिक शाखा का प्रचार हुआ। लामावाद की उत्पत्ति उसी से हुई।

ऐसे अगणित प्रमाण संसार के विभिन्न देशों में बिखरे पड़े हैं, जो यह बताते हैं कि भारत समय-समय पर अपने भौतिक एवं आध्यात्मिक ज्ञान सागर से इस वसुधा को अभिसिंचित करता रहा है।

जगद्गुरु भारत के अग्रदूत

लोकसेवी परिव्राजक संतों ने अपनी गतिविधियाँ भारत की भौगोलिक सीमाओं के भीतर अवरुद्ध नहीं कीं, वरन् समस्त विश्व को अपना घर और समस्त मानव-जाति को अपना परिवार माना। अस्तु, वे पिछड़ेपन से जूझने के लिए दुर्गमता को चुनौती देते हुए धरती के सुदूरवर्ती क्षेत्रों में प्रसन्नतापूर्वक गए और यदि लौटना आवश्यक न लगा, तो वहीं डेरा डालकर बस गए। जहाँ जन्मा जाय, वहीं रहा जाय, यदि यह आग्रह होता, तो हिमालय का बर्फ गलकर नदियों के रूप में शुष्क क्षेत्रों को सींचते हुए आत्म समर्पण करने के लिए समुद्र तक दौड़े जाने का कष्ट न उठाता। फिर समुद्र का जल बादल बनकर अन्यत्र बरसने को सहमत न होता और सृष्टि का सारा क्रम-संतुलन ही बिगड़ जाता। महामानवों का भूमि या परिधि से ऊँचा उठा हुआ चिंतन होता है; उनकी आत्मीयता किसी भूखंड से नहीं बँधती, वरन् वे अधिक विपन्नता से अधिक कड़ा संघर्ष करने का लक्ष्य सामने रखकर अपना कार्यक्षेत्र निर्धारित करते हैं। अस्तु, इस देश के महामानवों की दृष्टि इस बात पर जमी रही कि किस भूखंड में किस स्तर का पिछड़ापन अधिक है, वहाँ पहुँचकर किस पद्धति को अपनाकर किन समस्याओं को कैसे हल किया जाय? यही थी उस जमाने की धर्म विस्तार पद्धति। इसमें केवल पूजा-पाठ, शास्त्र वाचन ही नहीं माना जाता था, वरन् स्थानीय समस्याओं में से प्रत्येक के समाधान को धर्म सेवा में सम्मिलित किया जाता था। अधिक जटिल समस्या को सर्वप्रथम समाधान के लिए हाथ में लिया जाता था।

इस परिष्कृत दृष्टिकोण को लेकर भारतीय तीर्थ-धर्म प्रचारक लोक सेवी विश्व के विभिन्न क्षेत्रों, प्रदेशों में पहुँचे और वहाँ की शासन प्रक्रिया को दिशा, प्रेरणा देकर सुव्यवस्थित किया। स्पष्ट है कि सुशासन के बिना प्रजा को स्थिरता एवं प्रगति का लाभ मिल ही नहीं सकता। भारतीय धर्म प्रचारकों ने सुदूर देशों की कवाइली सामंत शाही को हटा कर वहाँ प्रजा द्वारा प्रजा के लिए शासन का लक्ष्य लेकर सुशासनों की स्थापना की। इस संस्थापना नेतृत्व के लिए उन्हें कृतज्ञतापूर्वक चक्रवर्ती कहा गया। जहाँ संपत्ति के अभाव से दरिद्रता का साम्राज्य था, वहाँ कृषि, पशु-पालन, शिल्प, उद्योग आदि की सुव्यवस्था बनाकर संपन्नता के साधन जुटाए, इस कारण उन्हें वरदानी भूदेव कहा गया। अशिक्षा और अविद्या से छुटकारा दिलाकर वैयक्तिक और सामाजिक समर्थता का पथ-प्रशस्त किया, इसलिए उन्हें 'जगद्गुरु' का सम्मान मिला। यह सर्वतोमुखी सेवा साधना थी। भारतीय परिव्राजकों का ऐसा ही बहुमुखी लाभ समस्त संसार की जनता ने उठाया। उन दिनों धर्म शब्द का प्रयोजन मानव जाति की सर्वतोमुखी प्रगति के लिए ही किया जाता था। उन दिनों राजतंत्र का नहीं, लोक मानस पर धर्म-तंत्र का शासन था। इसलिए देश की सीमा निर्धारित करते समय यह देखना पड़ता था कि कितना क्षेत्र किस सांस्कृतिक आलोक से प्रभावित और प्रकाशित हो रहा है। इस दृष्टि से भारत की सीमाएँ लगभग विश्व सीमा जितनी थी, क्योंकि यहाँ के तत्त्वदर्शी विज्ञ मनीषी अपने मस्तिष्क में किसी छोटे क्षेत्र या वर्ग के हित साधन करने की बात न सोचकर समस्त विश्व की समृद्धि एवं प्रगति को ध्यान में रखकर अपने चिंतन एवं कर्तृत्व का निर्धारण करते थे। 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की भावना उन्हें किसी क्षेत्र विशेष के हित साधन तक सीमित रहने ही नहीं दे सकती थी।

विश्व-वसुधा में फैली संस्कृति चेतना

भारतीय प्रतिभाएँ 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की भावना को हृदयंगम करके जहाँ कहीं पिछड़ापन देखा, वहाँ दौड़-दौड़कर पहुँचती रही हैं। हमारे पूर्वजों का घर-परिवार कुछ व्यक्तियों या कुछ इमारतों तक सीमित न था। वे समस्त विश्व को अपना घर मानते थे और अपने को विश्व नागरिक के रूप में समझकर समस्त संसार को समुन्नत करने का उत्तरदायित्व अनुभव करते थे। भारत की भौगोलिक सीमाओं के अंतर्गत तो उनके कल्याणकारी क्रिया-कलाप गतिशील रहते थे, पर वे उतनी छोटी परिधि में सीमित नहीं रहते थे। समस्त मानव जाति में आत्मीयता की भावना रखते हुए वे धरती के एक छोर से दूसरे छोर तक प्रयाण करते थे और जहाँ कहीं पिछड़ापन देखते, वहाँ उसे मिटाने के लिए डट जाते। अपने को पूरी तरह खपा करके भी अभावों को समुन्नत स्थिति में बदलते थे।

अज्ञान और अभावों की निवृत्ति के लिए, प्रगति तथा समृद्धि का संवर्द्धन करने के लिए भारतीय प्रतिभाएँ निरंतर विश्व के कोने-कोने में पहुँचती रहीं। इसका विवरण इतिहास के पृष्ठों पर भरा पड़ा है। भारतीय धर्म-पुराणों में भी उन प्रमाणों और प्रयासों का विस्तृत विवरण मिलता है। यथा-अमेरिका से व्यास ऋषि ने अपने पुत्र शुक्रदेव को मोक्षधर्म का उपदेश लेने के लिए भारत में मिथिलापुरी में राजा जनक के पास भेजा।



विद्वान् पीकाक के अनुसार मिश्र के प्राचीन निवासी अपने को सूर्यवंशी क्षत्रिय कहते थे और अपने को आदि मनु की संतान मानते थे । सूर्य देवता उनका उपास्य था ।

पुराणों के अनुसार महर्षि विश्वामित्र के पुत्र आस्ट्रेलिया चले गए थे और उस देश को नए सिरे से बसाया था । इसी प्रकार तृष्णविन्दु राजकुमार भी उस देश में जा बसे थे । ऋषि पुलस्त्य भी उस देश में धर्म संस्थापना के लिए गए थे । महाभारत में उद्दालक ऋषि के पाताल लोक में जाने और धर्म प्रचार-जन जागरण करने का वर्णन है । अमेरिका को ही भारतीय इतिहास-पुराणों में पाताल लोक कहा गया है ।

भविष्य पुराण के अनुसार कण्व ऋषि मिश्र देश गए और उन्होंने दस हजार म्लेच्छों को सुसंस्कृत बनाया । इनमें से कुछ को शूद्र, कुछ को वैश्य और कुछ को क्षत्रिय की संज्ञा दी ।

सरस्वत्या स या कण्वो मिश्रदेशमुपाययौ । म्लेच्छा संस्कृत्य चाभाष्यन्तदा दशसहस्रकान् । (भविष्य पुराण)
कर्नल अल्काट ने 'थियोसोफिस्ट' में यह प्रमाणित किया था कि अब से कोई आठ हजार वर्ष पहले भारतवासी मिश्र पहुँचे और उन्होंने उस क्षेत्र को एक उपनिवेश की तरह बसाया । इतिहासवेत्ताओं का कथन है कि ईरान, सीरिया आदि मध्य-पश्चिमी एशिया में बसे हुए आर्य लोग समीपवर्ती छोटे से समुद्र को पार करके अफ्रीका महाद्वीप में पहुँचे और उन्होंने वहाँ बसने तथा सभ्यता विस्तार का उपक्रम चलाया ।

भगवान् बुद्ध ने जन मानस में छाए हुए अज्ञानांधकार को हटाने और ज्ञानामृत से आलोकित करने के लिए धर्म चक्र प्रवर्तन अभियान चलाया और उसे किसी देश-धर्म तक सीमित न रखकर विश्वव्यापी बनाने का कार्यक्रम निर्धारित किया । वाराणसी से छै मील दूर सारनाथ में अपने पाँच शिष्यों-कौडिन्य, वज्र, महानाभ, भद्र और अश्वजित को बुलाकर बुद्ध ने इन्हें प्रव्रज्या की दीक्षा दी और कहा-“भिक्षुओं ! अब तुम जाओ और मनुष्यों तथा देवताओं की भलाई के लिए परिव्राजक बनो । तुम सारे विश्व में उच्च आदर्शों का प्रचार करो और पवित्र जीवन जीने की विद्या सिखाओ ।”

सम्राट् अशोक ने तो बौद्धिक क्रांति को विश्वव्यापी बनाने के लिए एक सुनिश्चित योजना तैयार की थी और नौ प्रचारक मंडल देश-देशांतरों को भेजे थे । इन नौ प्रचारकों-मज्झांतिक, महादेव, राकीवत, योधम्म, राकीवत, महाधम्म, मज्झिम आदि महाराकीवत, सोण उत्तर और महिंद आदि के नेतृत्व में भिक्षु मंडलियाँ भारत के सुदूर प्रांतों और विश्व के विभिन्न भागों की यात्राओं को निकलीं थीं । गांधार, यूनान, अरब, मिश्र, पेरू, सालमीन, लंका, मध्य एशिया, पूर्वी द्वीप समूह आदि देशों में यह मंडलियाँ कष्टाध्य यात्राएँ पूरी करती हुई पहुँचीं और वहाँ की भाषा संबंधी कठिनाइयों का सामना करते हुए धर्म-संस्थापन में, लोक मंगल के अपने विजय अभियान में आशातीत सफलताएँ प्राप्त कीं ।

भारत से विदेशों में जाकर जिन विद्वानों ने बौद्ध-धर्म के प्रचार-विस्तार में अपने को खपा दिया, उनकी संख्या हजारों है । पर इतिहास में जिनका नाम विशेष कर्तृत्व के साथ जुड़ा है, उनमें आचार्य दीपकर, श्रीज्ञान, कुमारजीव, परमार्थ, बोधि धर्म, बोधिरुचिका विशेष उल्लेखनीय हैं । इन लोगों ने अपनी शिष्य-मंडली इसी प्रयोजन के लिए प्रशिक्षित की थी । जिस देश में जिन्हें जाना था, उन्हें वहाँ की भाषा, संस्कृति, स्थिति, यात्रा, संभावना आदि के संबंध में सुविस्तृत ज्ञान कराने का विशेष प्रबंध किया गया था । विक्रमशिला विहार में अध्ययन करने के उपरान्त उन्होंने तिब्बत, सुवर्णद्वीप (आधुनिक सुमात्रा) ताम्रलिप्ति (आधुनिक तामलुक) की मुहिम सँभाली । वे १०८ शिक्षा केन्द्रों का संचालन करते थे । वे नालंदा, उदंतपुरी, वज्रासन और विक्रमशिला महाविहारों का अनुकरण करते हुए स्थान-स्थान पर धर्म-धारणा तथा प्रचार-प्रक्रिया करने में निरत थे । तिब्बत उनका कार्यक्षेत्र विशेष रूप से रहा ।

चीन में कार्यरत कुमारजीव काश्मीरी पंडित थे । उनका काल ३४४ से ४१३ तक का माना जाता है । चीन उनका विशेष कार्यक्षेत्र था, यों उन्होंने मध्य एशिया के खेतान, काशगर, यारकंद तथा तुर्किस्तान के अन्य क्षेत्रों को भी बौद्ध प्रकाश से आलोकित किया था । उन्होंने अपने जीवन-काल में तीन हजार से अधिक सुयोग्य धर्म-प्रचारक और साहित्य सृजेता तैयार किए थे । उन्होंने वहाँ की भाषाएँ सीखीं और वहाँ के निवासियों को लेखनी तथा वाणी से धर्मनिष्ठ बनाने के लिए अनवरत श्रम किया । बौद्ध-धर्म के विस्तार में ऐसे ही नैष्ठिक धर्म-प्रचारकों का त्याग-बलिदान काम आया है ।

उज्जैन विश्वविद्यालय के छात्र परमार्थ जिनका दूसरा नाम गुणरत्न था, चीन चले गए और उस देश की भाषा



को संस्कृत तथा पाली में लिखे बौद्ध-साहित्य से समृद्ध करने में अनवरत रूप से आजीवन लगे रहे। वे सन् ५४८ में नानकिंग (चीन) पहुँचे। इक्कीस वर्ष कार्यरत रह कर वे ५६९ में उसी देश की भूमि में अपनी मिट्टी को मिला गए। इस अवधि में उन्होंने जितना अनुवाद कार्य किया वह २७५ बड़ी जिल्दों में संग्रहीत है।

इसी प्रकार बोधि-धर्म का कार्य है। उन्हें धर्म-बोधि भी कहते हैं। वे सन् ५२६ में चीन पहुँचे और दस वर्ष कार्य करके ५३६ में उसी भूमि में समा गए। उन्होंने साधनात्मक शिक्षा का बहुत प्रसार किया। चीन के अनेक सम्राटों तथा विभूतिवानों को उन्होंने असाधारण रूप से प्रभावित किया था और उनके द्वारा धर्म-प्रचार के अनेक महत्वपूर्ण साधन जुटाए जाने का पथ-प्रशस्त किया था।

इसी शृंखला में दक्षिण भारत से चीन पहुँचने वाले विद्वान बोधिरुचि को भी रखा जा सकता है। वे युवावस्था में ही चीन चले गए थे और शताधिक आयुष्य भोगकर सन् ७२७ में वहीं स्वर्गवासी हुए। उन्होंने लेखनी, वाणी तथा प्रचार-प्रक्रिया से जो कार्य किया, उसने चीन को बुद्ध-दर्शन के चरणों में श्रद्धावानत बनाने में चिरस्मरणीय भूमिका प्रस्तुत की।

भारतीय बौद्ध भिक्षुओं का प्रवाह चीन की ओर अनवरत रूप से बहता ही रहा। उसमें कमी-वेशी के ज्वार-भाटे भले ही आते रहे हों, पर क्रम की निरंतरता अनवरत रूप से चलती ही रही। ईसा की पाँचवीं शताब्दी में संघदेव, बुद्धभद्र, बुद्धजीव, गुणवर्मा, गुणभद्र, धर्ममित्र, कालयशस, संघवर्मा, धर्मरक्ष आदि के नाम इतिहास के पृष्ठों पर अविस्मरणीय रूप से अंकित हैं। इनके अतिरिक्त उन सहस्रों धर्म-प्रचारकों के नाम अविज्ञात हैं, जिन्होंने धर्म-चक्र प्रवर्तन के लिए अपनी मातृभूमि और स्वजन-संबंधियों का मोह छोड़कर दुर्गम यात्राएँ कीं और चीन में बस कर धर्म प्रचार करते हुए वहीं मर-खप गए।

गुणवर्मन के पूर्वज काश्मीर के राज परिवार में से थे। पर उसके पिता संधानंद बौद्ध-धर्म में दीक्षित होकर एकांत साधना में संलग्न थे। उन्होंने दिनों गुणवर्मन का जन्म हुआ। किशोरावस्था में उन्होंने बौद्ध-धर्म का गंभीर अध्ययन किया और २० वर्ष की आयु में संन्यास ग्रहण करके धर्म प्रचार के लिए निकल पड़े। पहले वे लंका पहुँचे, इसके बाद जावा गए। उनके धर्मोपदेशों से प्रभावित होकर जावा नरेश बौद्ध बन गए और उन्होंने अपनी समस्त प्रजा को भी उसका अनुयायी बना दिया। राजाज्ञा प्रसारित हुई—“सभी प्रजाजन गुणवर्मन का आदर करें, हिंसा न करें, धर्मात्मा बनें और भगवान् बुद्ध के बताए मार्ग पर चलें।”

सन् ४३१ में गुणवर्मन चीन पहुँचे। राजा ‘संगविनति’ उनसे स्वयं मिलने आया, उनका राजकीय स्वागत किया और दीक्षा ग्रहण की। उनके लिए जेतवन विहार बनवाया। गुणवर्मन असाधारण विद्वान्, तपस्वी और प्रतिभा संपन्न थे। उन्होंने अनुवाद कार्य भी किया, पर उनका मुख्य कार्य घूम-घूमकर धर्म प्रचार करना ही रहा। भारत में घर-घर कही-सुनी जाने वाली ‘सत्यनारायण कथा’ की तरह उन्होंने उपदेश के लिए ‘सद्धर्म पुण्डरीक’ कथा प्रचलित की, जिससे धर्म प्रचार का कार्य क्रमबद्ध रूप से चलने लगा। कितने ही धर्मोपदेशक उस कथा-प्रवचन को लेकर जनता में घर-घर अलख जगाने के लिए कटिबद्ध हो गए।

गुणवर्मन का सबसे महत्वपूर्ण कार्य था चीन में महिला भिक्षुणियों का उद्भव और संगठन। नारी जागरण के पिछड़े क्षेत्र में उनके इस प्रयास में भारी जागृति उत्पन्न हुई। उस देश में ५०० वर्ष से बौद्ध धर्म प्रचलित था, पर उसमें महिलाएँ केवल दर्शक या अनुगामिनी मात्र थीं। वे संगठित रूप से इस महान मिशन के लिए कुछ कर सकें, ऐसा कोई प्रयत्न तब तक नहीं किया गया था। गुणवर्मन ने उस अभाव की पूर्ति की। उन्होंने महिला संघ की स्थापना करके उन्हें भी भिक्षुणी बनकर धर्म-प्रचार कार्य में निरत होने का अवसर दिया। गुणवर्मन के बाद गुणभद्र, धर्म, जलाशय, धर्मरुचि, रत्नमति, गौतम प्रज्ञारुचि जैसे प्रतिभाशाली और उद्भट विद्वान् धर्म प्रचारक चीन पहुँचे और धर्म विजय अभियान की सफलता का पथ-प्रशस्त किया।

मय सभ्यता अमेरिका में अमेरिका के पुरातत्ववेत्ता वहाँ प्राचीन काल में समुन्नत ‘मय’ सभ्यता होने की बात स्वीकार करते हैं। महाभारत में मय सभ्यता का पर्याप्त उल्लेख मिलता है। पांडवों का अनौखा राजप्रासाद मित्रता के नाते मय शिल्पी ने ही बनाया था। सूर्य सिद्धांत की रचना के लिए किए गए ज्योतिर्विदों के प्रयास के संदर्भ में लिखा है—



“अल्पावशिष्टे तु कृते, मय नामा महासुरः ।”

अर्थात्-शेष बचा थोड़ा सा शोध कार्य मयासुर ने पूरा किया ।

जम्बू द्वीप महाभारत में द्रौपदी युधिष्ठिर की प्रशंसा करते हुए कहती है-“हे महाराज ! आपने जम्बू द्वीप जीतकर उसे आबाद कर दिया । फिर क्रौंच द्वीप आदि अनेक द्वीप-उपद्वीपों को सागर पार जाकर बसाया ।

यहाँ ध्यान देने योग्य बात है कि नए-नए स्थानों को बसाना भारतीय वीरों का लक्ष्य रहा है ।

मानवीय सभ्यता का आदि स्रोत भारत साम्बपुराण, अध्याय २५ में वर्णन है-“लवण सागर से आगे क्षीर सागर से घिरा शाक द्वीप है । यह जंबू द्वीप से काफी दूर है । उसमें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र चारों वर्ण के लोग बसते थे । वे सूर्य उपासक थे, उनके कुल अठारह वेदपाठी थे ।

भारत से पराक्रमी मग जाति मंगोलिया जाकर बसी थी, उसी आधार पर मंगोलिया नाम रखा गया था । इसी क्षेत्र को शाक द्वीप तथा निवासियों को शक भी कहा जाता है । मग और शक एक ही वंश के दो नाम थे । शाक द्वीप में मग लोगों द्वारा निवास तथा शासन करने की स्पष्ट चर्चा महाभारत में भी की गई है ।

अफ्रीका में पाए जाने वाले जुलु लोग ‘झल्ल’ वंश के क्षत्रियों की संतानें हैं । प्रो. टेलर ने अपने ग्रंथ ‘ओरिजन ऑफ आर्यन्स’ में ऐसे अनेक प्रमाण प्रस्तुत किए हैं, जिससे वर्तमान योरोपियन्स नस्ल का, आर्यरक्त के साथ मंगोल जाति वाली महिलाओं का संकरण होने का उद्भव माना गया है । “ऋग्वैदिक इंडिया” नामक ग्रंथ में भी इसी तथ्य की पुष्टि की गई है । चीन, जापान, वर्मा, श्याम आदि देशों में बसने वाली जातियों का उद्भव आर्य जाति से होना उमेश चंद्र विद्यारत्न कृत “मानवेर आदि जन्मभूमि” नामक बंगला ग्रंथ में किया गया है ।

प्रो. हीरन ने चीन निवासियों के अति प्राचीन उद्भव स्रोतों का वर्णन करते हुए लिखा है कि चीन को भारत का ही विकास-विस्तार कहा जा सकता है । स्कंद पुराण के अनुसार यवनों की उत्पत्ति तुर्वस से हुई । तुर्वस राजा ययाति का पुत्र था, जो वहाँ जाकर बस गया था । शक राजकुमार से शक जाति उत्पन्न हुई । यह शक राजा इक्ष्वाकु का पौत्र था । मिश्र, चीन, ग्रीक आदि के निवासी ही प्राचीन काल से यवन और शक के नाम से संबोधित किए जाते थे । पारसी लोग फारस में जाकर बसने से पहले भारत के निवासी थे । ईरानी लोग आर्यान् शब्द के अपभ्रंश हैं, जो भारत के ही मूल निवासी थे । अरब देशों में बसने वाली शक जाति व्रतहीन ब्राह्मणों से उत्पन्न हुई है । उन्हीं में से एक को ‘शेख’ भी कहते हैं । आस्ट्रेलिया की आदिम जातियों का मूल भारत ही है । मनुस्मृति में स्पष्ट उल्लेख है कि धीरे-धीरे क्रियालोप हो जाने से ब्राह्मणों का संपर्क टूट जाने से संसार में फैली हुई क्षत्रिय जातियाँ वृषल और दस्यु बन गईं । पौण्ड्र, ओड्र, द्रविड़, कम्बोज, यवन, शक, दरद, खस आदि जातियाँ इसी प्रकार बनीं । वे आर्य भाषा भूलकर म्लेच्छ भाषा तथा परंपरा अपना बैठीं ।

विश्व के समस्त भूभाग में भारतीय धर्म एवं संस्कृति का वैभव-विस्तार का प्रमाण सिद्ध है । इन सभी महाद्वीपों में किसी समय भारतवासी पहुँचे हैं और उन क्षेत्रों के विकास में बहुमूल्य योगदान देते रहे हैं । यही कारण है कि इन देश के पुरुषार्थी एवं परमार्थ परायण महामानवों को विश्व नागरिकों द्वारा जगद्गुरु, चक्रवर्ती शासक, देव-मानव आदि के नाम से संबोधित किया जाता रहा है ।

इति श्रीमत्पञ्चापुराणे देवसंस्कृतिखण्डे ब्रह्मविद्याऽऽत्मविद्ययोः, युगदर्शनयुगसाधनाप्रकटीकरणयोः,
श्रीकात्यायन ऋषि प्रतिपादिते “देवसंस्कृतिजिज्ञासे,” ति
प्रकरणो नाम प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥





॥ अथ द्वितीयोऽध्यायः ॥

❀ वर्णाश्रम-धर्म प्रकरणम् ❀

द्वितीये दिवसे चाद्य सत्रस्यास्यास्तु संस्कृतेः ।
उत्साहः संगतानां स सन्तोषः श्लाघ्यतां गतौ ॥ १ ॥
द्वितीयस्य दिनस्याथ सत्रं शिक्षणदं शुभम् ।
प्रारब्धं बोधयन् सर्वान् विदुषोऽध्यक्ष आलपत् ॥ २ ॥

भावार्थ—आज संस्कृति सत्र के दूसरा दिन, सम्मिलित होने वालों का उत्साह और संतोष देखते बनता था । दूसरे दिन का सत्र-शिक्षण आरंभ हुआ । सभी विद्वानों को संबोधित करते हुए सभाध्यक्ष कात्यायन बोले ॥ १-२ ॥

कात्यायन उवाच—

धर्मलग्नाः साधका हे भारतोत्पन्नसंस्कृतेः ।
विद्यते मेरुदण्डस्तु धर्मो वर्णाश्रमानुगः ॥ ३ ॥
ब्राह्मणः क्षत्रियो वैश्यः शूद्रश्चेति चतुर्विधः ।
वर्णोऽस्ति सन्ति चत्वार आश्रमाः क्रमशस्त्वमे ॥ ४ ॥
ब्रह्मचर्यं गृहस्थो स वानप्रस्थोऽथ शोभनः ।
संन्यासश्चेति सर्वेऽपि परस्परगता इव ॥ ५ ॥
विभाजनमिदं देवसंस्कृतेरनुयायिभिः ।
स्वीकार्यं समहत्त्वं च विचार्यमपि सन्ततम् ॥ ६ ॥
अस्योपयोगितायां तु सगाम्भीर्यं च गौरवे ।
अद्य मुख्यश्च जिज्ञासुरभूदारण्यको मुनिः ॥ ७ ॥
विशेषेण तमेवाथ सम्बोध्याध्यक्ष उक्तवान् ।
कात्यायनो महर्षिस्तु ज्वलन् स ब्रह्मतेजसा ॥ ८ ॥
गुणकर्मस्वभावानामाधारेण विभाजनम् ।
वर्णानां भवति प्रायो जन्मना न महत्वगम् ॥ ९ ॥
कर्मकौशलं चैतन्मन्तव्यं जन्मनैव चेत् ।
मन्यते कर्म नैव चेद् वन्ध्यवृक्ष इव स्मृतः ॥ १० ॥
महत्वेनाभियोज्याश्च सर्वे चत्वार एव तु ।
कर्तुं नियोजितामत्र व्यवस्थां तु समाजगम् ॥ ११ ॥
श्रेयः सम्मानमप्येते लभन्तां वर्णसंगताः ।
पुरुषा अत्र नो ग्राह्यो भावोऽयमुच्चनीचयोः ॥ १२ ॥

भावार्थ—कात्यायन बोले—हे धर्म परायण सद्ज्ञान साधको ! भारतीय संस्कृति का मेरुदंड वर्णाश्रम धर्म है । ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र—यह चार वर्ण हैं और ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास यह चार आश्रम, जो परस्पर क्रमबद्ध हैं । देवसंस्कृति के अनुयायियों को, इस विभाजन को समुचित महत्व देना चाहिए और उनकी उपयोगिता—आवश्यकता एवं गरिमा पर गंभीरतापूर्वक विचार करना चाहिए । आज के प्रमुख जिज्ञासु मुनिवर आरण्यक थे, उन्हीं को विशेष रूप से संबोधित कर ब्रह्मतेज से दुर्धर्ष सत्राध्यक्ष कात्यायन ने

कहा-वर्णों का विभाजन गुण-कर्म-स्वभाव के आधार पर होता है । यह वर्गीकरण जन्मजात रूप से महत्वपूर्ण नहीं है । । इन्हें कर्म-कौशल के अनुरूप समझा जाना चाहिए । यदि जनम से किसी वर्ण में है, पर कर्म तदनुकूल नहीं है, तो वह बाँझ-वृक्ष के समान है । समाज-व्यवस्था को सुनियोजित रखने के लिए इन चारों को ही महत्व मिलना चाहिए । इन सभी वर्णों के लोगों को समान श्रेय-सम्मान मिलना चाहिए । इनमें छोटे-बड़े या ऊँच-नीच जैसे भेद-भाव नहीं बरतने चाहिए ॥ ३-१२ ॥

व्याख्या—देवसंस्कृति को अनायास ही सर्वश्रेष्ठ होने का सुयोग नहीं मिला । इसके अंतर्गत हुए समाजपरक सभी निर्धारण ब्रह्मवर्चस् संपन्न दूरदृष्टा ऋषियों की अन्वेषण बुद्धि के परिणाम हैं । ऋषिगणों ने वर्ण एवं आश्रम के रूप में समुदाय एवं वैयक्तिक जीवन को जो चार वर्गों में विभाजन किया है, वह सर्वकालीन, सार्वभौम एवं हर परिस्थितियों में सत्य की कसौटी पर उतरने वाला है । सुव्यवस्थित समाज, जिसमें सभी के लिए उनके कर्मों के अनुरूप उत्तरदायित्वों का निर्धारण किया गया हो, सांस्कृतिक सुदृढ़ता एवं एकता के लिए उत्तरदायी है । यह पूर्व निर्धारित सुनियोजन देवसंस्कृति की ही विशेषता है एवं इसी कारण यह मानवी गरिमा की ज्ञान-गंगा आदि काल से प्रभावित होती आई है ।

भारतीय धर्म को वर्णाश्रम धर्म कहा गया है । चार वर्णों से तात्पर्य है—क्रिया-कलापों में उच्चस्तरीय प्रयोजनों के लिए निर्धारण । चार आश्रमों से तात्पर्य है—आयुष्य का भौतिक एवं आत्मिक उद्देश्यों के लिए सुनियोजन । यह विभाजन बड़ा ही वैज्ञानिक, प्रगतिशील और उपयोगी रहा है । चार वर्णों में विभाजित ऋषि कालीन समुदाय एक आर्य जाति के सूत्र में आबद्ध था । सब आर्य थे और सबको समान अधिकार मिले हुए थे । यदि यह विभाजन ऊँच-नीच अथवा छोटे-बड़े के आधार पर हुआ होता, तो संभवतः समाज का कोई भी सदस्य इसे मानने को तैयार न होता । यदि जोर-जबर्दस्ती के आधार पर किया गया होता, तो संभवतः विद्रोह पनप उठता एवं भयानक गृहयुद्ध होता । इसी तथ्य को स्पष्ट करते हुए महर्षि कात्यायन यहाँ समझाते हैं कि ऋषियों द्वारा स्थापित इस विज्ञान सम्मत वर्ण व्यवस्था का निर्धारण बड़ा सोच-समझकर सर्वसम्मति से हुआ था । इस सर्वसम्मत विधान को सारा समाज शिरोधार्य करता हुआ अपना कर्तव्य करता चला आया । वस्तुतः संस्कृति की यह सर्वश्रेष्ठ अवधारणा 'वर्ण-व्यवस्था' सामाजिक विघटन का कारण नहीं है । इसका कारण तो वे विकृतियाँ हैं, जो वे कालांतर में उपद्रवों, आक्रमणों एवं सामाजिक अस्त-व्यस्तता के कारण उत्पन्न हो गईं एवं मध्यकाल में निवारण हेतु जिनके लिए नहीं के बराबर प्रयास हुए ।

आदिकालीन भारतवर्ष में आर्यों की अपेक्षा अनार्यों की संख्या अधिक रही है । जहाँ आर्य सृजनात्मक विचारधारा के अनुरूप कर्म करते हुए सभ्य, सुसंस्कृत, विकासोन्मुख व उन्नत समाज का निर्माण करते हुए एक स्थायित्व लाने का प्रयास करते थे, वहाँ लूटमार करके अपनी आजीविका चलाने वाले अनार्य आए दिन उन पर आक्रमण कर दिया करते थे । उनका सामना करने हेतु सारे आर्य समुदाय को निर्माण कार्य छोड़कर युद्ध में लग जाना पड़ता था और इस प्रकार सभी बनी-बनाई व्यवस्था बिगड़ जाती थी । फिर नए सिरे से काम शुरू करना पड़ता था । खेत उजड़ जाते थे, शिल्प नष्ट हो जाते थे और योजनाएँ बिगड़ जाती थीं । साथ ही सैकड़ों महान् मस्तिष्क कंट कर रणभूमि में गिर जाते थे, जिससे इनमें चल रही विकास की विचारधाराएँ जहाँ की तहाँ समाप्त हो जाती थीं । इस प्रकार आए दिन बड़ी-बड़ी हानियाँ होती रहती थीं । जितना आगे बढ़ पाते थे, उतना ही पीदे हट जाना पड़ता था ।

निदान अनार्यों की इस बर्बरता से परेशान होकर समाज के मनीषी-महात्माओं ने गहराई से विचार कर इस समस्या का कोई स्थायी हल निकालने का निश्चय किया ।

अस्तु, उन्होंने विचार किया और पूरे समाज को चार वर्णों के नाम से चार वर्गों में विभक्त कर दिया । एक वर्ग में उन्होंने वे व्यक्ति रखे, जो चिंतनशील स्वभाव के थे और अध्ययन एवं अध्यापन, समाज-सेवा एवं लोक नेतृत्व में जिनकी रुचि सर्वोपरि थी । इस वर्ग को उन्होंने 'ब्राह्मण' कहा । दूसरे वर्ग में वे लोग लिए गए, जो स्वभाव से दुर्धर्ष और साहसी थे । शरीर से अपेक्षाकृत हृष्ट-पुष्ट और संग्राम कार्य में

जिनकी रुचि सर्वोपरि थी। इनको 'क्षत्रिय' कहा गया। तीसरे वर्ग में वे शामिल किए गए, जो स्वभाव से उत्पादक, संगठनकर्ता, मितव्ययी, शांत और सहिष्णु थे। कृषि एवं वाणिज्य व्यवसाय में जिनकी रुचि सर्वोपरि थी। इन तीसरे वर्ग के लोगों को 'वैश्य' बताया गया। चौथे वर्ग में उन सब लोगों को रखा गया, जो अविशेष स्वभाव, साधारण रुचि और सामान्य शिल्प के थे और जो उपर्युक्त तीनों में से किसी में भी समस्थ न हो सकते थे, इनको 'शूद्र' की संज्ञा दी गई।

यह समग्र विभाजन गुण, कर्म, स्वभाव के अनुरूप हुआ। जन्म से तो सभी शूद्र अर्थात् अनगढ़ होते हैं। बड़े होने पर उनकी भावना एवं निर्धारण के अनुरूप वर्ण एवं आश्रम का निर्धारण होता है। जन्म से किसी भी वर्ण में हो, पर यदि कर्म उस निर्धारण के प्रतिकूल है, तो उस व्यक्ति का कार्य के अनुरूप ही मूल्यांकन होगा। संस्कार ही वर्ण निर्धारण करते हैं।

विडंबना यह है कि आज मात्र वैश्य वर्ण और गृहस्थाश्रम की प्रमुखता है। शेष वर्ण और आश्रम तो विस्मृति के गर्त में चले गए। आवरण धारण कर लिए जाते हैं, पर उनके साथ जुड़े कर्तव्यों की ओर ध्यान ही नहीं दिया जाता। वर्ण के तो वंश साथ जुड़ गए एवं आश्रम धर्म लुप्त हो गया।

जैसा स्पष्ट है, लोक शिक्षण में संलग्न समुदाय को 'ब्राह्मण', कुकर्माँ के कुप्रचलनों के विरुद्ध जूझने वालों को 'क्षत्रिय', उपार्जन का दायित्व सँभालने एवं समाज को भौतिक दृष्टि से सुसंपन्न बनाने वालों को 'वैश्य' और श्रमिक समुदाय को शूद्र कहा गया है। इन चारों को ही समान महत्त्व और समान गौरव-सम्मान है।

जब सौ वर्ष की आयु थी, तब २५ वर्ष ब्रह्मचर्य और पच्चीस वर्ष गृहस्थ में लगते थे। यह पूर्वार्द्ध निजी जीवन था। उत्तरार्द्ध में पच्चीस वर्ष वानप्रस्थ-परिव्राजक बनकर और पच्चीस वर्ष स्थान विशेष पर आश्रम संचालन में लगते थे। यह 'संन्यास' था। जो इनकी मर्यादाओं का पालन करे, उसी का वर्णाश्रम धर्म पालन सच्चा है। वंश के आधार पर, वर्ण और वेष के आधार पर आश्रम की कल्पना सर्वथा अवास्तविक है।

वाल्मीकि नीच कुल में उत्पन्न होने पर भी महान् ऋषि कहलाए और रावण-कुंभकरण आदि ब्राह्मण परिवार में जन्मने पर भी नीच कहलाए व तिरस्कृत हुए। इन दिनों जन्म से वर्ण बनाने का और विशेषतया एक-दूसरे को नीच-ऊँच मानने का प्रचलन सर्वथा अनुपयुक्त है। यह मध्यकालीन सामंतवादी अंधकार युग के प्रचलन हैं, जिसमें समर्थों को सम्मानित और असमर्थों को अपमानित किया जाने लगा। स्त्री और शूद्र, प्रतिशोध लेने की क्षमता न होने से नीच माने गए। यह प्रचलन समाज के नाम पर कलंक है एवं संस्कृति के स्वरूप को मलिन करने वाला। समय की माँग है कि इसे उलटा जाय एवं पुनः उस शाश्वत-जाज्वल्यमान स्वरूप को सामने लाया जाय।

ऊँच-नीच का कारण एक रात को जब पुजारी मंदिर का द्वार बंद कर चला गया, तो देव मूर्ति बने बैठे पाषाण से, स्तंभ के पाषाण ने पूछा—“क्यों भाई, हम सब एक ही पर्वत पर से चुनकर यहाँ लाए गए हैं। फिर तुम्हें ही यह पूज्य-पद क्यों मिला, जबकि मैं यहाँ छत का बोझ सहने को स्तंभ बना हुआ हूँ?” देवता के आसन पर प्रतिष्ठित पाषाण कुछ विचार कर बोला—“बंधु! मैं स्वयं इस रहस्य को नहीं जानता। कल मंदिर के पुजारी से पूछूँगा।” अगले दिन जब पुजारी अर्चना के अनंतर हाथ जोड़कर विनय-मुद्रा में खड़ा हो गया, तो देव पाषाण बोला—“विद्वान् पुजारी! मंदिर में जितने भी प्रस्तर हैं, वे सभी समान गुण-जाति के हैं, फिर मैं ही पूजा का पात्र कैसे बन गया? क्या यह रहस्य समझा सकोगे?”

“आपने बड़े महत्व की बात पूछी है भगवन्!”—पुजारी बड़े ही विनम्र वचनों में बोला—“एक गुण-धर्म तथा जाति की सभी वस्तुओं का उपयोग एक पद ही हो, यह सर्वथा असंभव है। प्रकृति किसी को भी समान रूप से रहने देना नहीं चाहती। हम मनुष्यों में भी ऐसा ही होता है। बहुत से मनुष्य समान प्रतिभा तथा जाति-गुण के होते हैं, परंतु उनमें से अपने श्रेष्ठ कर्मों के कारण कोई एक ही वरिष्ठ स्थान पाता है। शेष सभी उसके नीचे रहते हैं, किन्तु जो नीचे हैं, उन्हें अपने आपको हेय नहीं मानना चाहिए क्योंकि सृष्टि परिवर्तनशील है। इसमें अपने संस्कारों की परिणति के

फलस्वरूप कौन, कब, कहाँ चला जाएगा, इसका कोई ठिकाना नहीं। इसलिए बुद्धिमान जन पद की न्यूनाधिकता से विचलित नहीं होते।"

तथागत द्वारा शिष्य मंडली ने भगवान् बुद्ध से पूछा—“मनुष्य के कितने वर्ग हैं ?” तथागत ने उत्तर दिया—
वर्ग विभाजन “एक वे जो अपना ही लाभ देखते हैं, भले ही इससे दूसरों को कितनी ही हानि उठानी पड़ती हो। दूसरे वे जो, औरों का भला करते हैं। तीसरे वे, जो अपना भी भला करते हैं और दूसरों का भी। चौथे वे प्रमादी हैं, जो न स्वयं सुखी रहते हैं, न दूसरों को सुखी रहने देते हैं।”

तथागत ने कहा—“मेरी समझ में वे श्रेष्ठ हैं जो अपना भी भला करते और साथ-साथ दूसरों का भी।

भगवान् भाव जाति वस्तुतः जन्म से नहीं, कर्म से निर्धारित होती है। भविष्य पुराण ब्रा० अ० ४०/३५ में स्पष्ट
देखते हैं, किया है कि गौओं एवं घोड़ों की भाँति मनुष्य की भी एक जाति है। इसी पुराण के अध्याय ४४
जाति नहीं श्लोक ३४ में लिखा है, कि यदि वर्ण जन्मतः होता, तो वह बाहर के चिह्नों से प्रकट होता।

महाभारत काल में महात्मा विदुर बहुत ही सज्जन और साधु स्वभाव के व्यक्ति थे। यद्यपि ये दासी पुत्र थे, फिर भी अपने चरित्र की विशेषताओं के कारण महाभारत के महत्वपूर्ण पात्रों में इनकी गणना की जाती है। भगवान् श्रीकृष्ण जब कौरव-पांडवों में संधि कराने के प्रयत्न में हस्तिनापुर गए, तो वे दुर्योधन के राजकीय सम्मान को त्यागकर विदुर जी के यहाँ ठहरे, जहाँ भक्तिभाव संपन्न विदुरानी ने उनका भाव-विभोर होकर सत्कार किया और विदुर जी ने अपने आपको धन्य माना।

वस्तुतः ईश्वर को ऐश्वर्य संपदा और वैभव नहीं, प्रेम तथा भक्ति ही प्रभावित करते हैं। वे जाति से, वर्ण-संप्रदाय से नहीं बँधे हैं। कर्मों एवं भावनाओं के अनुरूप ही व्यक्ति की पात्रता उनके अनुग्रह को पाने योग्य विकसित होती है। तभी तो भक्त रैदास ने कहा है—

“हरि को भजै सो हरि का होई। जाति-पाँति पूछे नहि कोई॥”

जाति नहि, तथागत के प्रमुख शिष्य आनंद श्रावस्ती में भिक्षाटन कर रहे थे। तपती धूप थी ! सहसा उन्हें
पानी प्यास लगी। कुछ ही कदमों पर पहुँचे। वहाँ एक तरुणी पानी भर रही थी आनंद ने उससे पानी माँगा। तरुणी बोली—“साधु महाशय ! मैं चांडाल कन्या हूँ। मेरे हाथ का जल आपके लिए अपावन है।” “मैं तुमसे जाति नहीं पूछा रहा, पानी माँग रहा हूँ।” आनंद के उत्तर से चकित युवती ने उन्हें पानी पिला दिया।

इसी आदर्श को अपनाने वाले महात्मा नारायण स्वामी भी थे।

जाति-पाँति और महात्मा नारायण स्वामी ने एक बार कहा था—“जाति-पाँति और अस्पृश्यता का बंधन
अस्पृश्यता हिंदुओं हिंदू जाति के लिए कलंक का टीका है। इसने सारी जाति को छिन्न-भिन्न कर रक्खा
के लिए कलंक है। हिंदू जाति में परस्पर घृणा और द्वेष का प्रचार इसी की कृपा का कुफल है।
का टीका इसलिए भारतीय संस्कृति की उन्नति के लिए इस बंधन को सर्वप्रथम तोड़ना आवश्यक है।” इस तथ्य से कोई भी विचारशील व्यक्ति इन्कार नहीं कर सकता।

शबरी की गरिमा शबरी यद्यपि जाति की भीलनी थी, किन्तु उसके हृदय में भगवान् की सच्ची भक्ति भरी
किसलिए ? हुई थी। जहाँ वह रहती थी, उस वन में अनेक ऋषियों के आश्रम थे। उसकी उन
 ऋषियों की सेवा करने और उनसे भगवान् की कथा सुनने की इच्छा रहती थी। अनेक
 ऋषियों ने उसे नीच जाति की होने के कारण कथा सुनाना स्वीकार नहीं किया और दुत्कार दिया।

किन्तु इससे उसके हृदय में न कोई क्षोभ उत्पन्न हुआ और न निराशा। उसने ऋषियों की सेवा करने की एक युक्ति निकाल ली। वह प्रतिदिन ऋषियों के आश्रम से सरिता तक का पथ बुहारकर कुश-कंटकों से रहित कर देती और उपयोग के लिए जंगल से लकड़ियाँ काटकर आश्रम के सामने रख देती। शबरी का यह क्रम महीनों चलता रहा, किन्तु किसी ऋषि को यह पता न चला कि उनकी यह सेवा करने वाला है कौन ? शबरी आधी रात रहे ही जाकर अपना काम पूरा कर आया करती थी।

उन्होंने एक रात जागकर पता लगा ही लिया कि यह वही भीलनी है, जिसे अनेक बार दुत्कार कर द्वार से

अध्याय द्वितीय)

(५३

भगाया जा चुका था । तपस्वियों ने अन्त्यज महिला की सेवा स्वीकार करने में परंपराओं पर आघात होते देखा और उसे उनके धर्म-कर्मों में किसी प्रकार भाग न लेने के लिए धमकाने लगे । मातंग ऋषि से यह न देखा गया । वे शबरी को अपनी कुटी के समीप ठहराने के लिए ले गए शबरी अपनी सेवा-साधना चलाती रही । भगवान् राम जब वनवास गए, तो मातंग ऋषि की सरहना की और उन्हें सबसे पहले छाती से लगाया । शबरी की कुटी में राम स्वयं गए और उसका आतिथ्य स्वीकार किया । भगवान् उन्हें ही सर्वाधिक प्यार करते हैं, जो तप साधना की आत्म प्रवंचना में न डूबे रहकर सेवा-साधना को सर्वोपरि मानते हैं ।

आर्यग्रंथों द्वारा महाभारत शांतिपर्व, अध्याय १८८ के दसवें श्लोक के अनुसार, “वर्ण में कोई ऊँच-नीच नहीं, सभी ब्रह्म से उत्पन्न हैं ।”

भी पुष्टि

महाभारत का ही एक और प्रमाण है—“हे युधिष्ठिर ! प्राचीन काल में एक ही वर्ण था । कामों को विभाजित करके उन्हें चार वर्ण बनाया गया ।”

भागवत पुराण स्कं० ९-१४ में आता है—“प्राचीनकाल में एक ही वेद, एक ही मंत्र, एक ही देव, एक ही अग्नि और एक ही वर्ण था ।”

“वर्णों-वृणुते,” इस व्युत्पत्ति से स्पष्ट है कि वर्ण वरण किया जाता है, अर्थात् चुना जाता है ।

पुरुष सूक्त के मंत्र यजुर्वेद और ऋग्वेद दोनों में आते हैं, जिनमें ब्राह्मण की मुख से, क्षत्रिय की भुजाओं से, वैश्य की पेट से तथा शूद्र की जंघाओं से उपमा दी गई है । शरीर का कोई भी अंग अछूत अथवा हेय नहीं होता । अपना-अपना अलग ढंग का काम करते हुए भी वे मिल-जुलकर शरीर की संरचना करते हैं ।

मनुस्मृति के अध्याय १० में श्रमिकों की भाँति शिल्पकारों को भी शूद्र कहा है । आवश्यक नहीं कि वे दूसरों की सेवा ही करें । पसीना बहाने वालों, श्रम करने वाले सभी की गणना शूद्रों में की गई है, भले ही वे निजी रूप से निर्माण कार्य करते हों ।

बृहदारण्यक प्रथम अध्याय की चतुर्थ कंडिका में वर्णन है कि ‘पहले एक ही वर्ण था । पीछे कार्य विभाजन सुविधा को देखते हुए उन्हें वर्णों में विभक्त किया गया ।’

महाभारत वन पर्व १४९, श्लोक १८, १९, २० में स्पष्ट लिखा है कि “आरंभिक युग में चारों वर्णों का ज्ञान और आचार एक समान थे । उनके संस्कार वैदिक विधि से होते थे । वर्ण धर्म भिन्न-भिन्न होते हुए भी सब एक ही वैदिक धर्म के मानने वाले थे ।”

कूर्म पुराण अध्याय १०, श्लोक २ में वर्णन है कि “वेद विश्वानों में ज्येष्ठ पुत्र शूद्र हुए, अर्थात् उनसे कुल धर्म छोड़कर अन्य व्यसाय अपनाया ।”

ऋग्वेद ५/६०/५ का कथन है—“मनुष्यों में जन्मजात कोई भेदभाव नहीं । उनमें कोई छोटा-बड़ा नहीं । सब आपस में बराबर हैं । सभी मिलजुल कर लक्ष्य की प्राप्ति करें ।”

यजु० २६/२ में चारों वर्णों को वेद पढ़ने के अधिकार की पुष्टि है । ऋग्वेद १०/५३/५ में सभी को यज्ञ करने के लिए प्रोत्साहित किया गया है ।

यजु० १८/६२/१ में चारों वर्णों को समान रूप से तेजस्वी बनने का निर्देशन है ।

ऋग्वेद के ९/१११/३ में व्यक्ति कहता है—“मैं व्यापारी हूँ । मेरा पिता वैद्य, माता पिसनहारी (शूद्र), फिर भी सब मिलकर एक ही घर में रहते हैं ।”

वायु पुराण में आता है—

“मृत्समद के पुत्र शुनकः, शुनक के शौनक हुए । इन शौनक के चार पुत्र हुए, जो कर्म भेद से ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र कहलाए ।”

हरिवंश पुराण, अध्याय ३१ में आता है —

“भारग्वंश में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र—यह चारों वर्ण हुए हैं ।”

वाल्मीकि रामायण में प्रसंग आया है—

मनुमनुष्याङ्गनयद्राम पुत्रान्यशस्विनः । ब्राह्मणाक्षत्रियान्वैश्याञ्शूद्राश्च मनुजर्षभ ॥

अर्थात्, हे राम ! कश्यप की मनु नामक स्त्री से यशस्वी मनुष्य अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र उत्पन्न हुए ।

आगे उत्तरकांड में कहा गया है—

अपश्यन्तस्तु ते सर्वे विशेषमधिकं ततः । स्थापनं चक्रिरे तत्र चातुर्वर्ण्यस्य सम्मतम् ॥

इस काल के लोगों ने ब्राह्मणों और क्षत्रियों में कोई विशेष तारतम्य न देखकर सर्वसम्पत्ति से मनुष्य जाति को चार वर्णों में बाँटा ।

राज्य संचालन भी किसी वर्ण विशेष के लोगों का अधिकार नहीं था । निषादराज गुह जो कि शूद्र था एक संपन्न राज्य का संचालक था । अयोध्या से वन जाते हुए राम गुह के राज्य में पहुँचे—

तत्र राजा गुहो नाम रामस्यात्मसमः सखा । निषादजात्यो बलवान्स्थपतिश्चेति विश्रुतः ॥

उस देश का गुह नाम का राजा था, वह श्रीरामचंद्र का प्राणों के समान मित्र था और जाति का केवट था तथा उसके पास चतुरंगिणी सेना थी और वह निषादों का राजा कहलाता था ।

तुलसीदास जी ने भी राम चरित मानस में लिखा है—

बरनाश्रम निज निज धरम, निरत वेद पथ लोग । चलहिं सदा पावहिं सुखहि, नहिं भय शोक न रोग ॥

दैहिक दैविक भौतिक तापा । राम राज नहिं काहुहि व्यापा ॥

सब नर करहिं परस्पर प्रीती । चलहिं स्वधर्म निरत श्रुति नीती ॥

अर्थात्, राम राज में सभी लोग अपने-अपने वर्ण और आश्रम के अनुकूल धर्म में लगे हुए हमेशा वेद के रास्ते पर चलते हैं और सुख पाते हैं । उन्हें न किसी बात का भय है, न शोक है और न रोग है ।

राम-राज में देह संबंधी, देव संबंधी तथा भौतिक दुख किसी को नहीं व्यापते । सभी मनुष्य परस्पर प्रेम करते हैं और वेदों में बताई हुई नीति (मर्यादा) में लगे रहकर अपने-अपने धर्म का पालन करते हैं ।

ये समस्त प्रचलन निराधार हैं जन्म-जाति का वस्तुतः कोई आधार नहीं है । डॉक्टर का लड़का डॉक्टर ही हो, कलक्टर का लड़का कलक्टर ही कहा जाय, इसका कोई आधार नहीं । गुण, कर्म, स्वभाव के आधार पर लोगों का वर्ण-समुदाय बदलता रहता है । पर उससे भिन्नता नहीं आती । एक ही परिवार के लोग अध्यापक, पुलिसकर्मी, व्यवसायी, शिल्पी हो सकते हैं । उनके बीच कोई भेदभाव नहीं होता, फिर यह भी आवश्यक नहीं, कि पिता के व्यवसाय को बेटा अनिवार्यतः अपनाए भी । वह बदल भी सकता है और उस परिवर्तन के आधार पर पंडित सभा, सेना-संगठन मंचेंट, एसोसियेशन, लेबर यूनियन आदि का सदस्य हो सकता है । उन्हें आवश्यकतानुसार बदल कर दूसरी समितियों का सदस्य भी हो सकता है । परिवार के लोगों में शैव, वैष्णव, शाक्त, सूर्योपासक, साकारवादी, निराकारवादी आदि भेद रहे, तो इससे परिवार टूटता नहीं ।

जाति-पाँति के नाम पर वर्तमान ऊँच-नीच का प्रचलन नितांत अकारण है । इसका कोई शास्त्रीय आधार नहीं । यह घृणा और अहंकार पर आधारित सामंतवादी प्रचलन है, जिसमें स्त्री, शूद्र जैसे पिछड़े वर्ग को मानवोचित अधिकारों से वंचित किया जाता था और उस अनीति के समर्थन में, पशु-बलि, दास-दासी विक्रय की तरह जहाँ-तहाँ शास्त्रों में प्रक्षेप गिला दिए गए थे ।

रोटी व्यवहार पर शास्त्र विवेचन अथर्ववेद अध्याय ३/३०/६ में कहा गया है—“तुम सबका खान-पान समान हो । एक साथ निर्वाह करो । तुम्हें इस प्रकार आपस में जोड़ता हूँ, जिस प्रकार रथ के पहिये में धुरे गुंथे होते हैं ।”

मनुस्मृति में श्रमिकों को पर्याप्त मान दिया गया है और उन सबको भोजन कराने के उपरांत गृहपति तब भोजन करें, ऐसा विधान है । मनु० ३/११६ में कहा गया है, कि माता, पिता, ऋषि, विद्वान्, बच्चे एवं नौकरों को भोजन कराने के उपरांत गृहपति एवं उसकी स्त्री भोजन करें ।

शिल्पी और श्रमिकों का कहीं भी तिरस्कार नहीं है, वरन् उन्हें समान सम्मान प्रदान करने का प्रावधान है । यजु० १६/२७ में लिखा है—“बढ़ई, लुहार, कुम्हार आदि श्रम जीवियों का समान सत्कार करो ।”

यजु० १९/८० में उल्लेख है कि विद्वान् ब्रह्मवेत्ता भी ऊन और सूत के कपड़े बुनते हैं ।

कूर्म पुराण ७/१६, व्यास स्मृति २/५२, पारासर स्मृति ११/२, बृहद् पाराशर स्मृति अध्याय ६, आपस्तम्ब १/६/१८ में स्पष्ट उल्लेख है कि “शूद्रों का बनाया हुआ भोजन ग्राह्य है।”

मनु० १/३३५ में उल्लेख है—“भोजन सब मिल-जुलकर पकावें और उसे सहभोग की तरह खावें।”

वाल्मीकि रामायण, सुंदरकांड, श्लोक १२ में उल्लेख है कि “दशरथ के यज्ञ में शूद्रों का पकाया हुआ भोजन ब्राह्मण, तपस्वी और शूद्र सब मिल-जुलकर खाते थे।”

महाभारत आदि पर्व १/१९ में उल्लेख है कि “धृतराष्ट्र के यहाँ पूर्ववत् सूर्यकार आदि शूद्र भोजन बनाने के लिए नियत थे।”

विवाहों के संबंध में याज्ञवल्क्य स्मृति में २६१ में लिखा है, कि “पतितों की कन्या को विवाह लें। उससे उपवास का प्रायश्चित्त कर लें।”

मनु० २/२४० में लिखा है “स्त्री रत्न, विद्या, धर्म, शिल्प आदि हर वर्ण के लोगों से ग्रहण करें।”

मनु० ९/२३ में लिखा है, “वशिष्ठ से विवाह करके अक्षमाल और मंदपाल से विवाह करके शारंगी पूज्य बनी, यद्यपि वे अधम वर्ण में जन्मी थीं।”

राजा विचित्रवीर्य निःसंतान थे। व्यास से अनुरोध करके पत्नियों को संतान देने का अनुरोध किया। व्यास जी सहमत हो गए। रानी से दो पुत्र उत्पन्न हुए—पांडु और धृतराष्ट्र। दासी से एक पुत्र हुआ विदुर। लगता है उन दिनों संतान के लिए पर पुरुषों का भी नियोग प्रक्रिया द्वारा सहयोग लिया जाता था, पर उसे गोपनीय न रखने से व्यभिचार नहीं कहा जाता। इसमें कोई जाति भेद नहीं था।

कट्टरता का कारण एवं दुर्भाग्यपूर्ण परिणति

आजकल इस संबंध में इतनी कट्टरता जो पाई जाती है, उसका कारण हमारा दुर्भाग्य एवं अविवेकी ही है। विधर्मियों, शासकों तथा सामंतों ने इस प्रचलन को बढ़ा और दिया, ताकि समूचे समुदाय में एकता न रह पाए। शिकायतें बनीं रहीं और विरोध-विद्रोह का सिलसिला चलता रहा।

अब यह महामारी समर्थ सवर्णों और असवर्णों में फैल गई है। एक-एक जाति की अनेक शाखा-प्रशाखाएँ फूट पड़ी हैं। शूद्र-शूद्र के बीच, ब्राह्मण-ब्राह्मण के बीच, वर्ग भेद है और रोटी-बेटी के व्यवहार नहीं होते। चार वर्ण थे, सो अब सात हजार जातियों-उपजातियों में बँट गए हैं। सभी जन्मजात की मान्यता अपनाए बैठे हैं। इन कारणों से अपना समाज दिन-दिन दुर्बल हुआ है। विवाह-शादियों में भारी अड़चन उठी है। दिन-दिन हिंदू समुदाय घटता गया और अन्य धर्मावलंबी बढ़े हैं। स्थिति यह रहने पर वह दिन दूर नहीं, जब अपने ही देश में हिंदू अल्पमत में रह जाएँगे।

जनगणना की रिपोर्ट में जातियाँ पाँच हजार से ऊपर हैं। इनके अंतर्गत चलने वाली उपाजातियों की गणना करने पर तो इससे भी अनेक गुनी बढ़ जाती हैं। ब्राह्मणों की ८०० शाखाएँ और दो हजार उपशाखाएँ हैं। क्षत्रियों की ५९०, वैश्यों की ६०० तथा शूद्रों की ६०० शाखाएँ हैं।

यह जातियाँ, उपजातियाँ, प्रांतों, नदी, तटों, व्यवसायों, विशेषताओं के आधार पर बनीं, पर पीछे उन विशेषताओं के स्थिर न रहने पर भी गोत्र वही चलते रहे। इतनी जातियों में बँट जाने से प्रत्येक जाति अत्यंत छोटी रह जाएगी और अनेक कष्ट सहेगी।

फूट डालो, उस दिन चोर अकेला रह गया था। गिरोह के अन्य साथी बिछुड़ गए थे। सामने से तीन संपन्न आदमी आते दिखाई पड़े। अकेला चोर और तीन यात्री। घात कैसे लगे।

लूट खाओ चोर को एक तरकीब सूझी कि उन्हें फूट डालकर एकाकी कर दिया जाय। पूछने पर उनने अपनी जाति ब्राह्मण, क्षत्रिय और शूद्र बताई। चोर ने पहले कमजोर शूद्र को पकड़ा और कहा—“यह तो हमारे पुरोहित हैं यह हमारी बिरादरी के हैं, इनसे तो कुछ नहीं कहना। तू इतनी संपदा कहाँ से लाया। बड़ी जाति वालों की बराबरी करेगा। पहले तेरी ही मरम्मत की जाएगी।” शूद्र पिटता भी रहा और जो पास में था, छिना बैठा। इसके बाद पंडित जी की बारी आई, कहा—“पंडित को भिक्षा पर निर्वाह करना चाहिए। इतनी दौलत जमा करना अधर्म है।” सो उसने पंडित जी की धुनाई की और जो कुछ उनके पास था, छीन लिया। तीसरा नंबर ठाकुर का था। उनसे कहा—“अभी तो



आपका पैसा ले लेते हैं। पीछे आप हमारे गिरोह में शामिल हो जाना। जो लिया है उससे अनेक गुना कुछ ही दिन में दिला देंगे।" ठाकुर ने दुर्गाति कराने से पहले ही जो कुछ था, सो चोर को सौंप दिया।

फूट डालकर एक चोर ने तीन राहगीरों को लूटने में सफलता प्राप्त कर ली। इसका मूल कारण था—जाति भेद संबंधी मूढ़ मान्यता। हमारे राष्ट्र के पतन-पराभव का मूल कारण यही कट्टरता रही है। मुगल आक्रांताओं एवं फिरंगियों को इसी आधार पर इस शस्य-श्यामला धरती पर मध्यकाल में अपना अधिकार जमाने में सफलता मिली।

आदिवासी कुछ व्यक्तियों की भ्रांतिपूर्ण मान्यता है कि आर्य मध्य एशिया से आए और यहाँ के आदि निवासियों को पददलित करके उन्हें नीच बना दिया। वे ही आदिवासी कहलाए और शूद्र समझे गए।

बनाम शूद्र वस्तुतः यह कथन आदि से अंत तक गलत है। भारतीयों की मातृभूमि एक भारत भूमि ही है। आदिवासी शक्ति ही गलत है। हिंदू मात्र आदिवासी है। हाँ, भेदभाव के कारण कुछ समुदाय पिछड़ अवश्य गए। उन्हें उठाने के प्रयत्न अब तेजी से चल रहे हैं।

शूद्र और दस्यु मनुस्मृति १०/४५ में आता है जो ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र से बाहर हैं, उन्हें 'दस्यु' कहते हैं। 'दस्यु' अर्थात् चोर, कुकर्म करने वाले। इन्हीं की संगति से दूर रहने के यत्न-तत्न संकेत हैं।

का अंतर ऋग्वेद १०/२२/९ में दस्यु के लक्षणों का वर्णन करते हुए कहा गया है—“जिसकी परोपकार परमार्थ में आशा नहीं है। जो मलिन रहता है। चोरी, जुआ, डाका-ठगी आदि कुकर्मों पर निर्वाह करता है। सभ्यता से रहित और हिंसक पशुओं की तरह स्वेच्छाचारी है, वह दस्यु है।”

ऋग्वेद ८/७०/११ में लिखा है—“अमानुषी प्रकृति वाले दस्युओं को जनहित की दृष्टि से अलग रखें।”

‘जाति निर्णय’ पृष्ठ ४६ पर शिवशंकर शास्त्री लिखते हैं—“शूद्र आर्य हैं, परंतु दस्यु अनार्य। शूद्र व्यवसायी हैं, किन्तु दस्यु चोर-डाकू।”

महाभारत शांतिपर्व अध्याय १८८, श्लोक १३ में कहा गया है कि “मिथ्यावादी, लोभी, हिंसक, मलिन ब्राह्मण भी शूद्र या दस्यु हो गए।”

महाभारत शांतिपर्व अध्याय १६५ में लिखा है—“चारों वर्णों और आश्रमों में कर्म के आधार पर शूद्र एवं दस्यु पाए जाते हैं।”

जो लोग किसी कारणवश हेय स्थिति में जा पहुँचे हैं। उन्हें ऊँचे उठाना और समकक्ष बनाना विद्वज्जनों का कर्तव्य है। इस निर्देशन को ऋग्वेद २७/६३१ और ऋग्वेद १०/१३७/१ में स्पष्टतया उल्लेख है।

ऋग्वेद १/३३/४ के अनुसार चोर या विप्र-संतोषी 'दस्यु' हैं। ऋग्वेद १/५१/८ के अनुसार सत्कर्मों यज्ञादि अनुष्ठानों में जो विप्र डालता है, वह 'दस्यु' है। ऋग्वेद ६/२५/२ के अनुसार शुभ कर्मों को मटियामेट करने वाला 'दस्यु' है।

दस्युओं से सत्कर्म तो रहा जाय, पर उन्हें भी ऊँचा उठाने के लिए साथ रखने की आवश्यकता है। शिवजी के गले में सर्प और सान्निध्य में भूत-प्रत रहते थे। सभी को श्रेष्ठ बनाने का हमारा उद्देश्य रहे। श्रुति कहती है, “कृण्वन्तो विश्वमार्यम्” अर्थात्, सभी को हम श्रेष्ठ बनाएँ।

बड़प्पन सत्य और आदर्श दोनों में विवाद उठ खड़ा हुआ। यथार्थ कहता था 'मैं बड़ा हूँ' और आदर्श कहता था 'मैं'। विवाद तय न हुआ। यथार्थ और आदर्श दोनों प्रजापति ब्रह्मा के समीप गए और कहा—**सहयोग में** “भगवान् ! आपने ही हमें पैदा किया है, अब निर्णय दें, हम दोनों में बड़ा कौन है ?” प्रजापति थोड़ा गंभीर होकर सोचने लगे, फिर मुस्करा कर बोले—“भाई ! बड़ा तो वही हो सकता है, जो आकाश और पृथ्वी दोनों में संबंध जोड़ दे।”

यथार्थ ने अपना विस्तार करना प्रारंभ किया। पृथ्वी से ऊपर उठता ही गया, उठता ही गया, पर वह सूर्य को भी नहीं छू सका। उसने हार मान ली और आदर्श से बोला—“अच्छा, अब आप यह करके दिखावें।”

आदर्श आकाश को चला गया और वहीं से अपने पैर बढ़ाकर धरती को छूने का प्रयत्न करने लगा, पर वह बीच में ही लटककर रह गया। दोनों ने सिर झुकाकर प्रजापति के सामने अपनी-अपनी हार स्वीकार की। ब्रह्माजी ने कहा—“यों हार मान जाओगे, तो तुममें से एक भी जीवित न बचेगा। जाओ, अब थोड़ा मिलकर प्रयत्न करो।” यथार्थ



और आदर्श भाई-भाई की तरह मिले और दोनों ने पृथ्वी-आकाश को जोड़ दिया । प्रजापति यह देखकर बहुत प्रसन्न हुए और बोले-“वत्स ! तुम्हारा बड़प्पन परस्पर प्रतिद्वंद्वी बनने में नहीं, सहयोगी बनने में है ।”

जिसने जितने में यथार्थ और आदर्श का समन्वय किया, वही अपने स्तर से उच्चतम स्थिति तक बढ़ सकता है । यह बात समान रूप से समुदाय में व्यक्ति-व्यक्ति में पाई जाने वाली भिन्नता पर लागू होती है । श्रेष्ठ कर्मों के आधार पर ही व्यक्ति श्रेष्ठ एवं श्लाघ्य पद प्राप्त करता है ।

नीच कुल में जन्मे, पर कर्म से ऋषि बने मत्स्य पुराण अध्याय ४ में लिखा है, मनु के पुत्र वामदेव थे । वामदेव के पुत्र ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र हुए ।

महाभारत के शांति पर्व अध्याय २९६, श्लोक १४, १५, १६ में पाराशर ऋषि कहते हैं-
हे राजन् ! शृंगी ऋषि, कश्यप, वेद, ताण्ड्य, कृप, कमठ, कक्षीमान, यवकीर्ति, द्रोण, आयु, मातंग, दत्त, द्रुपद, मात्स्य आदि बहुत से ऋषि नीच कुल में उत्पन्न हुए थे, तिस पर भी वे तप, अध्ययन और आचरण को अपनाकर मान्य ऋषि हुए ।

मत्स्य कन्या से व्यास ब्रह्मवेत्ता महर्षि व्यास धीवर के पुत्र थे । उनकी माता सत्यवती धीवर कन्या थी । मछली व्यवसाय घर में होने से उनके शरीर से भी मछली की गंध आती थी, इसलिए उसे मत्स्यगंधा भी कहते थे । मुनि पाराशर उस पर आसक्त हो गए । दोनों के संयोग से व्यासजी की उत्पत्ति हुई । जिन्होंने तप और ज्ञान का भंडार जमा किया । अठारह पुराणों की रचना की ।

व्यास का कैवर्त्त स्त्री से विवाह भविष्य पुराण ब्रत पर्व अध्याय ४२, श्लोक २२, २३, २४ में लिखा है-व्यास जी ने कैवर्त्त स्त्री से विवाह करके संतान को जन्म दिया । शुकी से शुकदेव, उलूकी से कणाद, मृगी से शृंगी और गणिका से वशिष्ठ पैदा हुए । शांतनु ने कैवर्त्त कन्या से विवाह किया था ।

द्रौणाचार्य की उत्पत्ति महर्षि भारद्वाज घृताची नामक एक अप्सरा पर आसक्त हो गए । उसे लेकर द्रोणाचल पर्वत पर रहने लगे । उसके गर्भ से द्रोणाचार्य उत्पन्न हुए, जिनमें माता और पिता दोनों के गुणों का समावेश था । उसे ब्रह्मक्षत्र कहा गया ।

कर्म से महान् बने ऐतरेय इतरा यों उत्पन्न तो शूद्रकुल में हुई थी, पर उसे महर्षि शात्विचन की धर्मपत्नी बनने का सुयोग मिल गया । उसके एक पुत्र भी था ।

एक बार राजा ने बड़ा यज्ञ आयोजन किया । उसमें सभी ब्राह्मणों और ब्रह्मकुमारों का सत्कार हुआ । सभी को दक्षिणा मिली । किन्तु इतरा के पुत्रों को ‘शूद्र’ कहकर उस सम्मान से वंचित कर दिया गया ।

शात्विचन बहुत दुःखी हुए । इतरा को भी चोट लगी । बच्चा भी उदास था ।

इस असमंजस ने एक नया प्रकाश दिया । तीनों ने मिलकर निश्चय किया कि वे जन्म से बढ़कर कर्म की महत्ता सिद्ध करेंगे ।

शिक्षण का नया दौर आरंभ हुआ । इतरा पुत्र ऐतरेय को धर्मशास्त्रों की शिक्षा में पारंगत कराया गया । देखते-देखते वे अपनी प्रतिभा का परिचय देने लगे ।

एक बार वेद ऋचाओं के अर्थ करने की प्रतिस्पर्धा हुई । दूर-दूर देशों के विद्वान् और राजा एकत्र हुए । प्रतियोगिता में सभी की पांडुलिपियाँ जाँची गईं । सर्वेष्ट ऐतरेय घोषित किए गए ।

इतरा शूद्र थी । उसके पुत्र ने पिता के नाम पर नहीं, माता की कुल परंपरा प्रकट करने के लिए अपना नाम ‘ऐतरेय’ घोषित किया । ‘ऐतरेय ब्राह्मण’ वेद ऋचाओं के भावार्थ को प्रकट करने वाला अद्भुत ग्रंथ है । उसका सृजेता जन्म से शूद्र होते हुए भी, पुरुषार्थ से ‘ब्राह्मण’ बना ।

नारद ने शूद्रा माता के पेट से जन्म लिया था एक कल्प में नारद गंधर्व थे । वे गायन-वादन में प्रवीण महिलाओं के बीच निरंतर घिरे रहते थे । ब्रह्माजी की सत्संग सभा में वे पहुँचे, तो भी महिला मंडल उन्हें घेरे हुए था । ब्रह्माजी को यह व्यवहार आशिकों जैसा लगा और उन्होंने उन्हें शूद्र होने का शाप दिया ।

नारद दासी पुत्र के रूप में जन्मे । उनकी माता शूद्र परिवार की थीं, जो विद्वान् ब्राह्मणों की

सेवा में निरत रहती थीं। उनकी विशेषताएँ बालक में प्रकट हुईं। बालक नारद को ब्रह्माजी का शाप वरदान सिद्ध हुआ। उनसे अपनी आत्मप्रताड़ना से अपने व्यवहार में पूरी तरह परिवर्तन कर लिया। भगवद्भक्ति का उन्होंने रहस्य समझा और उसी तत्त्वदर्शन का प्रचार करने के लिए निकल पड़े। उनका व्रत था, ढाई घड़ी से अधिक वे कहीं भी खड़े न होंगे और धर्म प्रचार के लिए निरंतर परिश्रमण करते रहेंगे।

भीम, घटोत्कच एवं वर्बरीक भीम जब वनवास में थे, जब उनसे हिडिम्बा नामक असुर महिला से उपविवाह कर लिया। उसका पुत्र घटोत्कच हुआ, जो भीम जैसा बली था। उसने महाभारत में अपने पिता की बहुत सहायता की। घटोत्कच का बेटा वर्बरीक भी कम योद्धा नहीं था। इन बच्चों का पालन पिता की कृपा से नहीं, माता-दादी की छत्रछाया में हुआ था।

सूत पुत्र कर्ण कर्ण सूत पुत्र थे। सूत वर्ण उन दिनों शूद्र-अछूतों में गिना जाता था, इसलिए उन्हें आए दिन व्यंग्य सुनने पड़ते थे, फिर भी वे कौरव सेना के वरिष्ठ सेनापति हुए।

कर्ण ने कहा है, “कुल-वंश में जन्मना मेरे हाथ में नहीं, पर अपने निजी पराक्रम से मैंने वरिष्ठता प्राप्त की है। इस प्रगति पथ को रोक सकना किसी के हाथ में भी नहीं है।

सच्चे संत नामदेव महाराष्ट्र से लेकर पंजाब तक के क्षेत्र को भागवत धर्म में सराबोर कर देने में संत नामदेव का बड़ा हाथ है। वे जन्म से दर्जी थे, पर कर्म से पूजे जाने योग्य सम्मान पाए और शूद्र न रहकर ब्रह्मज्ञानियों की पंक्ति में विराजमान हुए।

कहते हैं कि नामदेव का आरंभिक जीवन अच्छा न था, पर वाल्मीकि और विल्वमंगल की तरह उनसे भी अपने चिंतन और चरित्र का कायाकल्प कर लिया। वे अपने पुरुषार्थ से ही निर्वाह करते थे। दान के धन को उनसे सदा अस्वीकार किया।

उनके गुरु एक कोढ़ी थे। उनकी सच्चे मन से सेवा करते और श्रीमुख से सेवाधर्म और चरित्रनिष्ठा का माहात्म्य सुनते। नामदेव भागवत धर्म का प्रचार तो करते रहे, पर उनसे सदा यही कहा कि “कथा-कीर्तन में सम्मिलित होने, गाने सुनने भर से किसी का उद्धार नहीं हो सकता। कल्याण प्राप्त करना है, तो आचरणों की शुद्धि और सेवा-भावना को महत्व देना चाहिए।” पूजा से स्वर्ग मिलने मात्र से जो लोग भगवान् मिलने की बात कहते थे, उनसे संत नामदेव का मत नहीं मिलता था। वे कर्मयोग को प्रधानता देते थे।

शरीर से शूद्र, मन से ब्राह्मण महाराष्ट्र में इंद्रायणी नदी के तट पर बसे हुए, देदूगाँव में संत तुकाराम का जन्म हुआ। उन्हें जन्म से शूद्र कहा जाता है, पर वे अपनी सत्प्रवृत्तियों तथा सेवा-साधना में निरत रहने के कारण सर्वोच्च वर्ण के माने गए। उन्होंने अभंग छंदों में प्रायः ८००० कविताएँ लिखी हैं। वे कीर्तन कला में प्रवीण थे। जन सेवा का कोई अवसर हाथ से न जाने देते थे। उनके जीवन का अधिकांश भाग धर्म प्रचार के लिए परिश्रमण में बीता।

उन दिनों देश का अधिकांश भाग पराधीन हो चुका था। आक्रांताओं के जमे कदम उखड़ने में न आ रहे थे। भयभीत लोग अपनी जान बचाने के लिए विधर्मी बनते जा रहे थे। ऐसे दुर्दिनों में जनता का मनोबल बनाए रहना आवश्यक था। “हारे को हरिनाम” की उक्ति को सार्थक करने के लिए उन दिनों के संतों ने कीर्तन को माध्यम बनाया और धर्म प्रचार के माध्यम से जन-साधारण को धैर्य न खोने, भगवान् पर विश्वास करने और उज्ज्वल भविष्य की संभावना अनुभव कराने का प्रयास किया। संत तुकाराम भी उसी संत संप्रदाय में से थे। उनका प्रयास आरंभ से अंत तक चलता रहा।

तुलसीदास के असवर्णी मित्र गोस्वामी तुलसीदास की रामाज्ञा प्रश्न रचना में, उनके सत्संग में सम्मिलित होने वालों तथा मित्रों का विवरण है। उनमें काशीनाथ पंडित, भगवान् ब्राह्मण, समरसिंह राजपूत आदि द्विजों को छोड़कर शेष सभी असवर्ण समझे जाने वालों की नामावली है। उनमें कैलाश चारण, उज्जैनीदास, बजंतरी, भजन ग्वाला, सियाराम तमोली, गोधी गौड़, हरी हलवाहा, मीर ढाढ़ी, जसन जुलाहा आदि का विशेष रूप से उल्लेख है।



यथार्थवादी स्वामी रामानंद काशी के प्रख्यात स्वामी रामानंद संप्रदाय से वैष्णव थे, पर उनसे उन दिनों प्रचलित छूत-अछूत प्रथा को सर्वथा अमान्य किया। कबीर, रैदास आदि उन्हीं के शिष्य थे।

कर्मयोगी रैदास रैदास कबीर के समकालीन थे। कबीर जुलाहे के यहाँ पले और रैदास चमार परिवार में जन्मे, दोनों की दृष्टि एक थी, तत्कालीन वर्णभेद के नाम पर चल रही अनीति का उन्मूलन करना। वे कर्म को ही ऊँच-नीच का आधारभूत कारण मानते थे। यही दूसरों को भी समझाते थे।

रैदास ने जूते बनाने का काम जीवन भर जारी रखा। कर्मयोग का चमत्कार दिखाने के लिए उनसे कठौती में गंगा प्रकट कर दी। उनसे अपना कार्यक्षेत्र राजस्थान बनाया और चित्तौड़ को अपने लिए उपयुक्त स्थान चुना। मीरा उनकी शिष्या थीं। उनके पवित्र जीवन तथा उच्चस्तरीय तत्त्वदर्शन से प्रभावित होकर अनेक उच्चकोटि के व्यक्ति उनके अनुयायी बने। "रैदास पुराण" में उनके अनेक चमत्कारों का वर्णन है। जीवन काल में उनसे सबसे यही कहा— "चमत्कारों के आधार पर किसी को सिद्ध पुरुष न मानो, अन्यथा बाजीगर बाजी मार ले जाएँगे और जो तपस्वी, सेवाभावी, मिथ्याडंबर नहीं रच सकते, प्रभावहीन बने रहेंगे और अपने विचारों का लाभ संसार को न दे सकेंगे।" रैदास १२५ वर्ष तक जीवित रहे।

प्रचलन को पलटने वाले संत कबीर परिस्थितियों की सर्वथा विपरीतता से लोहा लेते हुए कबीर ने पंडितों के गढ़, काशी में बिना किसी संकोच-झिझक के जाति-पाँति के प्रचलनों से लोहा लिया। कर्मकांड की प्रधानता के स्थान पर सदाचार और परोपकार का प्रचार किया। वे आजीविका के लिए अपना पैतृक धंधा जुलाहे का काम करते थे और दक्षिणा की आशा नहीं करते थे। उनके कथन इतने ओजस्वी होते थे कि उन्हें हिंदू-मुसलमान सभी पसंद करते थे। वे गृहस्थ थे और कहते थे कि धर्म-धारणा के लिए विरक्त होना आवश्यक नहीं।

यह मान्यता प्रचलित थी कि काशी में मरने वाला स्वर्ग पाता है और मगहर में मरने वाले गधा बनते हैं। इस मिथ्या मान्यता को निरस्त करने के लिए वे मरण काल में मगहर चले गए।

हिंदू-मुसलमान दोनों ही उन पर समान श्रद्धा रखते थे। मरण के उपरांत उनके बचे हुए फूलों में दोनों ही संप्रदाय के लोगों ने अपनत्व दिखाया और स्मारक बनाए।

संतों की कोई बिरादरी नहीं होती नाभा जी डोम वर्ण के थे। पर वे थे संत। संतों की कोई बिरादरी नहीं होती—यह सोचकर उनसे ब्राह्मण संत तुलसीदास जी को अपने यहाँ एक भोज में आमंत्रित किया। तुलसीदास ने स्वीकार कर लिया, पर नियत तिथि पर उस बात को भूल गए।

रात्रि गए जब उन्हें स्मरण आया, तो दौड़ते हुए नाभा जी के यहाँ पहुँचे। भोजन समाप्त होने को ही था, सो जो कुछ बचा था, उसी का उनसे प्रसाद ग्रहण किया।

कोई अपवित्र नहीं माता शारदामणि के सत्संग में एक महिला आती थीं, जिसका चरित्र अच्छा न था। इस पर भक्तों ने आपत्ति की कि इसे सत्संग में नहीं आने देना चाहिए।

माताजी ने कहा— "बच्चो! क्या गंगा किसी से कहती है कि तुम बहुत मैले-कुचैले हो, मेरे जल में प्रवेश न करो। किसी के संग से कोई उठता-गिरता नहीं। अपना अंतःकरण ही उठाता और गिरता है।"

क्रांतिकारी बाबा आम्टे भारत के जाने-माने वकील और कुछ रोगियों की सेवा में लगे मुरलीधर देवीदास आम्टे को उनकी सार्वजनिक सेवाओं के लिए १९८५ का रेमन मैगसाय एवार्ड दिया गया। यह एवार्ड एशिया में नेबुल पुरस्कार की तरह ही है।

बाबा आम्टे ने युवावस्था में ही प्रचलित सामाजिक व्यवस्था से विद्रोह करना शुरू कर दिया था। महाराष्ट्र की कुलीन जाति एवं संपन्न परिवार में जन्मे श्री आम्टे ने भारत की जाति प्रथा के खिलाफ पहला विद्रोह किया और अछूतों के साथ खाना-पीना शुरू कर दिया।

७१ वर्षीय श्री आम्टे ने वकालत की, लेकिन यह पेशा उन्हें रास न आया। उनका मन कुछ महान् कार्य करने को मचलने लगा। उन्होंने वकालत की डिग्री और संबंधित कागजातों को फाड़ दिया तथा विरासत में मिली संपन्नता को छोड़कर अपने परिवार के साथ छः कुछ रोगियों और एक गाय को लेकर उन्ड्रपुर जिला चले गए। १९५१



में वहाँ एक बंजर पड़ी जमीन पर उन्होंने 'आनंद वन' की स्थापना की।

संत, जो गोवा क्षेत्र में पुर्तगालियों के अत्याचार चरम सीमा पर पहुँच गए थे। जनता को ईसाई बनाने के लिए प्रलोभन और उत्पीड़न दोनों को अपनाया जाता था।

बागी बना इन दिनों उस क्षेत्र में पूजा-पाठ में संलग्न रहने वाले संत गौरीनाथ से न रहा गया। वे विद्रोही बन गए। पूजा-पाठ रास्ता चलते कर लेते और दिन भर जनता में विद्रोह की आग भड़काते। उनकी छापामार मंडली ने अत्याचारियों के नाकों दम कर दिया। उनके पैर उखड़ने लगे।

अपनों के ही विश्वासघात से संत पकड़े गए। उन्हें आधा जमीन में गाड़कर ऊपर से शिकारी कुत्ते छोड़े गए। इस प्रकार उत्पीड़न देते हुए उनके प्राण लिए गए। उसी दिन से पुर्तगालियों के पाप उनकी जड़ें खोखली करने लगे। जनता के असहयोग से अंततः उन्हें यहाँ से विदा ही होना पड़ा।

ईसाई संस्कृतज्ञ गोवा के डॉक्टर गोमेज यों जन्म से ईसाई थे। उनसे अपना धर्म बदला भी नहीं। पर वे भारत के पूर्वजों की भारतीय संस्कृति का परिपूर्ण सम्मान करते थे। उनकी विद्वता असाधारण थी। वे देश में महत्वपूर्ण आयोजनों में तथा विदेशों में भी भारतीय संस्कृति की श्रेष्ठता सिद्ध करने पहुँचे। यों धर्म की दृष्टि से वे ईसाई धर्म के प्रति अपनी निष्ठा भी व्यक्त करते रहे। आठ वर्ष तक वे पुर्तगाल में गोआ का प्रतिनिधित्व करते रहे। मंत्री पद ठुकराकर उन्होंने अपना प्रचार कार्य जारी रखा।

डेविस, जो ऐंजिल डेविस वरमिंघम के निकट एक छोटे देहात में जन्मीं। नीग्रो परिवार में जन्मने के कारण उसे भी उन अभावों और अपमानों का सामना करना पड़ा, जो पद-दलित जातियों को करना पड़ता है। बचपन अध्ययन में बीता। उन्होंने एम.ए., पी.एच.डी. किया। एक स्कूल में अध्यापिका बन गई, पर इतना ही उसके लिए सब कुछ नहीं था। वह अपने जातीय पददलितों को मानवोचित अधिकार दिलाना चाहती थी। इसलिए उसने लूथर किंग के साथ मिलकर कितने ही रचनात्मक और संघर्षात्मक आंदोलनों में हिस्सा बैठाया।

विवाह का विचार ही उसने छोड़ दिया। आंदोलनकारियों के सामने इतने महत्वपूर्ण काम रहते हैं कि वे विवाह बंधन में बँधे, तो उनकी आधी शक्ति तो घरेलू झंझटों में ही खप जाती है। फिर वे न घर से बाहर रह पाते हैं और न अर्थोपार्जन की जिम्मेदारियों से बच पाते हैं। उसे लूथर किंग के दाहिने हाथ की तरह काम करना था।

डेविस दृढ़ निश्चयी थी। अध्ययन कार्य के उपरांत उसका सारा समय समाज सुधार के काम में ही लगता था। वह कुछ ही घंटे सो पाती थी। आए दिन उसे गोरे किसी-न-किसी षड़यंत्र का शिकार बनाते रहे। इन सबसे भी वह झुझती रही। पर चेहरे पर उदासी कभी नहीं आने दी।

एक अद्भुत पेंसिलवानिया में जन्मी एडिथ सेम्पसन उस नीग्रो परिवार में जन्मी थी, जिन्हें भारतीय अछूतों से भी गई-गुजरी स्थिति में रहना और आए दिन गोरों का त्रास सहना पड़ता था। उनसे अध्ययन काल में अपनी रुचि और एकाग्रता नियोजित की, फलतः वे एक सफल वकील बन सकी। इसके बाद शिकागो हाईकोर्ट का जज बनाया गया। उस अदालत में छोटे अपराधों के प्रायः ३० लाख मुकदमे आते थे, वे सभी निपटा देती थीं। हँसने-हँसाने की आदत और न्याय की पृष्ठभूमि समझने पर अधिकांश अपराधी स्वयं ही अपराध स्वीकार कर लेते और उचित दंड स्वेच्छापूर्वक सहते। गरीबों का समय अदालत का चक्कर काटने में नष्ट न हो, इसलिए वे प्रायः दो मिनट के औसत से मुकदमा निपटाती थीं। वकील करने की भी अधिकांश को जरूरत न पड़ती। वे जज की नहीं, परिवार की बुजुर्ग की भूमिका निभाती थीं।

प्रेसीडेंट ट्रूमैन ने उन्हें राष्ट्र संघ में अमेरिका का प्रतिनिधि बनाकर भेजा। उच्च पद पर रहते हुए उनसे अपने पिछड़े समुदाय को ऊँचा उठाने के लिए अनेक रचनात्मक कार्य किए।

जाति से तिरस्कृत, नारी पुनरुत्थान के पुनीत कर्म में लगे हुए महर्षि कर्वे ने अपने रिश्ते की एक बाल विधवा से शादी कर ली। उन दिनों रूढ़िवाद की जड़ों पर किसी ने चोट भी नहीं की थी और वे हिली भी नहीं थीं।

पर कर्म से पंचों ने कर्वे को जाति बहिष्कृत कर दिया।

श्रेष्ठ संत

अध्याय द्वितीय)

(६९



एक बार वे मंदिर गए । बहिष्कृत को सामूहिक आयोजन में सम्मिलित क्यों होने दिया जाय ? आवाजें उठीं और उन्हें वहाँ से हटा दिया गया ।

कर्वे ने कहा—“यह तो भगवान् का द्वार है । जब दूर से चांडाल भी दर्शन कर लेता है । तो मुझे क्यों रोक्ते हो ?”

इतनी नम्रता का भी तिरस्कार ही हुआ ।

महर्षि के तर्क उन पाषाण हृदयों को प्रभावित न कर सके और उन्हें प्रवेश न मिला ।

पर धैर्य और लगन ने चमत्कारी कार्य किया । उन्हीं महर्षि कर्वे के प्रयत्न से महाराष्ट्र आज नारी प्रगति में अग्रणी है । उनकी संस्था में सहस्रों नारियाँ उच्च शिक्षा प्राप्त कर समाज सुधार के आंदोलन को गतिवान बनाने में संलग्न है ।

विगत प्रयास

एवं भावी

संभावनाएँ

प्राचीनकाल में वर्ण परिवर्तन के अनेक ऐसे उदाहरण मिलते हैं, जिनमें कर्म परिवर्तन के आधार पर वर्ण बदले हैं । विवाह भी अनुलोम-प्रतिलोम होते रहे हैं । अर्थात् छोटे वंश वालों की लड़कियाँ बड़े वंश में ब्याही गईं और बड़े वंश वालों की लड़कियों ने छोटे वंश में विवाह किया । यह हेरा-फेरी समाज को मान्य होती रही है ।

प्राचीनकाल में इस कुप्रथा का विरोध नहीं हुआ, ऐसी बात नहीं । अनेक वर्णों और व्यक्तियों ने इसका डटकर विरोध किया । बौद्ध, जैन, सिख आदि हिंदू धर्म की ही शाखाएँ हैं, पर उनमें जाति-पाँति का भेदभाव नहीं है । भक्ति मार्गी संत पुरुष भी इसे अस्वीकार करते रहे हैं । परशुराम ने केरल में मछुओं को यज्ञोपवीत देकर ब्राह्मण बनाया था । हर विचारशील ने विरोध किया । वर्तमान कानून भी इस प्रचलन का विरोधी है । सामान्य विवेक भी इसका औचित्य किसी प्रकार स्वीकार नहीं करता । मध्यकालीन कट्टरता घट रही है और विश्वास किया जाना चाहिए कि यह प्रथा देर तक न रहेगी ।

जन्म-जाति का क्रम अब आगे नहीं चलने वाला

अब कर्म बंधन की कोई निर्धारित रेखा नहीं रही । कोई भी अपना व्यवसाय बदल सकता है । इस प्रकार एक व्यक्ति एक ही जीवन में कितने ही वर्ण बदल सकता है । तब वह विभाजन एक प्रकार से निरर्थक ही हो गया । अब हमें मानवी समता का सिद्धांत ही अपनाकर चलना चाहिए । जो पिछड़ गए हैं, उन्हें ऊँचा उठाने का प्रयत्न करना चाहिए, न कि उनसे घृणा करके दूर ही धकेलते चलें ।

आश्रमोऽस्ति विभागः स जीवनक्रमगो ध्रुवम् ।
अस्य स्वीकरणाद् व्यक्तिः सुखं याति समुन्नतिम् ॥ १३ ॥
समाजश्चापि नो रुद्धो जायते प्रगतिक्रमः ।
सदा सन्तुलनं चात्र तिष्ठत्येव निरन्तरम् ॥ १४ ॥
आत्मिक्याः प्रगतेस्तत्र भौतिक्याश्चाप्यपावृत्तम् ।
द्वारं तिष्ठति सम्भक्ता चतुर्धा जीवनावधिः ॥ १५ ॥
एते चत्वार आख्याता आश्रमा यत्र च क्रमात् ।
शक्तिविद्यासु संस्कारोपार्जनं प्रथमं भवेत् ॥ १६ ॥
ब्रह्मचर्यं इति ख्यातः संयमो यत्र पूर्णतः ।
मात्रं कामपरित्यागं ब्रह्मचर्यं वदन्ति न ॥ १७ ॥

भावार्थ—आश्रम जीवन क्रम का विभाजन है । इसे अपनाने से व्यक्ति सुखी और समाज समुन्नत रहता है । प्रगति क्रम रुकने नहीं पाता । संतुलन बना रहता है । भौतिक और आत्मिक प्रगति के दोनों ही द्वार खुले रहते हैं । जीवन अवधि को, चार भागों में विभाजित किया है । यही चार आश्रम हैं—प्रथम चरण में—बलिष्ठता, विद्या और सुसंस्कारिता का उपार्जन होना चाहिए—यही ब्रह्मचर्य है, मात्र काम सेवन न करने को ही ब्रह्मचर्य नहीं कहते ॥ १३-१७ ॥

व्याख्या—दूरदर्शी ऋषियों ने चार आश्रमों में जीवन को पूर्वार्द्ध-उत्तरार्द्ध में बाँटा है। आयुष्य के पूर्वार्द्ध में समर्थता एवं समृद्धि को बढ़ाने के लिए ब्रह्मचर्य एवं गृहस्थ, इन दो आश्रमों का प्रावधान है। उत्तरार्द्ध में वानप्रस्थ एवं संन्यास ये दो आश्रम आते हैं। इनमें भावना क्षेत्र को अधिक उत्कृष्ट बनाने तथा समय और श्रम को लोक मंगल में नियोजित रखने के लिए परंपरा बनाई गई है। जीवन को सर्वांगपूर्ण बनाने के लिए देव संस्कृति के ये निर्धारण बड़े महत्वपूर्ण मानने चाहिए। लौकिक प्रगति एवं आत्मिक उत्कर्ष दोनों ही प्रयोजन इस विभाजन से पूरे होते हैं। यह विशेषता हमें कहीं देखने को नहीं मिलती।

निर्वाह के लिए बल, ज्ञान, धन चाहिए। इन तीनों की पूर्ति ब्रह्मचर्य एवं गृहस्थाश्रम के युग्म में पूरी की जाती है। उत्तरार्द्ध में सद्भावनाओं एवं सत्प्रवृत्तियों को सुदृढ़-समुन्नत बनाने के लिए प्राण-पण से निरत रहा जाता है। वानप्रस्थ, परिव्राजक होते हैं। स्वस्थ शरीर के रहते वे धर्म प्रचार की पद यात्रा करते एवं शरीर अशक्त होने पर किसी आरण्यक, स्थान, आश्रम में रहते हुए विद्यालय, उद्बोधन, प्रशिक्षण जैसे कार्य करते हैं। यही संन्यास है।

पूर्वार्द्ध का प्रथम चरण ब्रह्मचर्य है। इसकी महत्ता-अनिवार्यता शास्त्रों में विशद रूप से बताई गई है।
शास्त्रों की ब्रह्मचर्येण तपसा राजा राष्ट्रं विरक्षति। आचार्यो ब्रह्मचर्येण ब्रह्मचारिणमिच्छते ॥

—अथर्व. ११/५/१७

सम्पत्ति

अर्थात्—ज्ञान प्राप्त करने के लिए जो आचरण किया जाता है, वह ब्रह्मचर्य है। ब्रह्मचर्य के तप से राजा अपना राज्य पुष्ट रखता है और गुरुजन अपने शिष्यों को ज्ञानवान बनाते हैं।

ब्रह्मचारी ब्रह्मभाजद्विभर्ति तस्मिन् देवा अधिविश्वे समोताः।

प्राणापानो जनयन्नाद् व्यानं वाचं मनो हृदयं ब्रह्ममेधाम् ॥

—अथर्व. ११/५/२४

अर्थात्—ज्ञान और परमात्मा की प्राप्ति के लिए ब्रह्मचर्य आवश्यक है। संपूर्ण दिव्य गुण ब्रह्मचारी में ही हो सकते हैं। ब्रह्मचारी प्राण, अपान और व्यान को, मन और हृदय को सभी ओर से हटाकर ब्रह्मज्ञान की ओर लगाता है। वह मेधावी होता है।

ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमुपाप्नत।

अर्थात्—ब्रह्मचर्य और तप के बल पर ही देवताओं ने मृत्यु को जीत लिया है।

आचरित्वा ब्रह्मचरियं अलद्धा यो ब्रह्म धनं। सेन्ति चापतिस्त्रीणा व पुराणानि अनुत्थुनं ॥

—जरावग्गो ११/११

अर्थात्—जो लोग ब्रह्मचर्य का पालन नहीं करते और युवावस्था में धन अर्जित नहीं करते, उनका टूटी हुई कमानों की तरह पतन हो जाता है और बाद में सिर धुन-धुन कर पछताते हैं।

यजुर्वेद में ऋषि आदेश देते हैं—

परं मृत्यो अनु परेहि पन्था यस्ते अन्य इतरो देवयानात्।

चक्षुष्यते शृण्वते ते ब्रवीमि मा नः प्रजा-रीरिषो मोत वीरान् ॥

—यजु. ३५/७

हे मनुष्यो ! जीवनपर्यंत श्रेष्ठ पुरुषों का अनुसरण कर पूर्ण आयु प्राप्त करो। ब्रह्मचर्य से रहकर परिपक्व अवस्था में विवाह कर उत्तम संतान को जन्म दो। हमारी संतान भी ब्रह्मचर्य पालन से वियुक्त न हो।

वाल्मीकि रामायण में उद्धरण है—

इन्द्रियां प्रदुष्टानां हयानामिव धावताम्। कुर्वीत धृत्या सारथ्यं संहत्येन्द्रियमोचरम् ॥

इन्द्रियां दुष्ट घोड़ों की तरह दौड़ा करती हैं। अतः उन इन्द्रिय रूपी घोड़ों को सारथी रूपी बुद्धि से अपने अधीन कर, उनको सन्मार्ग पर चलाना चाहिए।

हर धर्म में ब्रह्मचर्य की महत्ता गाई गई है।

व यद् ऋजू ऽफरूजहुम;

अध्याय द्वितीय)

(६३



इन्द्रियों की रक्षा करो । अर्थात् ब्रह्मचर्य का पालन करो ।

ब्रह्मचर्य की परिभाषा बड़े स्पष्ट शब्दों में ऋषि करते हुए कहते हैं कि बल, विद्या और संस्कारों की पूँजी को एकत्र करने के लिए बिखराव एवं क्षरण को रोककर विचारशक्ति का एकीकरण, सुनियोजन एवं शरीरबल का संवर्द्धन किया जाय । इसे परित्याग तक ही सीमित न माना जाय । क्योंकि परोक्ष रूप से कामुक चिंतन क्रिया न जुड़ी होते हुए भी, हानि उससे अधिक ही पहुँचाता है । अतः विचारों का संयम, इंद्रिय संयम से अन्योन्याश्रित रूप से जुड़ा मानना चाहिए ।

संयम सुनियोजन बिखराव को, अस्त-व्यस्तता को रोक कर अपनी शक्तियों को एक दिशा में लगा देने की महत्ता से सभी अवगत हैं ।

बारूद बिखेर कर उसमें आग लगा दी जाय, तो भूक से जलकर राख हो जाएगा । पर यदि उसे बंदूक या तोप में भरकर एक दिशा में गोली समेत धकेला जाये, तो निशाने को तहस-नहस कर देगी ।

सूर्य किरणें ऐसी ही बिखरी रहती हैं, पर यदि उन्हें आतिशी शीशे के द्वारा एकत्र किया जा, तो थोड़े से दायरों का एकत्रीकरण देखते-देखते आग जलाने लगेगा ।

ढेरों भाप ऐसे ही उड़ती रहती है; पर यदि उसे रोक कर एक नली विशेष से निर्धारित प्रयोजन के लिए नियोजित किया जाय, तो रेलगाड़ी के इंजन दौड़ने लगते हैं ।

नदियों में पानी निरर्थक बहता रहता है, पर यदि बाँध बनाकर किसी नहर द्वारा बहाया जाय, तो लंबे क्षेत्र की सिंचाई होने और प्रचुर अन्न उपजने की संभावना बनती है ।

यह सब बिखराव को रोकने, एक दिशा में प्रयोग करने की एकाग्रता के चमत्कारी सत्परिणाम हैं ।

उत्थान-पतन का कारण किसी मनुष्य ने पूछा—“मनुष्य शक्तियों का भंडार है, फिर वह डूबता-गिरता क्यों है ?” गुरु ने इसके उत्तर में अपना कमंडलु पानी पर फेंक दिया और दिखाया कि वह ठीक प्रकार तैर रहा है । दुबारा उसे लिम्हा और तली में छेद करके फेंका, तो वह डूब गया ।

गुरु ने बताया कि असंयम के छेद हो जाने से दुर्गुण घुस पड़ते हैं और मनुष्य को डूबा देते हैं । गाय का दूध यदि छलनी में दुहा जाय, तो वह जमीन पर गिरेगा, गंदगी उत्पन्न करेगा । गाय पालने का लाभ न मिलेगा । लाभ तभी है, जब दुहने का पात्र बिना छेद का हो । इंद्रिय शक्ति-मानसिक शक्ति को यदि कुमार्श के छेदों से बहने दिया जाय, तो मनुष्य की क्षमता इसी प्रकार समाप्त होकर रहेगी ।”

वासना के विष से बचें महाराजा ययाति वैसे तो बड़े ही विद्वान् और ज्ञानवान् राजा थे । किंतु दुर्भाग्यवश उन्हें वासनाओं का रोग लग गया और वे उनकी तृप्ति में निमग्न हो गए । स्वाभाविक था कि ज्यों-ज्यों वे इस अग्नि में आहुति देते गए, त्यों-त्यों वह और भी प्रचंड होती गई और शीघ्र ही वह समय आ गया, जब उनका शरीर खोखला हो गया और शक्तियाँ बूढ़ी हो गई । सारे सुकृत खोए, बेटे के प्रति अत्याचारी प्रसिद्ध हुए, परमार्थ का अवसर खोया और मृत्यु के बाद युग-युग के लिए गिरगिट की योनि पाई, किंतु वासना की पूर्ति न हो सकी । पांडु जैसे बुद्धिमान् राजा पीलिया रोग के साथ वासना के कारण ही अकाल मृत्यु को प्राप्त हुए । शांतनु जैसे राजा ने बुढ़ापे में वासना के वशीभूत होकर अपने देवव्रत भीष्म जैसे महान् पुत्र को गृहस्थ सुख से वंचित कर दिया । विश्वामित्र जैसे तपस्वी और इंद्र जैसे देवता वासना के कारण ही व्यभिचारी और तप-भ्रष्ट होने के पातकी बने । वासना का विषय निःसंदेह बड़ा भयंकर होता है, जिसके शरीर का शोषण हो जाता है, उसका लोक-परलोक पराकाष्ठा तक बिगाड़ देता है । इस विष से बचे रहने में ही मनुष्य का मंगल है ।

ब्रह्मचर्य की महत्ता हनुमान ब्रह्मचर्य व्रत पालन करने के कारण कितने बलिष्ठ थे । लंका दहन के उपरांत समुद्र में कूदकर नहाए, तो उनका पसीना मछली निगल गई । इतने भर से मछली के गर्भ से महाप्रतापी मकरध्वज उत्पन्न हुए ।

ब्रह्मचारी भीष्म पितामह छः महीने शरशय्या पर लेटे रहे और उत्तरायण सूर्य उगने पर उनसे इच्छापूर्वक शरीर त्यागा ।

ब्रह्मचारी शुकदेव का ज्ञान, तप एवं तेज प्रख्यात है ।

ब्रह्मचारी दयानंद

बाल ब्रह्मचारी दयानंद ने दो साँडों को आपस में लड़ते देखा । वे हटाए हट नहीं रहे थे । स्वामी जी ने दोनों के सींग दो हाथों से पकड़ा और मरोड़कर दो दिशाओं में फेंक दिया । डर कर वे दोनों भाग खड़े हुए । ऐसी ही एक घटना और है ।

स्वामी दयानंद शाहपुरा में निवास कर रहे थे । जहाँ वे ठहरे थे, उस मकान के निकट ही एक नई कोठी बन रही थी । एक दिन अकस्मात् निर्माणाधीन भवन की छत टूट पड़ी । कई पुरुष उस खंडहर में बुरी तरह फँस गए । निकलने का कोई रास्ता नजर आता नहीं था । केवल चिल्लाकर अपने जीवित होने की सूचना भर बाहर वालों को दे रहे थे । मलबे की स्थिति ऐसी बेतरतीब और खतरनाक थी कि दर्शकों में से किसी की हिम्मत निकट जाने की नहीं हो रही थी । राहत कार्य के लिए पहुँचे लोग यह सोचकर किंकर्तव्यविमूढ़ हो रहे थे कि कहीं थोड़ी-सी भी चूक हो जाय, तो बचाने वालों के साथ ही भीतर घिरे लोग भी भारी-भरकम दीवारों में पिस सकते हैं । तभी स्वामी जी भीड़ देखकर कोतूहलवश उस स्थान पर जा पहुँचे, वस्तुस्थिति की जानकारी होते ही वे आगे बढ़े और अपने एकाकी भुजाबल से उस विशाल शिला को हटा दिया, जिसके नीचे लोग दब गए थे ।

आसपास एकत्रित लोग शारीरिक शक्ति का परिचय पाकर उनकी जयकार करने लगे । उनसे सबको शांत करके समझाया कि यह शक्ति किसी अलौकिकता या चमत्कारिता के प्रदर्शन के लिए आप लोगों को नहीं दिखाई है । समय की साधना करने वाला हर मनुष्य अपने में इससे भी विलक्षण शक्तियों का विकास कर सकता है ।

यौन उत्त्नास का सुनियोजन

नैपोलियन २५ वर्ष की आयु तक काम-सुख तो क्या नारी के प्रति भी आकृष्ट नहीं हुआ था । न्यूटन के मस्तिष्क में यौनाकर्षण उठा होता, तो अपना बुद्धि-कौशल सृष्टि के रहस्य जानने की अपेक्षा अपरिमित काम-सुख प्राप्त करने में झोंक दिया होता । भीष्म और हनुमान प्रतिज्ञाबद्ध हो सकते हैं, पर न्यूटन के सामने तो वैसी कठिनाई थी ही नहीं । जन्मजात प्रतिभाएँ अधोमुखी ही नहीं, ऊर्ध्वमुखी भी होती हैं और उनसे काम-सुख की अपेक्षा अधिक सुख लोगों को मिलता रहा है । हमारे देश में तो सच्चे और शाश्वत सुख की प्राप्ति में काम-वासना को प्रधान बाधा माना गया है । रामकृष्ण परमहंस विवाहित होकर भी योगियों की तरह रहे । वे सदैव आनंद विह्वल रहते थे । स्वामी रामतीर्थ और भगवान् बुद्ध ने तो ऊर्ध्व सुख के लिए युवा तरुणी पत्नी का परित्याग तक कर दिया था । महात्मा गांधी ने ३६ वर्ष की अवस्था के बाद काम-वासना को बिल्कुल नियंत्रित कर दिया था, तो भी उनके जीवन से प्रसन्नता का फव्वारा फूटता रहता था । वस्तुतः यौन-उत्प्रेरक को सही दिशा में मोड़ देना ही काम बीज का परिष्कार है । बलात् मन पर अंकुश लगाने के स्थान पर, कड़ी तितिक्षा का मार्ग अपनाने के बजाय अंतः की सामर्थ्य को सही दिशा दे दी जाय तो अनेक फलदायी परिस्थितियाँ देखी जा सकती हैं ।

किशोर वय की प्रतिभाएँ

लूथर ने इक्कीस वर्ष की आयु में धार्मिक सुधारों के लिए क्रांतिकारी हलचल पैदा कर दी थी । नैपोलियन ने २५ वर्ष की आयु में इटली पर विजय प्राप्त की थी । न्यूटन ने इक्कीस वर्ष का होने से पूर्व ही अपने महत्वपूर्ण आविष्कार कर डाले थे । चेस्टरटन ने जब काव्य क्षेत्र में प्रवेश करके अपनी प्रतिभा से सबको आश्चर्य में डाला था, तब वह इक्कीस वर्ष का था । विक्टर ह्यूगो जब १५ वर्ष के थे, तब उनसे कई नाटक लिखे थे और तीन पुरस्कार जीते थे । सिकंदर जब दिग्विजय को निकला, तब कुल बाईस वर्ष का था । फ्रांस की क्रांति का नेतृत्व करने वाली देवीजॉन सत्रह वर्ष की थी । विवेकानंद व शंकराचार्य को अल्पायु में ही उपलब्धियाँ मिली थीं । यदि उत्कृष्ट इच्छा और अदम्य भावना जागृत हो जाय, तो किशोर आयु में भी मनुष्य अपनी शक्तियों के सुनियोजन द्वारा ऐसा कुछ कर सकता है, जिससे उसका जीवन भी धन्य हो एवं वह अनेक को पार लगा सके ।

मनस्विता का चमत्कार

आत्मबल सबसे बड़ी संपदा है व इसका उपार्जन ब्रह्मचर्य पालन करके ही हो सकता है । चीन में उन दिनों कुछ थोड़े से शहर को छोड़कर शेष स्थानों में विदेशियों के प्रवेश पर रोक लगा दी गई थी । कभी भूल से कोई विदेशी वहाँ पहुँच जाता, तो चीनी मरने-मारने को उतारू हो जाते, उसकी जान संकट में पड़ जाती ।

एक बार स्वामी विवेकानंद चीन भ्रमण पर गए । उनकी किसी गांव के भ्रमण की इच्छा हुई । दो जर्मन

पर्यटकों की भी इच्छा ग्राम्य जीवन देखने की थी, पर साहस के अभाव में उनकी प्रवेश की हिम्मत नहीं हो रही थी। उन्होंने यह बात स्वामी जी से कही, तो स्वामी जी ने कहा—“सारी मनुष्य जाति एक है, हमें विश्वास है कि यदि हम सच्चे हृदय से वहाँ के लोगों से मिलने चलें, तो वे हमें मारने की अपेक्षा प्रेम से ही मिलेंगे।”

वे जर्मन पर्यटकों को लेकर गांव की ओर चल पड़े। दुभाषिया उसके लिए तैयार नहीं हो रहा था, पर जब स्वामी जी नहीं रुके, तो वह भी साथ चला तो गया, पर अंत तक उसे यही भय बना रहा कि कहीं वे लोग उन्हें मारें नहीं।

गांव वाले विदेशियों को देखकर लाठी मारने दौड़े। स्वामी विवेकानंद ने उनकी आंखों में आंखें डालते हुए कहा—“क्या आप लोग अपने भाइयों से प्रेम नहीं करते?” दुभाषियों ने यही प्रश्न उनकी भाषा में ग्रामीणों से पूछा—तो वे बेचारे लज्जित हुए और लाठी फेंककर स्वामी जी के स्वागत-सत्कार में जुट गए। आश्चर्यचकित जर्मन साथियों को संबोधित कर स्वामी जी बोले—“यह आत्मबल की शक्ति का चमत्कार है। इसके माध्यम से किसी पर भी, यहाँ तक कि शत्रु पर भी विजय पाई जा सकती है।

गृहस्थश्चापरो पादो मातृमुद्राह एव न ।
 गृहस्थः प्रोच्यतेऽप्यत्र संस्था तु परिवारगा ॥ १८ ॥
 समर्था सफला चाऽपि क्रियते चेत्तदैव तु ।
 गृहस्थः प्रोच्यते यत्र वर्गे निर्वाह आदृतः ॥ १९ ॥
 स एव परिवारश्च सदस्यास्तत्र दुर्बलाः ।
 पोष्यास्तु सबला ये च विधातव्यास्तु ते स्वयम् ॥ २० ॥
 स्वावलम्बिन एवं च संस्कारपरिसंस्कृताः ।
 सहकारगताश्चाऽपि, विद्यालय इहोच्यते ॥ २१ ॥
 परिवारस्य संस्थाया अस्यादेष्टयतया मता ।
 समुन्नतिस्तथा चैषा भावना विकसिता भवेत् ॥ २२ ॥
 वसुधैव कुटुम्बस्य भावनायां निरन्तरम् ।
 समाजरचनायाश्च साऽऽधारत्वेन सम्मता ॥ २३ ॥
 पारिवारिकतैवैषा या विकास्या च सर्वतः ।
 प्रत्येकं मनुजस्तिष्ठेत् सदस्यत्वेन सम्मतः ॥ २४ ॥
 विश्वव्यापिकुटुम्बस्य स्व च मन्येत स स्वतः ।
 सम्पूर्णस्य समाजस्याविच्छिन्नं चाङ्गमुत्तमम् ॥ २५ ॥

भावार्थ—दूसरा चरण गृहस्थ है। गृहस्थ धर्म के पालन का अर्थ केवल विवाह करना नहीं, परिवार संस्था को समर्थ और सफल बनाना है। जिस समुदाय के बीच निर्वाह चलता है, वह परिवार है। परिवार के असमर्थ सदस्यों का भरण-पोषण और समर्थ सदस्यों को स्वावलंबी, सुसंस्कारी एवं सहकारी बनाने की प्रक्रिया अपनानी पड़ती है। परिवार को सुसंस्कारिता की पाठशाला माना गया है। उसका उद्देश्य परिवार संस्था को समुन्नत बनाना है। यह पारिवारिकता ‘वसुधैव कुटुम्बकम्’ की भावना से विकसित होनी चाहिए। समाज संरचना का आधारभूत उद्देश्य पारिवारिकता ही है। इसे हर क्षेत्र में विकसित होना चाहिए। हर व्यक्ति विश्व-परिवार बनकर रहे। अपने को पूरे समाज का एक अविच्छिन्न अंग माने ॥ १८-२५ ॥

व्याख्या—ऋषियों द्वारा निर्धारित विद्या एवं बल संपादन हेतु नियोजित ब्रह्मचर्य की अवधि के पश्चात् व्यक्ति गृहस्थाश्रम में प्रवेश करता है। यह मात्र दो कायाओं का गठबंधन ही नहीं, सुसंस्कारिता उपार्जन की प्रयोगशाला भी है, जिसमें सभी पारिवारिक जनों के साथ रहते हुए सहकारिता, अध्यवसाय एवं आत्मावलंबन का प्रशिक्षण लिया जाता है। वस्तुतः परिवार समस्त मानव समुदाय के रूप में फैले स्रष्टा के बृहत् परिवार की एक छोटी इकाई है। हर मनुष्य मात्र अपने परिवार तक ही सीमित न रहकर चिंतन को

बृहत् विस्तार दे एवं विराट् विश्व को अपना कार्यक्षेत्र माने, पारिवारिक भावना का विस्तार कर इस उद्यान को समुन्नत बनाए, ऐसी ऋषिगणों की इच्छा रही है। गुरुकुल से लेकर संयुक्त कुटुम्ब तक में इसी भावना के विकास का प्रावधान है। इसी कारण परिवार संस्था को सम्मानित किया गया है।

गृहस्थ-धर्म अन्य सभी धर्मों से अधिक महत्वपूर्ण माना गया है। महर्षि व्यास के शब्दों में “गृहस्थ्ये हि धर्माणां सर्वेषां मूलमुच्यते” गृहस्थाश्रम ही सर्व धर्मों का आधार है। “धन्यो गृहस्थाश्रमः” चारों आश्रमों में गृहस्थाश्रम धन्य है। जिस तरह समस्त प्राणी माता का आश्रय पाकर जीवित रहते हैं, उसी तरह सभी आश्रम गृहस्थाश्रम पर आधारित हैं।

श्रीराम को गृहस्थाश्रम की श्रेष्ठता बताते हुए चित्रकूट में भरत जी कहते हैं—

धर्मेण घतुरो वर्णान्पालयन् क्लेशमाप्नुहि । घतुर्णामाश्रमां हि गार्हस्थ्यं श्रेष्ठमाश्रमम् ॥

धर्मानुसार ब्राह्मणादि चारों वर्णों के पालन करने का कष्ट आप स्वीकार कीजिए क्योंकि हे धर्मज्ञ ! चारों आश्रमों में गृहस्थ आश्रम ही धर्मज्ञशील लोग सर्वोत्तम बतलाते हैं।

(वाल्मीकि रामायण)

अत्रि-अनुसुइया यह कहना गलत है कि गृहस्थाश्रम साधना में किसी तरह बाधक है। प्राचीनकाल में बहुसंख्य ऋषि सपत्नीक रहकर गुरुकुल में वासकर साधना करते, शिक्षण शोध प्रक्रिया चलाते थे।

एक बार अत्रि अपने आश्रम से चलकर एक गाँव में पहुँचे। आगे का मार्ग बहुत बीहड़ और हिंसक जीव-जंतुओं से भरा हुआ था, सो अत्रि रात को इसी गाँव में एक सदगृहस्थ के घर टिक गए। गृहस्थ ने उन्हें ब्रह्मचारी वेष में देखकर उनकी आव-भगत की और भोजन के लिए आमंत्रित किया। अत्रि ने जब समझ लिया कि इस परिवार के सभी सदस्य ब्रह्मसंध्या का पालन करते हैं, किसी में कोई दोष-दुर्गुण नहीं है, तो उन्होंने आमंत्रण स्वीकार कर लिया।

भोजनोपरांत अत्रि ने गृहस्थ को प्रणाम कर प्रार्थना की “देहि मे सुखदां कन्याम्” अपनी सुखदा कन्या मुझे दीजिए, जिससे मैं अपना घर बसा सकूँ। उन दिनों वर ही कन्या दूँदने जाते थे। कन्याओं को वर तलाश नहीं करने पड़ते थे। उन दिनों नर से नारी की गरिमा अधिक थी। गृहस्थ ने अपनी पत्नी से परामर्श किया। अत्रि के प्रमाण पत्र देखे और वंश की श्रेष्ठता पूछी और वे जब इस पर संतुष्ट हो गए कि वर सब प्रकार से योग्य है, तो उन्होंने पवित्र अग्नि की साक्षी में अपनी कन्या का संबंध अत्रि के साथ कर दिया। अत्रि के पास तो कुछ था नहीं, इसलिए गृहस्थ संचालन के लिए आरंभिक सहयोग के रूप में अन्न, वस्त्र, बिस्तर, थोड़ा धन और गाय भी दी। छोटी-सी किन्तु सब आवश्यक वस्तुओं से पूर्ण गृहस्थी लेकर अत्रि अपने घर पधारे और सुखपूर्वक रहने लगे।

इन्हीं अत्रि और अनुसुइया के द्वारा दत्तात्रेय जैसी तेजस्वी संतान को जन्म मिला। भगवान् को भी एक दिन इनके सामने झुकना पड़ा था।

विवाह विद्या से विवाह का अर्थ है दो आत्माओं का मिलन, काया का नहीं। जो शरीर देखते हैं, वे पछताते व बहुमूल्य अवसर खोते हैं।

महर्षि अत्रि की एक पुत्री थी। नाम था उसका अपाला। कुछ बड़ी हुई, तो उसके शरीर पर श्वेत कुष्ठ निकल आया। बहुत उपचार करने पर भी अच्छा न हुआ, वरन् बढ़ता गया।

पुत्री विवाह योग्य हुई। तो वर खोजा गया। उस विदुषी के ज्ञान की प्रशंसा सुन कर अनेक वर आए, पर श्वेत दागों को देखकर वापस लौट गए। ऋषि शिष्य वृताश्व ने बिना कुछ पूछताछ-देखभाल किए ही भावावेश में पाणिग्रहण कर लिया।

घर पहुँचने पर वृताश्व ने जब चर्म दोष देखा तो वे उदास हो गए। कभी ऋषि को, कभी अपाला को कभी अपने को दोष देने लगे। किसी पर भार बनने की अपेक्षा अपाला अपने पिता के यहाँ वापस लौट गई। उसने अपना समस्त ध्यान अध्ययन-तप के लिए नियोजित कर दिया। उसकी प्रवीणता ने उसकी गणना वरिष्ठ ऋषियों में कराई। चर्म दोष की तुलना में ज्ञान और चरित्र की गरिमा भारी बैठी।

एक पत्नीव्रत का न्याय महाभारत के बाद पांडवों ने अश्वमेध यज्ञ किया। उसमें चक्रवर्ती शासन की स्थापना के लिए थोड़ा घुमाया गया। जो चुनौती देता, उसे लड़ना पड़ता।

चंपकपुरी का राजा हंसध्वज बड़ा धर्मात्मा था। उसने अपने राज्य में एक पत्नीव्रत पालन का कठोर कानून बनाया था। जो उसका उल्लंघन करता, उसे दंड दिया जाता। इस दृष्टि से कृष्ण भी उसकी आँखों में खटक रहे थे। उनकी कई रानियाँ थीं। वे कृष्ण को पकड़ बुलाना चाहते थे।

हंसध्वज के पुत्र सुधन्वा ने घोड़े को रोक लिया और अर्जुन को भी बाँध लिया। शर्त एक ही थी कृष्ण का आगमन होने पर घोड़े का छोड़ा जाना। समस्या की गंभीरता और न्यायप्रिय राजा की सामर्थ्य देखकर कृष्ण वहाँ गए और अपने पुरुषार्थ से घोड़े को तथा अर्जुन को छुड़ाकर लाए। किंतु आते समय उस वीर को साधुवाद देकर आए एवं वह आशीर्वाद जो उसके एक पत्नीव्रत के कारण था। उसे महाभारत में अर्जुन से युद्ध में मृत्यु के बाद सीधा स्वर्ग को ले जाया गया। सुधन्वा न्यायोचित प्रचलन की सामर्थ्य देखकर जहाँ मन ही मन बहुत प्रसन्न था। वहाँ भगवान् द्वारा जरासंध से छुड़ाई गई रानियों के पुनर्वास से फैली गलतफहमियों को जानकर उसकी भ्रांतियाँ मिटीं एवं भक्तिभाव और प्रगाढ़ हुआ।

दूसरा विवाह नहीं एक बार गृहस्थाश्रम में सहचर बनने पर दोनों साथियों का धर्म है कि परस्पर एक दूसरे के साथ निर्वाह करें। आज जो अग्नि की वेदी पर शपथ ली गई है, उसे कल नकार दिया जाय, यह तो धर्म की अवहेलना है। इन दिनों ऐसे प्रसंग जब देरों मिलते हैं, कुछ आदर्श हमें प्रेरणा देते हैं।

पुत्र का विवाह परंपरा के अनुसार कुछ कम वय में कर दिया गया। कन्या भी छोटी ही थी माता की देखरेख में ही लड़की का चुनाव किया गया था। किंतु कुछ दिन पश्चात् माता को अनुभव हुआ कि मैंने कन्या का चुनाव ठीक नहीं किया है। अतः उसने विचार किया कि दूसरी उत्तम गुणों वाली कन्या खोजकर पुत्र का दूसरा विवाह कर देना चाहिए।

पर तब तक पुत्र कुछ समझदार हो चला था। माता ने अपना मंतव्य प्रकट किया। पुत्र ने कहा—“दूसरा विवाह नहीं हो सकेगा माँ !” माँ नाराज हुई कहने लगी—“यह मेरे निर्णय का विषय है, तुम्हारा नहीं। तुम अभी बच्चे हो। इसमें मेरे मान-अपमान का प्रश्न है। मैं कन्या पक्ष वालों को आश्वस्ति दे चुकी हूँ। क्या तुम्हें इसीलिए पाल-पोसकर बड़ा किया था, कि तुम्हारे कारण यों लज्जित होना पड़े।”

पुत्र ने समझाया—“आपका मान मुझे प्राणों से भी प्यारा है। उस पर अपनी जीवन आहुति दे सकता हूँ। दूसरा विवाह करने से पत्नी का जीवन नष्ट हो जावेगा।”

माता फिर भी न मानी। तब पुत्र ने कहा—“अच्छा एक बात बताइए। यदि मैं ही अयोग्य होता, तो क्या आप उस कन्या को दूसरा विवाह करने की अनुमति देतीं ?”

इस प्रश्न का माँ के पास कोई उत्तर न था। उन्होंने बेटे के ब्याह की बात बंद कर दी। वह साहसी बालक थे दादा भाई नौरोजी ! कांग्रेस के प्राणदाता, भारत के सच्चे समाज सेवक।

विकलांग बालक को अपनाया कोई आवश्यक नहीं कि नई संतान हर गृहस्थ के यहाँ आनी ही चाहिए। जब परिवार संस्था का उद्देश्य समझ में आ जाए, तो कहीं असमंजस नहीं रहता। सारा विश्व अपना परिवार प्रतीत होता है। जान एडिन के घर विकलांग पक्षाघात से पीड़ित एक बच्ची थी। उसी को दंपति ने पाला-पोसा और शिक्षित किया। दिमागी पक्षाघात से पीड़ित वही बच्ची अपने परिश्रम तथा माँ-बाप की जी तोड़ मेहनत और लगन के परिणाम स्वरूप एम०ए० तक पढ़ सकी।

पारिवारिकता के सच्चे पोषक जाकिर हुसैन जाकिर हुसैन, धर्म से मुसलमान थे, पर उन्हें कट्टरता और संकीर्णता छू भी नहीं गई थी। वे हिंदू-मुस्लिम दोनों को ही अपना परिवार मानते थे। जामिया, मिल्लिया और अलीगढ़ विश्वविद्यालय संचालन का सूत्र जब-तक उनके हाथ में रहा, छात्रों को अच्छा नागरिक और देश भक्त बनाने का भरसक प्रयत्न करते रहे। धर्मांधता का उन्होंने डटकर विरोध किया। वे सादगी पसंद थे। अपने परिवार और संपर्क क्षेत्र में सादगी, शालीनता एवं सहकारिता का पूरे मन से प्रचार करते रहे।

वे राष्ट्रीय कांग्रेस के मूर्धन्य नेता थे। उन्हें कई बार जेल जाना पड़ा। भारत के राष्ट्रपति भी वे रहे। उनकी विद्वता असाधारण थी। हिंदू-मुस्लिम एकता की जड़ें अधिकाधिक गहरी जमाने के लिए वे आजीवन प्रयत्न करते रहे।

सारा विश्व एक विराट् शरीर

आर्ष युग के स्वर में स्वर मिलाकर आधुनिक ऋषि मनीषियों ने भी “उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम्” के अपने विचार व्यक्त किए हैं एवं पारिवारिकता की भावना के विस्तार की महत्ता प्रतिपादित की है। स्वामी रामतीर्थ कहते थे-

“याद रखो ! संपूर्ण जगत् एक शरीर है। तुम्हारे शरीर में हाथ, नख एवं उँगली की तरह ही एक महत्वपूर्ण अवयव है। यदि हाथ, उँगली या नाक शरीर से पृथक् होकर अलग कट जाते हैं, तो फिर उनका सारा महत्व ही नष्ट हो जाता है। आत्मा तभी सच्चे अर्थों में आत्मा है, जब वह अपने को परमात्मा का एक अंश अनुभव करे। विराट् विश्व का एक कण ही तो मनुष्य है।

अखिल विश्व की आत्मा से हम अपने को पृथक् न समझें। हाथ का कल्याण इसी में है कि वह अपना हित समस्त शरीर के हित के साथ जुड़ा रखे, किसी भी अंग को अभाव या कष्ट हो, तो उसके निराकरण का उपाय करे। यदि हाथ अपना यह कर्तव्य धर्म छोड़ दे और कलाई तक ही अपने को सीमित कर ले, तो वह स्वयं नष्ट होगा और सारे शरीर को नष्ट करेगा। संकीर्णता ही पतन और विशालता ही उत्थान है। कोई विराना नहीं, सब अपने ही हैं। सबके कल्याण में अपना कल्याण समाया हुआ है। यही शिक्षाएँ अध्यात्म का सार हैं।

यौवने योजनास्याच्च भौतिकोत्पादनस्य सा ।
प्रगतेश्चापि स्वस्थाऽस्ति स्वावलम्बनसंस्थितेः ॥ २६ ॥
सार्वभौमसमृद्धेश्च समयः शुभ एष तु ।
उपयोगिश्रमासक्तैः समृद्धये भाव्यमेव च ॥ २७ ॥
प्रयासोऽयं गृहस्थस्य धर्मस्यैवाङ्गतां गतः ।
जीवनस्यार्धमस्त्येतद् भौतिकेभ्यस्तु निश्चितम् ॥ २८ ॥
प्रयोजनेभ्य एवापि स्वार्थपारार्थहितवे ।
ब्रह्मचर्ये गृहस्थे च परेषामात्मनस्तथा ॥ २९ ॥
शारीरिव्यास्तथा तस्या मानसिव्या अपि त्विह ।
सामाजिकव्यास्तथाऽऽर्थिव्याः समृद्धिः क्रियतेऽभितः ॥ ३० ॥
निश्चितं शेषमर्थं च परमार्थस्य वृद्धये ।
भावनायाश्चरितस्य सत्प्रवृत्तेश्च वृद्धये ॥ ३१ ॥

भावार्थ—युवावस्था में भौतिक उत्पादन और प्रगति की योजना सामने रहनी चाहिए। अपने स्वावलम्बन और सार्वजनिक समृद्धि के संवर्द्धन का ठीक यही समय है। उपयोगी श्रम में संलग्न रहकर व्यापक समृद्धि के लिए प्रयत्नरत होना चाहिए। यह प्रयास गृहस्थ धर्म का ही अंग है। आधा जीवन भौतिक प्रयोजनों के लिए और स्वार्थ-परमार्थ प्रयोजनों के लिए निर्धारित है। ब्रह्मचर्य और गृहस्थ में अपनों तथा अन्यायों को शारीरिक, मानसिक, सामाजिक और आर्थिक समृद्धि का सर्वतोन्मुखी संवर्द्धन किया जाता है। शेष आधे जीवन को पारमार्थिक, भावनात्मक, चारित्रिक एवं सत्प्रवृत्ति संवर्द्धन के लिए नियोजित रखा जाता है ॥ २६-३१ ॥

व्याख्या—जहाँ गृहस्थाश्रम में व्यक्ति युवा व बल संपन्न होने के कारण स्वयं परिवार एवं समस्त समुदाय की समृद्धि बढ़ाने का प्रयास करता है, वहाँ अंतिम दो आश्रमों, वानप्रस्थ व संन्यास में सारी क्षमताएँ दूसरों को ऊँचा उठाने, उनका भावनात्मक उत्कर्ष करने हेतु नियोजित कर दी जाती हैं। आयुष्य के पूर्वार्द्ध को मूलतः बहिरंग के विकास हेतु, बल-सामर्थ्य, वैभव उपार्जन की पाठशाला माना जा सकता है, तो उत्तरार्द्ध को समुदाय के गुण, कर्म, स्वभाव की परिष्कृति हेतु, समाज में सत्प्रवृत्तियों के विस्तार हेतु नियोजित एक कर्मशाला कहा जा सकता है। इस प्रकार ब्रह्मचर्य-गृहस्थ एवं वानप्रस्थ-संन्यास का सुविभाजन कार्यक्षेत्र है। कहीं किसी भी प्रकार व्यक्ति के समग्र-विकास जीवन-व्यवस्था की अपेक्षा-अवहेलना इससे नहीं होती और न सुव्यवस्थित निर्धारण के कारण कर्तव्य-संपादन में कोई कठिनाई ही आती।

वस्तुतः आश्रम व्यवस्था समाज सेवा का उत्कृष्ट आदर्श है। ब्रह्मचर्य द्वारा शारीरिक शक्तियों का जागरण करना और उसे समाज को समर्पित कर देना। गृहस्थ में परिवार का पालन-पोषण भी उसी का एक रूप है। वानप्रस्थ उस क्षेत्र से भी आगे बढ़कर विश्व परिवार में आत्माहुति है। यह त्याग शनैः शनैः बढ़ता हुआ आत्म-कल्याण की अंतिम भूमिका संन्यास तक पहुँचता है।

युवावस्था पुरुषार्थ का प्रतीक है। पुरुषार्थ से ही विजयश्री मिलती है। अथर्ववेद में कहा गया है—
कृतं मे दक्षिणे हस्ते जयो मे सव्य अहितः। गोविन्द भूयासमश्नजिद धनंजयो हिरण्यजित् ॥

—अथर्व. ७/५०/८०

अर्थात्, मेरे दाहिने हाथ में पुरुषार्थ है। मेरे बाएँ हाथ में विजय है। मैं गाय, अश्व, धन और सुवर्ण को जीतने वाला होऊँ। अर्थात् पुरुषार्थ के द्वारा सभी प्रकार की श्री मुझे प्राप्त हो।

पौरुष की कसौटी युवावस्था में पौरुष, बल-पराक्रम, स्फूर्ति अपनी परकाष्ठा पर होते हैं। जो इसे सुनियोजित करते हैं, वे कम आयुष्य में ही धन्य बनते हैं।

का समय रात को १२ बजे कोर्सिका के सेनापति ने एक छोटे से पदाधिकारी को बुलाकर पूछा—“यदि आपको इसी वक्त दुश्मन के ठिकाने पर भेजा जाय, तो आप इसे क्या समझेंगे?”

“अपना परम सौभाग्य ! इसलिए कि अपने पौरुष की कसौटी का यही तो सबसे अच्छा समय होगा।” यह उत्तर देने वाला और कोई नहीं नैपोलियन बोनापार्ट था, जो कुल २३ वर्ष की आयु में ब्रिगेडियर जनरल बन चुका था।

सच्चा तप श्रम ही वह देवता है, जो सारी सिद्धियों का स्वामी है। आयुष्य के पूर्वार्द्ध में इसके संपादन हेतु ही विधाता ने मनुष्य को शक्ति संपन्न बनाया है। जब भी इसकी उपेक्षा होती है, समाज अव्यवस्थित हो जाता है।

राजा विड़ाल मुनि वैवस्वत को प्रणाम कर चुपचाप बैठ गए। सूक्ष्मदर्शी गुरु ने जान लिया कि विड़ाल किसी गंभीर चिंता से व्याकुल हैं। उन्होंने पूछा—“विड़ाल तुम आज अशांत से दिखते हो। तुम्हें कोई चिंता सता रही हो, तो बताओ?” शिष्य ने अपनी अंतर्वेदना को प्रकट करते हुए कहा, “देव ! न जाने क्यों प्रजाजन अशांत हैं, लोग धर्म और शांति से विमुख हो रहे हैं। धन-धान्य की कमी होती जा रही है, लोग परस्पर स्नेह-भाव से नहीं रहते, अपराध वृत्ति भी वृद्धि पर है।” वैवस्वत ने कहा—“वत्स ! जिस देश में लोग कठोर परिश्रम से जी चुगवें, जो समाज श्रम को सम्मानपूर्ण स्थान न दे, वहाँ श्री-समृद्धि कैसे रह सकती है? श्रम को ही ‘तप’ समझकर यदि साधना की जाय, तो समाज के ये दोष स्वयमेव दूर हो जाँय।”

लगन के धनी हेडगेवार युवावस्था का पराक्रम एक बहुमूल्य संपदा है। डॉ० हेडगेवार ने डॉक्टरी पास तो की, पर उसे व्यवसाय नहीं बनाया। उन्हें देश का पिछड़ापन बहुत दुःख देता था और चाहते थे कि प्राणवान युवकों की ऐसी टोली निकले, जो समूची जाति में प्राण फूँके। उनसे छः छात्रों को लेकर राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ की स्थापना की। संगठन को इतना बढ़ाया, जो आशा से बहुत अधिक था। उनके स्वयं सेवक कांग्रेस का बहुत काम करते रहे। वे स्वयं भी राष्ट्रवादी थे, पर गुंडागर्दी किसी की भी सहन न कर पाते थे। उनके जीवन में घटित हुई अगणित घटनाएँ ऐसी हैं, जिससे उत्कृष्ट देशभक्ति और नवसृजन की आकुलता का पता चलता है। ऐसे ही चरित्रवान् व्यक्ति के माध्यम से स्थापित संगठन एक महती शक्ति बनकर उभरे, तो इसमें आश्चर्य ही क्या है?

आदर्श दम्पति भले ही गृहस्थाश्रम में रह रहे हों, यदि लगन हो, तो उत्साह का सुनियोजन कर क्या कुछ नहीं किया जा सकता?

जापान की एक लड़की हॉन बचपन से ही आदर्शवादी साहित्य पढ़ती और सोचती, विलासिता का जीवन न जीकर आदर्शों का पोषण करना चाहिए। उसने मैट्रिक पास करते ही शिक्षिका की नौकरी कर ली, ताकि स्वावलंबन पूर्वक अधिक अध्ययन और सेवा कार्य कर सके।

‘होची’ पत्र में काम करने वाले एक युवक से उसका विवाह हो गया। वह साथी के साथ लेखन कला का अभ्यास करने लगी। इसके बाद दोनों ने मिलकर ‘फुलिन नो टोमी’ (महिला साथी) नामक पत्रिका निकाली।

संतोष इतने में भी न हुआ। उनसे नारी जीवन की व्यावहारिक शिक्षा पर एक स्कूल खोला। सरकारी मान्यता नहीं मिली, क्योंकि सिर चाटने वाले पाठ्यक्रम को पूरा करना आवश्यक था। पर वे दंपति गृहस्थ-जीवन की व्यावहारिक शिक्षा देना चाहते थे। लगन और व्यवस्था ने उस विद्यालय को भी इतनी प्रगति पर पहुँचाया, जिसे सुनने वाले तक को आश्चर्य होता है। लगनशील जो कर गुजरें, सो कम है।

प्रगतिशील नारी

दूसरी लड़कियों की तरह विवाह तो सुभद्राकुमारी चौहान का भी हुआ, पर उनसे बेड़ी नहीं बनने दिया। पति की मार्गदर्शिका बनकर उनसे अपनी प्रतिभा का एक नया आदर्श उपस्थित किया। विवाह के बाद भी उनसे अपनी पढ़ाई जारी रखी। पति को वकालत के पेशे से छुड़ाकर खंडवा के 'कर्मवीर' का सह-संपादक बनाया और स्वयं भी उस माध्यम से अपनी लेखनी परिमार्जित करती रहीं।

कांग्रेस आंदोलन छिड़ा, तो मध्यप्रदेश की सबसे पहली महिला थीं, जो जेल गईं। उनके पति भी स्वतंत्रता संग्राम में जुट गए। स्वास्थ्य और धन की दृष्टि से उन्हें सदा अड़चन रही, पर उनसे कभी भी अपनी दृढ़ता को झुकने न दिया। मध्यप्रदेश के जन-जागरण में उनका व्यावहारिक योगदान भी कम न था। उनकी कितनी ही रचनाएँ प्रकाशित हुईं और उच्चकोटि की मानी गईं। वे प्रगतिशील समाज के लिए एक अनुकरणीय राजमार्ग छोड़ गई हैं।

मैं बंधन में नहीं बंधूँगा

कई व्यक्ति इसके अपवाद भी होते हैं। वे विशिष्ट उद्देश्यों को लेकर जन्म लेते हैं, उन्हीं के लिए जीते हैं।
बात सन् १९१४ की है। एक दिन गुरुदेव टैगोर जी ने सी० एफ० एण्ड्रूज से कहा—“विवाह जीवन की पूर्णता है। प्रगति के मार्ग में पत्नीसे पूरी-पूरी सहायता मिलती है और दोनों के सहयोग से विपत्तियाँ दूर हो जाती हैं। सच्चा जीवन जीने के लिए मनुष्य को विवाह अवश्य करना चाहिए और आपने विवाह न करके बड़ी भारी भूल की है।

दीनबंधु एण्ड्रूज ने सहज भाव से उत्तर दिया—“हाँ! आपकी बात बिल्कुल सत्य है। मैं भी अनुभव करता हूँ कि विवाह के बिना पवित्र प्रेम तथा पिता और पति के मोहक कर्तव्यों से मैं वंचित रहूँगा और मेरे जीवन का विकास अवरुद्ध हो जाएगा। पर दांपत्य जीवन के सुख की जब मैं कल्पना करता हूँ, तो मेरा मन मुझे एक अन्य दिशा की ओर ही ले जाना चाहता है।”

वह कहता है, “तुम अपनी सेवाएँ राष्ट्रीय आंदोलन को समर्पित कर चुके हो। जब तक देश स्वतंत्र नहीं हो जाता, तब तक तुम्हारा कुछ नहीं, सब कुछ राष्ट्र का ही होगा। तुम मिशन में सर्विस करते हो, उसका क्या भरोसा? फिर नौकरी छूट जाने पर घर-गृहस्थी के बोझ को सँभालने के लिए नौकरी की तलाश करोगे या राष्ट्रीय आंदोलनों में भाग लोगे” और मेरे मन में उठने वाले यही विचार दांपत्य जीवन के रेशमी सूत्र में नहीं बँधने देते। दीनबंधु एण्ड्रूज आजीवन अविवाहित रहकर भारतवासियों को देशभक्ति का संदेश देते रहे।

सही चुनाव

आयुष्य के उत्तरार्द्ध में प्रवेश भी सोद्देश्य होना चाहिए। यदि उसकी सार्थकता न हो, तो समयक्षेप न करना ही अच्छा।

एक संन्यासी गृहस्थ छोड़कर कुटी बनाकर गंगा के किनारे रहने लगा। साधुओं से ही निरंतर उसका संपर्क रहता। दो साधुओं को दस पैसा भिक्षा के सिलसिले में आपस में सिर फोड़ते देखा। एक विद्वान् के प्रवचन उसे बहुत अच्छे लगते थे। उन्हें रोज सुनने जाता। बाद में मालूम पड़ा कि एक महिला को उड़ा ले जाने के सिलसिले में उसे पुलिस पकड़ ले गई। ऐसे ही साधुओं की अनेक करतूतें देखकर उसने निश्चय किया कि इनसे तो गृहस्थ अच्छे। वह वापस अपने घर लौट आया।

बहुतों ने अच्छा कहा, बहुतों ने बुरा। पर वह गृहस्थ में साधु रहकर अपनी दिनचर्या चलाने लगा। उसने एक-एक मुट्ठी अनाज हर घर से संग्रह करके, अपने गाँव में पाठशाला स्थापित की। उस क्षेत्र में विद्या के प्रचार की बहुत कमी थी। उसने घूम-घूम कर बीस पाठशालाएँ खुलवाईं। पीछे कितने ही हाईस्कूल बन गए। उसकी आत्मा ने कहा—“ऐसे साधु बनने की अपेक्षा सद्गृहस्थ रहकर सेवा कार्यों में निरत रहना अच्छा।”

पता ही न चला

आश्रम कोई भी हो, सार्थकता समय के उपयोग की है। हर अवसर को प्रफुल्ल मनःस्थिति से लिया जाना चाहिए। हजरत नूह को एक हजार वर्ष की आयु मिली। जब वे उसे पूरी करके



स्वर्ग गए, तो उनसे पूछा गया कि इतना समय उनने किस प्रकार काटा होगा ।

नूह ने कहा-“मुझे ऐसा लगा, मानों एक दरवाजे से घुसा और दूसरे से निकल आया । निरंतर कर्तव्य-पालन में इतना व्यस्त रहा कि समय का पता ही न चला ।”

देवसंस्कृतिरेतस्मै वानप्रस्थाश्रमस्य च ।
 संन्यासस्य व्यधात् पूर्णं व्यवस्थां सुदृढमिह ॥ ३२ ॥
 जनसंपर्कमाकर्तुमन्यान् वा रचनात्मकान् ।
 कार्यक्रमान्श्च जागृत्यै सामर्थ्ये तु शरीरगे ॥ ३३ ॥
 वानप्रस्थक्रमः सोऽयं निर्वोदुं शक्यते जनैः ।
 क्षीणायां वपुषः शक्तौ संन्यासी तु कुटीचरः ॥ ३४ ॥
 एकदेशस्थितो दद्यात् साधनाया अथापि च ।
 प्रेरणां शिक्षणस्यात्र पुण्यां हितहितां सदा ॥ ३५ ॥

भावार्थ—देव संस्कृति ने इसके लिए वानप्रस्थ और संन्यास आश्रमों की सुदृढ़, अपने में पूर्ण व्यवस्था बनाई है । जन जागरण के लिए जन संपर्क एवं रचनात्मक कार्यक्रम संचालन योग्य शारीरिक सामर्थ्य रहते वानप्रस्थ निभाया जाना चाहिए । शारीरिक शक्ति क्षीण होने पर कुटीचर संन्यासी के रूप में एक स्थान पर रहकर पुण्यदायी, लोकहितैषी साधना, शिक्षण एवं प्रेरणा संचार का काम सँभालना चाहिए ॥ ३२-३५ ॥

गृहस्थस्य विरक्तस्य वानप्रस्थस्य मध्यगः ।
 वानप्रस्थसुसंस्कारान् स्वीकुर्वन्निवसेत् क्वचित् ॥ ३६ ॥
 आरण्यके यथाकालं कर्तव्यानि निजानि च ।
 निर्वोदुमनुगन्त्रीं च शिक्षामासादयेन्नरः ॥ ३७ ॥
 साऽधुनाऽपि तथा कार्या कार्यं यच्च महत्वगम् ।
 कर्तुं हस्तगतं तच्च पूर्वमावश्यकं ततः ॥ ३८ ॥
 अनुभवं शुभमभ्यासं कुर्यादिदमुच्यते ।
 वानप्रस्थस्य दीक्षायाः शुभारम्भस्वरूपकम् ॥ ३९ ॥
 वानप्रस्थाश्च स्वस्यास्य क्षेत्रस्य परिधेर्बहिः ।
 दूरक्षेत्रेषु गत्वा ते सेवन्ते जनतां सदा ॥ ४० ॥

भावार्थ—गृहस्थ और विरक्त-वानप्रस्थ के मध्यांतर में वानप्रस्थ संस्कार संपन्न करते हुए कुछ समय किसी उपयुक्त आरण्यक में रहकर अपने नए कर्तव्य-उत्तरदायित्व के निर्वाह में सहायक हो सकने वाली शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए तथा साधना करनी चाहिए । हर महत्वपूर्ण कार्य को हाथ में लेने से पूर्व उसके लिए आवश्यक अनुभव एवं अभ्यास की आवश्यकता पड़ती है । यही वानप्रस्थ की दीक्षा का शुभारंभ स्वरूप है । वानप्रस्थ अपने परिचित क्षेत्र की परिधि से बाहर निकल कर दूर क्षेत्रों में सेवारत रहते हैं ॥ ३६-४० ॥

व्याख्या—परमार्थ प्रयोजन के निमित्त, जनमानस का भावनात्मक परिष्कार करने के लिए देव संस्कृति की बड़ी ही सुंदर वानप्रस्थ एवं संन्यास के रूप में आश्रम व्यवस्था है, जो आयुष्य के उत्तरकाल में संपन्न होती है । पूर्वार्द्ध में अर्जित विद्या, संचित अनुभवों की संपदा से विभूषित व्यक्ति का यथाशक्ति, सर्वश्रेष्ठ लाभ समाज को मिले, इस व्यवस्था के मूल में यही तत्त्वदर्शन है । जब तक शरीर साथ दे, तब तक निरंतर समाज परिकर में भ्रमण करते हुए जनजागृति का अलख जगाया जाय, श्रेष्ठता का पक्षधर वातावरण बनाया जाय । जब शरीर बल क्षीण हो जाता है, वार्धक्य के कारण शक्ति उतनी नहीं रहती, तब संन्यास आश्रम ग्रहण कर किसी स्थान विशेष, आरण्यक, संस्कारित तीर्थ पर स्थिर हो आत्म परिष्कार, उन्नयन की साधना, जनमानस के परिष्कार हेतु लोक शिक्षण एवं धर्मधारणा के प्रसार-विस्तार का पुण्य कार्य संपन्न किया जाय । यही ऋषिगणों द्वारा निर्धारित व्यवस्था है, जो आदि काल से चली आ रही है ।

वानप्रस्थ हेतु ऋषि आदेश देते हैं कि गृहस्थाश्रम के दायित्वों से निवृत्ति के तुरंत बाद स्वयं को इस पुण्य-प्रयोजन हेतु दीक्षित करना चाहिए। यह कार्य तीर्थ क्षेत्र, श्रेष्ठ संतों अथवा आरण्यकों में रहकर उनके मार्गदर्शन में संपन्न हो सकता है। हर कार्य के लिए समुचित शिक्षण अनिवार्य है। बिना शिक्षण के न तो कोई चिकित्सक बन सकता है, न ही अध्यापक। जब समाज रूपी विराट् तंत्र का लोक शिक्षण करना हो, तो इस विधा में प्रशिक्षित होना जरूरी है। तदुपरांत कार्य क्षेत्र में निकला जाय, यह अपने परिचित संपर्क के क्षेत्र से अलग हो। इससे नयों के संपर्क में आने का अवसर मिलता है, झिझक खुलती है एवं पुराना परिकर न होने के कारण किसी प्रकार का पूर्वाग्रह नहीं रहता।

आध्यात्मिक और पारमार्थिक गतिविधियाँ अपनाकर जीवन के उत्तरार्द्ध को इतना मृदुल और सरस बनाया जा सकता है, मानो नवीन जन्म ग्रहण किया गया है। जिस प्रयोजन के लिए यह शरीर मिला है, मानव जन्म का जो परम लक्ष्य है, वह पूर्वार्द्ध में यत्किंचित ही पूरा हो पाता है। अधिक उत्तम सुअवसर तो उत्तरार्द्ध में ही मिलता है। मानसिक उभार उतर जाने और परिवार का भार हलका हो जाने से मन भी अच्छी तरह लगता है और चित्त के डॉवाडोल होने की, लुढ़कने-फिसलने की आशंका भी कम रहती है। मरण का दिन समीप आता देखकर परमार्थ की पुण्य पूँजी संग्रह करने के लिए, अगले जन्म में ऊँची स्थिति पाने के लिए उत्कंठा जागृत होती है और अधिक गंभीरतापूर्वक दिव्य जीवन की उन गतिविधियों को अपनाया जा सकता है, जो चढ़ती उम्र में प्रायः अरुचिकर और कठिन लगती थीं।

ब्रह्मविद्या की तत्त्वदर्शन ज्ञान साधना, योगाभ्यास की तप-साधना, लोकमंगल की सेवा-साधना—यह तीनों अमृतमयी देवसरिताएँ मिलकर गंगा-यमुना-सरस्वती के मिलन, संगम का प्रयोजन पूरा करती हैं और तीर्थराज प्रयाग जैसी त्रिवेणी इस जीवन में प्रादुर्भूत होती है। यह अभिनव आनंद अपने ढंग का अनौखा है और ऐसा है, जिससे बालकपन, किशोरावस्था और यौवन में जो अर्जित किया गया था, उससे कम नहीं, वरन् अधिक ही आनंदमयी विभूतियाँ उपलब्ध हो सकती हैं-होती हैं। संपदाओं से विभूतियों का स्तर हलका नहीं, भारी ही है। इसलिए पूर्वार्द्ध में जो उपार्जित किया गया था, उसकी तुलना में उत्तरार्द्ध की कमाई का मूल्य भी अधिक ही आता है। ऐसी दशा में परमार्थ परायण उत्तरार्द्ध में प्रवेश करने वाले को बाल्यकाल और यौवन के चले जाने का पश्चात्ताप नहीं करना पड़ता, वरन् यही अनुभव होता है कि वह अल्हड़पन चला गया सो अच्छा ही हुआ, यह ढलती आयु ऐसे अनुदान-वरदान लेकर आई है, जिनका इस गधापट्टीसी के दिनों मिल ही सकना कठिन है। ऐसे चिंतन के रहते किसी को पूर्वार्द्ध के बीत जाने से दुःखी होने, पछताने की जरूरत नहीं पड़ती, वरन् यह अधिक महत्वपूर्ण अवसर हाथ लगने का संतोष ही होता है।

जीवन उतना ही सार्थक है, जितना कि सदुद्देश्यों के लिए जिया जाता है।

आयु पाँच वर्ष एक वृद्ध से बादशाह नौशेरवाँ ने पूछा—“आपकी उम्र कितनी है ?” उसने कहा—“पाँच वर्ष।” इस पर आश्चर्य से उसने फिर पूछा—“सो कैसे ?”

वृद्ध ने कहा—“इतनी उम्र तो नर-पशुओं की तरह दिन गुजारने में बीत गई। अब पाँच वर्ष से जीवन-साधना में प्रवृत्त हुआ हूँ और मनुष्य जन्म सार्थक होते अनुभव किया है। इसलिए मेरी उम्र मनुष्य योनि में पाँच वर्ष ही हुई है।” नौशेरवाँ का समाधान हो गया। वस्तुतः आयु उतनी ही सार्थक है, जितने में कुछ करने योग्य बन पड़ा।

फुरसत कभी नहीं मिली आयु बीतती जाती है। प्रौढ़ावस्था आती है, पर व्यक्ति अपने ही बनाए बंधनों में जकड़ा उनसे उबर नहीं पाता। एक व्यवसायी और साधु में अक्सर भेंट होती रहती। साधु सत्संग में आने की बात कहता। व्यवसायी व्यस्तता का बहाना बना देता। धन बढ़ता गया और व्यस्तता बढ़ती गई।

अधिक धन बढ़ जाने से उसने एक आलीशान मकान बनाया। दुकान से घर आया, तो पत्नी ने खिचड़ी परोसी। एक बोला—खाने की फुरसत नहीं, पहले जरा मकान की निगरानी कर आऊँ। देखकर निकल ही रहा था कि ऊपर से एक भारी पत्थर गिरा और सिर का कचूमर निकल गया। खिचड़ी जहाँ की तहाँ पड़ी रही।

प्राण निकलने पर बाहर आई आत्मा को साधु ने देखा और पूछा—अब सत्संग की फुरसत है क्या ? मृतात्मा ने



पश्चात्ताप भरी आँखों से संत की ओर देखा और कर्मफल भुगतने के लिए आगे बढ़ गई ।

प्रेरक इस्तीफा

कर्तव्य की पुकार व्यक्ति को बेचैन करती व वह काम करा लेती है, जिसके लिए मनुष्य का जन्म हुआ है ।

नोबल पुरस्कार विजेता और प्रख्यात लेखक विलियम फाकनर किसी जमाने में मिसिसिपी डैकखाने में एक मामूली क्लर्क थे । आयु का बहुमूल्य हिस्सा इस नौकरी में ही निकल चुका था । बहुमूल्य जीवन का बहुमूल्य उपयोग करने के लिए उनकी आत्मा बहुत तड़पती थी, पर वेतन देने वाले अधिकारी जरा भी अवकाश डाक के अतिरिक्त और कुछ करने के लिए देने को तैयार न थे । एक दिन वे बहुत उद्विग्न हो उठे और भविष्य की आजीविका का बिना कुछ विचार किए इस्तीफा लिखने बैठ गए । आवेश में लिखा वह इस्तीफा पोस्ट मास्टर जनरल के पास पहुँचा और वहाँ उसे स्वीकार भी कर लिया गया । इसके बाद वे साहित्य सृजन के कार्य में दत्तचित्त होकर लग गए । वह आवेश भरा इस्तीफा राष्ट्रीय संग्रहालय में सुरक्षित रखा है और पर्यटकों के लिए वह एक कौतूहल की ही पूर्ति नहीं करता, एक प्रेरणा और दिशा भी देता है । इसमें लिखा है—

“पेट पालने के लिए दूसरों पर आश्रित रहना, उनके इशारों पर चलना तो पड़ता ही है, पर मेरे लिए यह असह्य है कि पैसे के लिए ही बिका रहूँ और जिंदगी के कीमती क्षणों को ऐसे ही गँवाता, बर्बाद करता रहूँ । अब इस सर्वस्वीकृत ढर्रे पर चलते रह सकना मेरे लिए संभव न हो सकेगा । मैं कुछ ऐसा करूँगा, जो मुझे करना चाहिए । सो यह लीजिए मेरा ‘इस्तीफा’ ।”

भरपूर उत्साह,

कर्मनिष्ठा में विश्वास रखने वाले आयु के बंधन में नहीं बँधते । वे सतत् उत्साह से भरे रहकर कर्तव्यपालन में लगे रहते हैं ।

असीम जीवत

अमेरिका के प्रसिद्ध न्यायाधीश होम्स जब सेवानिवृत्त हुए तो उस अवसर पर एक पार्टी का आयोजन किया गया । इस पार्टी में विभिन्न अधिकारी, उनके मित्र, पत्रकार तथा संवाददाता सम्मिलित हुए थे । न्यायाधीश के पद से निवृत्त होने के बावजूद भी उनके चेहरे पर बुढ़ापा नहीं जवानी झाँक रही थी । पार्टी के दौरान ही एक संवाददाता ने उनसे पूछा—“अब इस वृद्धावस्था में तो आप आराम करेंगे या कुछ और । आपने अपने भावी जीवन का क्या कार्यक्रम बनाया है ?”

“वृद्धावस्था”—बड़े आश्चर्य से होम्स ने कहा—“क्या मैं वृद्ध दिखाई दे रहा हूँ । वस्तुतः मेरी जवानी तो अब आई है, क्योंकि लंबे समय से जिन कार्यों को मैं टालता रहा था, उन्हें अब प्रारंभ करूँगा ।” “कौन से काम टाल रहे थे आप जिन्हें अब पूरे करेंगे ?” “पहला काम तो यह कि बहुत समय से मैं बढ़ई का काम सीखना चाह रहा था, लेकिन अब तक इसका समय ही नहीं मिल पाया । अब बढ़ई का काम सीखने के साथ-साथ मैं विज्ञान का अध्ययन करूँगा, नए-नए खेल सीखूँगा और अपने मानसिक क्षितिज का विकास करूँगा ।”—होम्स बोले—“और भले ही मैं बूढ़ा हो जाऊँ तो क्या, काम करना छोड़ूँगा थोड़े ही । काम करना छोड़ देने की अपेक्षा मैं मर जाना पसंद करूँगा ।”

समय बढ़ा दिया

प्रेसीडेंट लिंकन के एक मित्र ने कहा—“आप काफी वृद्ध हो गए हैं, अब काम के घंटे कुछ कम कर देना चाहिए ।” लिंकन हँसे और बोले—“श्रीमान् जी ! इस परिपक्व अवस्था से बढ़िया काम करने का और कौन समय होगा ?” यह कहकर उन्होंने अपने सेक्रेटरी से कहकर काम के घंटों में १ घंटे की और वृद्धि कर दी ।

बोकर,

एक धनी ने अपनी चारों पुत्र वधुओं की बुद्धि परीक्षा लेने के लिए पाँच-पाँच धान के दाने दिए और कहा कि वह दो वर्ष बाद उनका लेखा-जोखा लेगा । एक बहू ने उन्हें कूड़े में फेंक दिया ।

फसल बनाई

सोचा घर में ढेरों धान भरा है । ससुर जी जब माँगेंगे, तब दे देंगे । दूसरी ने चिड़िया को चुगा दिए । तीसरे ने रूमाल में बाँधकर उस अमानत को सुरक्षित रखा । चौथी ने पास की जमीन में उन्हें बोया और कई फसलें एक साल में काटते हुए बढ़ाकर उन्हें एक मन बना लिया । कई वर्ष बाद ससुर ने चावलों का ब्यौरा माँगा, तो जिरने बोकर फसल बढ़ाई, उसे बुद्धिमान माना, प्रशंसा की और उपहार दिया ।

भगवान् ने पाँच तत्व और पाँच प्राणों का यह जीवन दिया है, जो उसका गौरव बढ़ाते हैं, वे भगवान् का अनुग्रह प्राप्त करते हैं । वानप्रस्थ में व्यक्ति समाजरूपी क्षेत्र में सत्प्रवृत्तियों के बीज बोता और लहलहाती फसल पाता है ।

ऋण चुकाओ

विनोबा के बड़े भाई बालकोवा एक बार क्षयग्रस्त हुए। दोनों फेंफड़े सड़ गए। गांधी जी ने उनको प्राकृतिक उपचार बताया। अच्छे हो गए, तो उनने जीवन लौट आने पर शेष आयु को बापू के आदेश पर खर्च करने का निश्चय किया। उन्हें उरुलीकाँचन का प्राकृतिक चिकित्सालय चलाने के लिए भेज दिया और कहा जिस उपाय से आपके प्राण बचे हैं, उसी पर अन्य लोगों को भी चलाकर उनकी सेवा कीजिए। बालकोवा ने वही किया।

जीवनभर प्राकृतिक चिकित्सा के माध्यम से नया जीवन एवं जीवन जीने की कला सिखाने में लगे रहे। मनुष्य पर समाज ऋण जो चढ़ा है, उससे मुक्ति हेतु ही वानप्रस्थ बनाया गया है।

स्वर्ग और

नरक जीने की

कसौटी

परवाह न की। ऐसी है मेरी भक्ति।

उस संत को यमदूतों ने अपनी कूड़ा गाड़ी में लादकर नरक पहुँचा दिया। धर्मराज ने कहा—“कर्तव्यों का परित्याग करके कोई भक्ति नहीं हो सकती।”

पहले तैयार हो

जाओ

कुम्हार ने कहा—“यह कुछ भी कठिन नहीं। तुम कुचले जाने, चाक पर घूमने और आँवे में पकने भर को तैयार हो जाओ। मेरे हाथ तुम्हारी इच्छा पूर्ति में पूरी-पूरी सहायता करेंगे।”

हर व्यक्ति के लिए ऐसे अवसर आते हैं। कब्रन कितना, किस स्थिति में स्वयं को लचीला बनाता और परिस्थितियों के अनुरूप बदलता है, इसी पर उसकी आयुष्य की सार्थकता निर्भर है।

श्रेणिक पुत्र मेघ ने भगवान् बुद्ध से मंत्र दीक्षा ली और उनके साथ ही रहकर तपस्या में लग गए। बिरक्त मन को उपासना से असीम शांति मिलती है। कूड़े से जीवन में मणि-मुक्ता की सी ज्योति झिलमिलाने लगती है, मन-वाणी-चित्त अलौकिक स्फूर्ति से भर जाते हैं। साधक को रस मिलने लगता है। तो मेघ भी अधिकांश समय उसी में लगाते। किंतु भगवान् बुद्ध की दृष्टि अत्यंत तीखी थी। वह जानते थे रस सब एक हैं, चाहे वह भौतिक हों या आध्यात्मिक। रस की आशा चिर नवीनता से बँधी है, इसीलिए जब तक नयापन है, तब तक उपासना में रस स्वाभाविक है, किंतु यदि आत्मोत्कर्ष की निष्ठा न रही, तो मेघ का मन उचट जाएगा, अतएव उसकी निष्ठा को सुदृढ़ कराने वाले तप की आवश्यकता है। सो वे मेघ को बार-बार उधर धकेलने लगे।

मेघ ने कभी रूखा भोजन नहीं किया था। अब उन्हें रूखा भोजन दिया जाने लगा, कोमल शैय्या के स्थान पर भूमि शयन, आकर्षक वेशभूषा के स्थान पर मोटे वल्कल वस्त्र और सुखद सामाजिक संपर्क के स्थान पर राजगृह आश्रम की स्वच्छता, सेवा-व्यवस्था एक-एक कर इन सबमें जितना अधिक मेघ को लगाया जाता, उनका मन उतना ही उत्तेजित होता, महत्वाकांक्षाएँ सिर पीटतीं और अहंकार बार-बार आकर खड़ा होकर कहता—“ओ रे मूर्ख मेघ ! कहाँ गया वह रस। जीवन के सुखोपभोग को छोड़कर कहाँ आ फैसा।” मन और आत्मा का द्वंद्व निरंतर चलते-चलते एक दिन वह स्थिति आ गई जब मेघ ने अपनी विरक्ति का अस्त्र उतार फेंका और कहने लगे—“तात ! मुझे तो साधना कराइए, तप कराइए जिससे मेरा अंतःकरण पवित्र बने।”

तथागत मुस्कराए और बोले—“तात ! यही तो तप है। विपरीत परिस्थितियों में भी मानसिक स्थिरता—यह गुण है। जिसमें आ गया, वही सच्चा तपस्वी, वही स्वर्ग विजेता है। उपासना तो उसका एक अंग मात्र है।” मेघ की आँखें खुल गईं और वे एक सच्चे योद्धा की भाँति मन से लड़ने को चल पड़े।

वानप्रस्थ बिना मन के मल्लयुद्ध को जीते नहीं लिया जाना चाहिए। वेश वैसा रहे व मन कहीं और, तो



वह जीवन तो भौतिक जीवन से भी गया बीता है ।

दीक्षा सही व्यक्ति

रैदास के गुरु स्वामी रामानंद साधुवेषधारियों से परिवार के उत्तरदायित्व पूर्ण होने न होने की बात पूछते थे और जिनकी जिम्मेदारियाँ शेष थीं, जो भावावेश में या मुफ्त का

को, सही समय पर

निर्वाह-सम्मान पाने के लिए गेरूआ वस्त्र पहने फिरते थे, उन्हें समझा-बुझाकर गृहस्थ

में रहकर परमार्थ परायण होने की शिक्षा देते थे ।

छत पर ऊँट

बलख के बादशाह इब्राहीम भगवान् की भक्ति में दखल रखते थे । वे अमीरी और भक्ति दोनों में प्रवीण होना चाहते थे । एक रात उनसे छत पर खटपट की आवाज सुनी । उनसे चौककर पूछा-

“कौन है ?” जवाब मिला-“तुम्हारा दुश्मन नहीं हूँ ।”

इब्राहीम ने संतोष की सांस लेते हुए दूसरा प्रश्न पूछा-“तो फिर कौन हो ? छत पर क्या कर रहे हो ?” उलटकर जवाब आया-“ऊँट खो गया है, उसे यहाँ तलाश कर रहा हूँ ।” इब्राहीम हँस पड़े, बोले-“भला छत पर कहीं ऊँट तलाश किया जाता है ।” उलट कर आवाज आई-“तो अमीरी में भी कहीं भक्ति खोजी जा सकती है ।”

इब्राहीम की आँखें खुल गईं उनसे भोर होते ही फकीरी ले ली और सही ढंग से इबादत में जुट गए ।

चरैवेति-चरैवेति

चट्टान रास्ते में बैठी थी । नदी का प्रवाह रोककर बोली-“बहन ! थोड़ी देर सुस्ता लो । यह दुनियाँ कृतघ्नों से भरी है । तुम्हारी उदार तत्परता की कोई सराहना तक न करेगा ।”

नदी ने चट्टान की सद्भावना को सराहा तो, पर रुकी नहीं । बोली-“मुझे चलने में जो आत्मसंतोष मिलता है, वही क्या कम है, जो लोगों की कृतज्ञता-कृतघ्नता को देखने का प्रयत्न करूँ ? मेरा धर्म तो सतत् चलते रहना ही है, जिसे निबाहने का मैं प्रयास करती हूँ ।”

सरिता की तरह वानप्रस्थ का अर्थ है-“चलते रहो-चलते रहो । रुको मत । अपनी प्रतिभा के अनुदान सबको बाँटते चलो ।”

कुर्वते वानप्रस्थास्ते समाजे सर्वदैव तु ।
सद्भावस्य ज्ञानस्य वृद्धिमत् निरन्तरम् ॥ ४१ ॥
रचनात्मकवृत्तीनामपि लोकहितात्मनाम् ।
मूढानां मान्यतानां च वारणं तु कुरीतिभिः ॥ ४२ ॥
विद्यते युगधर्मोऽयं शाश्वती च परम्परा ।
प्रत्येकस्मिन् युगे ग्राह्या जनैरेषा परम्परा ॥ ४३ ॥

भावार्थ-वानप्रस्थ समाज में निरन्तर सद्ज्ञान, सद्भाव एवं लोकोपकारी रचनात्मक सत्प्रवृत्तियाँ बढ़ाने तथा कुप्रचलनों, मूढ़मान्यताओं आदि के निवारण का कार्य करते हैं । यह शाश्वत परंपरा भी है और युग धर्म भी । अतः प्रत्येक युग में इस परंपरा का अनुसरण व्यक्तियों को करना चाहिए ।

आश्रमेषु चतुर्ष्वेव वानप्रस्थो महत्त्वगः ।
लोकमंगलसिद्धिश्च जायते तत्र संभवा ॥ ४४ ॥
अस्मादेवाश्रमाद् योग्यसमर्थानां चमूरिव ।
लोकसेविनुणां वर्ग उदेत्यनुभवाऽधिकः ॥ ४५ ॥
सर्वेषां विदितं चैतल्लोकमङ्गलकामुकः ।
उदारहृदयो यश्च मनुजोऽनुभवी भवेत् ॥ ४६ ॥
आत्मकल्याणवद् विश्वकल्याणं कर्तुमुत्सेहेत् ।
स एव निश्चितं नात्र विचिकित्सा मनागपि ॥ ४७ ॥
धनव्ययो न येषु स्याद् योग्यता भावना धिया ।
मूर्धन्या ये विनिर्मान्ति ते नरा लोकसेविनः ॥ ४८ ॥



देशं समाजमप्यत्र सम्पन्नं शक्तिसंयुतम् ।
 तेषां यदा भवेदत्र न्यूनता तर्हि वर्धते ॥ ४९ ॥
 अविकासस्थितिर्नूनं सर्वत्रैव महीतले ।
 विश्वव्यवस्थितौ येषां दायित्वं विद्यते नृणाम् ॥ ५० ॥
 परोधसां न शालीन्यन्यूनता स्याद् भुवीति तत् ।
 वानप्रस्थे समुत्पन्नं परिपक्वं च जायते ॥ ५१ ॥

भावार्थ—चारों आश्रमों में वानप्रस्थ सबसे महत्वपूर्ण है । उसी से लोकमंगल की साधना बन पड़ती है । लोकसेवियों की सुयोग्य और समर्थ सेना इसी आश्रम के भांडागार से निकलती है । सर्वविदित है कि अनुभवी उदारचेता और लोकमंगल की भावनाओं से ओत-प्रोत व्यक्ति ही आत्मकल्याण और विश्वकल्याण का उभयपक्षीय प्रयोजन पूरा कर पाते हैं, इसमें संदेह नहीं । जिन पर धन न खर्च करना पड़े, जो योग्यता और भावना की दृष्टि से मूर्धन्य हों, ऐसे लोकसेवी ही किसी देश या समाज को समर्थ-संपन्न बना पाते हैं । उनकी कमी पड़ने से सर्वत्र पिछड़ापन बढ़ता है । विश्वव्यवस्था में शालीनता की मात्रा कम न होने देने की जिम्मेदारी जिस पुरोहित वर्ग की है, वह वानप्रस्थ में ही प्रकट और परिपक्व होता है ॥ ४४-५१ ॥

व्याख्या—देवसंस्कृति द्वारा निर्धारित आश्रम व्यवस्था में वानप्रस्थों के लिए, चाहे वह किसी भी आयु में लिया गया हो, प्रमुख दायित्व है—जनमानस के परिष्कार का । उसे धर्मतंत्र के माध्यम से लोक शिक्षण करना होता है । यह कार्य इतना महत्वपूर्ण है कि वानप्रस्थ की संस्कृति का मेरुदंड कहा गया है । समाज में अनपढ़ व्यक्तियों का बाहुल्य है । परंपराएँ, कुप्रचलन, अंधविश्वास समाज की प्रगति के मार्ग में अवरोध बन गए हैं । जिस प्रकार समय-समय पर हर स्थान आमूलचूल सफाई की अपेक्षा रखता है, उसी प्रकार समाज रूपी परिकर के परिशोधन हेतु, दुष्प्रवृत्तियों के निवारण एवं सत्प्रवृत्तियों के संवर्द्धन हेतु, लोकमंगल हेतु समर्पित व्यक्तियों की आवश्यकता निरंतर पड़ती रहती है ।

वानप्रस्थ उस भावनाशील लोकसेवी की भूमिका निभाते हैं, जो स्वेच्छा से समर्पित हों, समाज निर्माण को, नैतिक-बौद्धिक को, अपना कर्तव्य मानकर चलते हैं, थोपी गई जिम्मेदारी नहीं । इसके लिए वे समाज पर भी भार नहीं बनते । वेद में कहा गया है—“वयं राष्ट्रे जागृत्याम पुरोहिताः” । यहाँ ‘पुरोहित’ शब्द से आशय वानप्रस्थ के रूप में कार्यरत पूर्ण समर्पित लोकसेवी से है । “हम पुरोहित राष्ट्र को जागृत और जीवंत बनाए रखेंगे” जैसी उद्घोषणा करने वाला देव संस्कृति का यह प्रतिनिधि घर-घर अलख जगाने-धर्म चेतना के व्यापक विस्तार के अपने संकल्प को बार-बार दुहराता है ।

आज के युग में जहाँ अनास्था का बाहुल्य है एवं चारों ओर दुष्प्रवृत्तियों ही संव्याप्त नजर आती हैं, वानप्रस्थों के ऊपर महती जिम्मेदारी आती है । अनीति, अभाव व अज्ञान के असुरों से जूझने हेतु समर्पित व्यक्तित्व चाहिए, जो गृहस्थ की जिम्मेदारी से मुक्त हों एवं श्रम, समय, मनोयोग लगाकर लोककल्याण हेतु तत्पर हो सकें ।

इस आश्रम व्यवस्था के संबंध में शास्त्रकारों के स्पष्ट निर्देश हैं—

शास्त्र सम्मति एवं वनाश्रमे तिष्ठन् पातयश्चैव किल्बिषम् । चतुर्थमाश्रमं गच्छेत् संन्यासविधिना द्विजः ॥

(हारीत स्मृति ६/२)

गृहस्थ के बाद वानप्रस्थ ग्रहण करना चाहिए । इससे समस्त मनोविकार दूर होते हैं और वह निर्मलता आती है, जो संन्यास के लिए आवश्यक है ।

महर्षिपितृदेवानां गत्वाऽऽनृण्यं यथाविधि । पुत्रे सर्वं समासज्य वसेन्याध्यस्थ्यमास्थितः ॥

(मनु ४/२५७)

दलती आयु में पुत्र को गृहस्थी का उत्तरदायित्व सौंप दें । वानप्रस्थ ग्रहण करे और देव, पितर तथा ऋषियों का ऋण चुकावे ।



पवन की विवेकशीलता

जन जागरण हेतु यात्रा का अर्थ मात्र उस क्रिया को किसी तरह पूरा करना भर नहीं है । चंद्रमा की दो संतानें थीं—एक पुत्र और दूसरी पुत्री । पुत्र का नाम पवन और पुत्री का नाम आँधी । पुत्री को एक दिन ऐसा प्रतीत हुआ कि मेरे पिताजी सांसारिक पिताओं की तरह पुत्र और पुत्री में भेद करते हैं । चंद्रमा आँधी की व्यथा को ताड़ गए । उन्होंने पुत्री को आत्मनिरीक्षण का एक अवसर देने का निश्चय किया ।

चंद्रमा ने आँधी और पवन दोनों को अपने पास बुलाकर कहा—“बच्चों ! क्या तुमने स्वर्गलोक में इंद्र के कानन में ‘पारिजात’ नामक देव वृक्ष को देखा है ?”

“हाँ !” दोनों ने एक स्वर से उत्तर दिया ।

“तो तुम पारिजात की सात परिक्रमा करके आओ ।”

पिता की आज्ञा शिरोधार्य कर दोनों चल दिए, पारिजात देव वृक्ष की ओर । आँधी सिर पर पैर रखकर दौड़ी । वह धूल, पत्ते और तमाम कूड़ा-करकट उड़ाती हुई बात की बात में परिक्रमा करके आ खड़ी हुई । आँधी समझ रही थी पिता का काम कर मैं जल्दी लौटी हूँ, तो जरूर पिताजी मेरी पीठ ठोकेंगे ।

थोड़ी देर बाद पवन लौटा, पर उसके आगमन पर सौँधी-सुगंध से सारा भवन महक उठा । चंद्रमा ने कहा—“बेटी ! अब तुम अच्छी तरह समझ गई होगी, कि जो अत्यधिक तेज गति से दौड़ता है, वह खाली झोली लेकर आता है और जिसकी गति स्वाभाविक होती है, वह मन को मुग्ध करने वाली सुगंध लाता है जिससे संपूर्ण वातावरण सुगंधित हो जाता है ।”

वानप्रस्थों की यात्रा पवन देव के समान ही उद्देश्यपूर्ण होती है ।

देव संस्कृति के श्रेष्ठ रत्न—

आद्य शंकराचार्य

सदा से ही समाज में संव्याप्त अनिती के अंधकार को मिटाने, सत्प्रवृत्तियाँ फैलाने हेतु महामानव धरती पर जन्म लेते रहे हैं । अपने समय में फैली अव्यवस्थाओं को व्यवस्था के सूत्र में बाँधने वाले शंकराचार्य की उपमा अन्यत्र मिलनी मुश्किल है । साधु वर्ग को उन्होंने दस नामों के विभाजन में बाँध कर उनकी मर्यादाएँ बाँध दीं । वेदांत दर्शन के तीन भाष्य ग्रंथ लिखे, जो प्रस्थानत्रयी के नाम से प्रख्यात हैं, अद्भुत हैं । चार धामों में उनसे चार मठ बनाए । पर्व आयोजनों-मेलों की मर्यादा बनाना और उन्हें साधु-सम्मेलनों का रूप देना, उन्हीं का काम है । उनसे अनेक शास्त्रार्थ किए, जिनका वर्णन शंकर दिग्विजय में है । वे मात्र ३२ वर्ष जीवित रहे । यह इतने कम समय में इतने महत्वपूर्ण और इतने अधिक कार्य कर दिखाने से उनका व्यक्तित्व और पराक्रम अनुपम ही कहा जा सकता है । उन्होंने सार्थक वानप्रस्थी जीवन आजीवन जिया ।

प्रतिकूलताओं में भी अडिग शंकर देव

आसाम के राजा के पास वानप्रस्थी शंकरदेव की शिकायत अनेकों ब्राह्मण-पुरोहित आदि लेकर पहुँचे । राजा ने वस्तुस्थिति जानने के लिए शंकर देव को बुलाया । शंकर देव के उज्ज्वल व्यक्तित्व तथा प्रतिभा से राजा स्वयं भी प्रभावित हो गए । उन्हें समझते देर न लगी कि यह कायस्थ परिवार में जन्मा व्यक्ति वस्तुतः वह कर रहा है, जो यथार्थ में ब्राह्मणों को करना चाहिए । कथित ब्राह्मण अपने कर्तव्य कर्म छोड़ ही नहीं बैठे हैं, बल्कि विपरीत हीन मनोविकाओं से ग्रसित हो चुके हैं । संत शंकर देव को इस प्रकार राज दरबार में बुलाने का राजा को क्षोभ हुआ तथा उन्होंने उनसे क्षमा माँगकर सादर विदा किया ।

बस शंकर देव चल पड़े, शंकराचार्य की तरह भारत यात्रा भ्रमण के लिए । उन्होंने विभिन्न स्थानों पर विभिन्न धर्म-कृत्यों को देखा, धर्म-ग्रंथों को सुना तथा महात्माओं से सत्संग किया । इस प्रयास में उन्हें भारत के विभिन्न भागों के रीति-रिवाज तथा निवासियों के अध्ययन का अवसर मिला । उन्हें यह देखकर पीड़ा हुई कि अनेक स्थानों पर धर्म को सही ढंग से नहीं समझा जा रहा है । समाज में भेद-बुद्धि देखकर भी उन्हें हार्दिक कष्ट हुआ, किंतु उन्होंने यह भी देखा कि सभी विविधताओं के बीच मौलिक एकता अभी भी जीवित है । उसे संभाला-सँजोया जा सकता है । अतः इस प्रकार से उन्हें अपने कार्य के लिए बहुत बल मिला । उन्हें लगने लगा कि कोई सही योजना आसाम को निश्चित रूप से सूत्रबद्ध कर सकती है । वह और भी आतुरता से अपने खोज कार्य में लग गए ।

नौगाँव आकर उन्होंने स्थिति पहले की अपेक्षा और भी बिगड़ी हुई पाई । मुसलमान आक्रमण के कारण न केवल राजनैतिक संकट खड़ा हो गया था, वरन् हिंदू शब्द से युक्त सब कुछ हिंदू कला, संस्कृति, चरित्र, सभ्यता, धर्म तथा जीवन सभी खतरे में थे । किंतु आत्मबल के धनी शंकर देव विचलित न हुए । उन्होंने धीरे-धीरे अपना कार्य प्रारंभ किया । त्रस्त प्राणियों को शांति मिली, शुष्क हृदयों में सरसता का संचार हुआ, हारे मन वाले अँगड़ाई लेकर खड़े हो गए और उनका कार्य बढ़ता ही गया, पनपता ही गया ।

श्री शंकर देव ने भागवत कथा को ही माध्यम बनाया । उनकी लोक आराधना की सेवा-साधना फलित हुई । सारा आसाम जागृत हो गया ।

अछूतोंद्वाराक- माता-पिता के न रहने पर १५ वर्ष की आयु के एक विद्यार्थी ने भगवान् को प्राप्त करने की बात ठानी । पर उस क्षेत्र में भ्रमण करके अछूतों की जो दुर्दशा देखी, उससे उनका विचार बदल गया और गिरों को उठाने के लिए जीवन लगाने का व्रत ठाना । हरिजन सेवा के कारण उन्हें सवर्णों का भारी विरोध सहना पड़ा । पर वे डिगे नहीं । उन्होंने हरिजनों के लिए एक अलग मंदिर बनवाया, जिसे सवर्ण तोड़ने पर उतारू थे । तो भी वे झुके नहीं । हरिजन शिक्षा के लिए वे विशेष उत्साह से काम करने लगे । गांधी जी उनसे मिलने स्वयं पहुँचे थे । केरल में उनकी स्थापित कितनी ही हरिजन शिक्षा-संस्थाएँ हैं ।

महात्मा पूना के ज्योति बा फुले माली परिवार में जन्मे थे । माली उन दिनों सवर्णों द्वारा शूद्र समझे जाते थे । विचारशील समाज में प्रचलित कुरीतियाँ बहुत अखरीं । वे धन कमाने की बात भुलाकर घर में जो कुछ था, उसी से गुजारा करते रहे और अपना पूरा समय समाज सुधार आंदोलन में लगाते रहे ।

ज्योति बा फुले उन्होंने अपनी पुत्र को पढ़ाया और उसके माध्यम से कन्या विद्यालय खड़ा किया । गर्भवती विधवाओं के लिए उनसे एक आश्रम चलाया । जाति-पाँति के नाम पर बरती जाने वाली ऊँच-नीच का उनसे डटकर विरोध किया । समाज-सुधार तथा शिक्षा प्रचार के और भी अनेक काम हाथ में लिए । उनका नम्र व्यवहार और पहनाव उदाह साधु-संतों जैसा था । पूना की एक बड़ी सभा में उन्हें महात्मा की उपाधि से विभूषित किया गया । वे सच्चे अर्थों में समाज के पुरोहित थे ।

मुसहारों को उठाने वाले सुंदरानी द्वारिका जी सुंदरानी ने अपना कार्यक्षेत्र बिहार प्रांत का पिछड़ा इलाका चुना, जहाँ आवागमन तक की कोई सुविधा न थी । काराचट्टी क्षेत्र के बथा गाँव की झाड़ियाँ काटकर जमीन साफ की गई और उसमें मुसहर जाति के अछूतों के लिए स्वावलंबी विद्यालय बनाया गया । मुसहर जंगली चूहे मारकर खाने वाली एक जाति है, जो सामान्य अछूतों से नीची समझी जाती है । इस समुदाय में इससे पूर्व कदाचित् ही कोई बढ़ा हो । अब इस हरे-भरे उद्यान में बनाई गई झोंपड़ियों में मुसहरों के ११५ लड़के और ६० लड़कियाँ पढ़ती हैं । दोनों के निवास और प्रशिक्षण की स्वतंत्र व्यवस्था है ।

कुछ दिन पूर्व तक यह छोटा विद्यालय था, पर अब इसमें ८० एकड़ भूमि श्रमदान से उपजाऊ बनाई गई है । इसमें कृषि, पशु-पालन, विज्ञान, सिलाई, स्वास्थ्य आदि के कितने ही उपयोगी विषय पढ़ाए जाते हैं । सरकारी सहायता भी इस केन्द्र को मिलने लगी है, पर इस जंगल में मंगल खड़ा कर देने वाले श्री सुंदरानी को ही इस शुभारंभ का श्रेय जाता है, जिन्होंने अपना जीवन इस जाति के उद्धार हेतु समर्पित कर दिया ।

धार्मिक सहिष्णुता के प्रतिपादक- महात्मा बहा एक संपन्न परिवार में जन्मे थे महात्मा बहा । जब वे वयस्क हुए, तो देखा कि धर्म के नाम पर चारों ओर कितनी अनैतिह चल रही है । वे ईरान के मुस्लिम धर्म में जन्मे थे, पर देखा कि ईसाइयों के साथ आए दिन धर्म के नाम पर रक्तपात होता है । भारत जैसे शांतिप्रिय देशों पर अपने मजहब में दीक्षित करने के लिए आक्रमण किए जाते । जो दबाव और प्रलोभन में न आते, उन्हें त्रास दिया जाता । यह सभी बातें ऐसी थीं, जिन्हें वास्तविक धर्म के विपरीत ही कहा जाना चाहिए ।

महात्मा बहा महात्मा बहा ने शांति और प्रेम के उपदेश दिए और सभी धर्मों को समान तथा उपयोगी माना । असहिष्णुता की उन्होंने निंदा की । उनके कितने ही अनुयायी बन गए, पर धर्मांधों से यह भी सहन न हुआ । अनुयायियों को जेल में डाला गया तथा त्रास दिए । महात्मा बहा को भी प्राणदंड दिया गया ।

रूस के राजदूत ने समय पर उपस्थित होकर धर्मांधों को धमकाया कि यदि बहा के मानव धर्म को इस प्रकार कुचला जाएगा, तो उनके हक में अच्छा न होगा। तब उनके हाथ रुके। आज भी बहाई धर्म के असंख्य अनुयायी संसार में हैं।

मदर टेरेसा उस महिला के कर्म को देखकर कई भावनाशील संपन्न लोग भी उनके सहयोगी बने। उस समूचे क्षेत्र में पाठशाला और अस्पतालों का एक प्रकार से जाल ही फैला दिया। सहकारी समितियाँ स्थापित कराई और गृहउद्योग चलाए। उसने अपने आपको खपा कर भारत के पिछड़े हुए एक सौ मील के दायरे में फैले दलित वर्ग को आत्मावलंबी बनाने में सफलता पाई। दीन-दुखियों की सहायता के लिए वह दूर-दूर तक भ्रमण करती रहीं। नाम था उनका टेरेसा। उन्हें नोबुल पुरस्कार उपलब्ध हुआ। वह पैसा भी उसने पिछड़े लोगों के लिए ही लगा दिया। संप्रति वे भारत में ही कार्यरत हैं।

सेवा करो- सेवा कर्म ही सर्वकालीन युगधर्म है। अध्यात्म का मर्म यही है।

ब्रह्मज्ञानी बनो ईसा को भक्त जनों के एक बड़ी सभा में प्रवचन करना था। जाते समय रास्ते में एक बीमार मिला। वे उसकी सेवा में लग गए।

देर होते देखकर उपस्थित लोग उन्हें खोजने निकले, तो उन्हें पीड़ित की सेवा में संलग्न पाया। सभा के लोग वहीं एकत्रित हो गए।

ईसा ने कहा-“कथनी से करनी श्रेष्ठ है। तुम सेवा धर्म अपनाओ, तो ब्रह्मज्ञान का वह आनंद सहज ही प्राप्त कर सकोगे, जिसे पाने के लिए यहाँ आए हो।”

शरीर कहीं, विलासिता और सुख-साधनों के बीच रहकर वह प्रयोजन पूरा नहीं होता, जो इस आश्रम में प्रवेश करने वालों से अपेक्षित है।

मन कहीं एक राजा किसी ऋषि की हिमालय गुफा में जाकर शिष्य हो गया। उसने शिष्यों समेत अपने यहाँ पधारने का आमंत्रण दिया। सुविधानुसार सभी वहाँ पहुँचे। आहार-विहार में शिष्यों का मन लग गया। वे लंबी अवधि तक वहाँ रहने को तैयार हो गए।

पर ऋषि दिन दिन दुर्बल होने लगे। रुग्णता उन्हें ग्रसने लगी। राजा ने कारण पूछा, तो उनने एक ही कारण बताया, कि उनका मन हिमालय में पड़ा है और शरीर यहाँ। दोनों के दो जगह रहने से मनुष्य सुखी नहीं रह सकता और जो सुखी नहीं रह सकता, वह बीमार पड़ता है। राजा ने वस्तुस्थिति समझी और उन्हें उनकी गुफा तक पहुँचा दिया।

वानप्रस्थी का स्थान वहीं है, जहाँ वह काम कर सके, जिसके लिए उसने व्रत लिया।

संत वेश की संत का बाना भर पहनने से जब किसी की वृत्ति बदल सकती है, तो वैसे कर्म में प्रवृत्त होने पर तो क्या नहीं हो सकता?

गरिमा एक राजा कोढ़ी हो गया। वैद्यों ने उपचार बताया कि-राजहंसों का मांस खाया जाय। हंस मान सरोवर पर रहते थे। वहाँ तक कोई पहुँचता न था। साधु-संतों की ही वहाँ तक पहुँच थी। कोई संत तो पाप कर्म के लिए तैयार न हुआ, बहेलिया ने संत का बाना पहनकर वहाँ जाना और पकड़ना स्वीकार कर लिया।

मानसरोवर के हंस साधुओं से हिले रहते थे। उन्हें देखकर वे उड़ते नहीं थे। बहेलियों की घात लग गई और हंस पकड़ लिए, राजा के सामने प्रस्तुत कर दिए। राजा सोच में पड़े कि संत श्रद्धा से अभिप्रेत इन भावुक हंसों का स्वार्थवश वध करना अनुचित है। दया उमड़ी और हंसों को मुक्त कर दिया गया। राजा का दूसरा उपचार चलने लगा। इस घटना का बहेलिया पर भी प्रभाव पड़ा। वे सोचने लगे जिस संत वेष के लिए हंसों तक में इतनी श्रद्धा है, उसे ऐसे हेय प्रयोजनों के लिए कलंकित नहीं करना चाहिए। बहेलियों ने संन्यास ले लिया और वे सब संत बन गए।

पहले घर तो प्रारंभिक संकोच एवं स्थान, जहाँ इतने दिन समय कटा, से मोह ही पुण्य कार्य में बाधक बनते हैं। जो इस बंधन से छूटते हैं, वे सेवा करने में आनंद पाते हैं, महान् बनते हैं।

छोड़ो समुद्र में अनेक नदी-नाले मिल रहे थे। सबका स्वागत-सत्कार हो रहा था और वे छोटे स्तर वाले इस मिलन के सहारे स्वयं भी महान् बनते जा रहे थे। एक गँदले गड्डे को यह बुर लगाना। समुद्र जब बहुतों को

अपने पास बुलाता है और आत्मसात् करता है, तो उसी का तिरस्कार और उपेक्षा क्यों ? कारण पूछने के लिए गड्ढा एक दिन समुद्र तट पर जा पहुँचा और अपना आक्रोश कह सुनाया । समुद्र ने अपनी सहज गंभीरता के साथ बताया— “मित्र ! अपना घर छोड़कर उस तक पहुँचने का जो अथक प्रयास करते हैं, स्वागत उन्हीं का होता है । गौरव उन्हीं ही मिलता है । तुम भी वैसा ही प्रयत्न कर देखो, सुअवसर का द्वार तुम्हारे लिए भी खुला है ।”

सोदेश्य यात्रा गंगोत्री से गंगाजल धरती से बाहर निकला और चल पड़ा । पहाड़ियों से नीचे और नीचे उतरता हुआ मैदान में आया । एक व्यक्ति इस प्रक्रिया का बड़ी गंभीरता से अध्ययन कर रहा था । जल बढ़ता रहा, उसमें अनेक जल-नद आकर मिले । उसने भी नदी का रूप ले लिया । नाली बहती चली गई और अंत में सागर में समाहित हो गई । देखने वाले व्यक्ति ने इस मंजिल को जल की मूर्खता माना । हिमालय के उच्च शिखर को छोड़कर अनेक कष्ट-कठिनाइयाँ उठाकर खारे जल में मिलना मूर्खता नहीं तो और क्या है ? नदी ने व्यक्ति को देखा, तो मनःस्थिति समझ गई । बोली— “तुम हमारी यात्रा का मर्म नहीं समझ सके । हिमालय कितना भी ऊँचा क्यों न हो, वह पूर्ण नहीं है । पूर्णता तो गहराई में है, जहाँ सारी कामनाएँ निःशेष हो जाती हैं । मैं हिमालय जैसी महान् ऊँचाई की आत्मा हूँ, जो सागर की गहराई में पूर्णता पाने के लिए निकली थी । निरंतर चलते रहकर ही मैंने अपने लक्ष्य को पाया है ।”

दीपक बनाम लोकसेवी प्रकाशस्तंभ के समान होते हैं । दीपक की नाई जलते हैं व अन्य-अनेक को प्रकाश देते हैं ।

अंधकार रात्रि का घना अंधकार था । यात्री को कई कोस आवश्यक काम से जाना था । रास्ता सूझ नहीं पड़ता था । एक गरीब की कुटिया से जलता उसका दीपक माँगा । उसने दे दिया । दीपक छोटा था, पर उसका प्रकाश यात्री से दस कदम आगे चलता । हवा में बुझने न पाए इसका ध्यान रखा और यात्री गंतव्य स्थान तक पहुँच गया ।

प्रकाशवान् व्यक्तित्व भले ही छोटे हों, किसी के साथ हों, तो उसे संकट से उबार देते हैं ।

अंतः की ज्योति जगाएँ चाहे बाहर से कितने ही प्रयास किए जाएँ, वे उपचार तभी सार्थक हैं, जब अंतः की विवेक शक्ति जागृत हो । यह शक्ति हर किसी के पास है । अपने सार्थक उपदेश व आचरण से इसे ही ज्ञानवान् लोकसेवी जगाते हैं ।

जनक और याज्ञवल्क्य के बीच ज्ञान चर्चा चल रही थी । जनक ने पूछा— “सूर्य अस्त होने के बाद अंधकार के घनेपन में कैसे मार्ग ढूँढ़ा जाय ?” याज्ञवल्क्य ने कहा— “सितारे रास्ता बता सकते हैं ।”

जनक ने पूछा— “यदि बादल छाए हों और दीपक का प्रकाश भी उपलब्ध न हो, तो फिर क्या करना होगा ?” याज्ञवल्क्य ने कहा— “तब सूझ-बूझ के सहारे रास्ता ढूँढ़ना चाहिए । विवेक का प्रकाश हर किसी के पास है और वह कभी नहीं बुझता । हे राजन् ! उस प्रसुप्त विवेक को जगाना ही ऋषि समुदाय का पुण्य कर्तव्य है ।”

उपासना च सर्वत्राऽनिवार्या सा श्रमेषु तु ।

आश्रमेषु चतुर्विधं स्थानं तस्याः कृते ध्रुवम् ॥ ५२ ॥

महत्त्वपूर्णं स्यादेव युगेऽस्मिन् सुलभा तथा ।

उपयुक्ताऽस्ति च प्रज्ञायोगस्यैषा तु साधना ॥ ५३ ॥

केवलेन न कार्यं तूपासनाविधिना भवेत् ।

स्वाध्यायसाधनासेवासंयमानां चतुर्विधा ॥ ५४ ॥

कार्यपद्धतिरुक्ताया तदा विश्वस्य चात्मनः ।

कल्याणरूपं यल्लक्ष्यं द्विष्टं तत्पूर्णतां व्रजेत् ॥ ५५ ॥

भावार्थ—उपासना हर क्षेत्र में आवश्यक है । उसे चारों आश्रमों में समान स्थान और महत्त्व मिलना चाहिए । इसके लिए वर्तमान युग में प्रज्ञा योग की साधना सर्वसुलभ और सभी आश्रमों के लिए उपयुक्त है । उपासना अकेली से काम नहीं चलता । साधना, स्वाध्याय, संयम और सेवा की चतुर्विध कार्यपद्धति अपनाने से ही आत्मकल्याण और विश्वकल्याण का उभयपक्षीय जीवन लक्ष्य पूरा होता है ॥ ५२-५५ ॥

व्याख्या—उपासना अंतःकरण की चिकित्सा है। नित्य प्रतिदिन छाते रहने वाले कुसंस्कार-कषाय-कल्मषों की महाव्याधि से छुटकारा पाने हेतु यह एक अमोघ औषधि है। हर स्थिति में, चाहे व्यक्ति किसी भी आश्रम में हो उपासना का अवलंबन उसके लिए अनिवार्य है। इससे श्रेष्ठता के प्रति उच्चस्तरीय श्रद्धा का जागरण होता है, जो कि हर वरिष्ठ देवमानव के लिए, जो सत्प्रवृत्ति विस्तार का भागीरथी पुरुषार्थ करने को उद्यत है, अनिवार्य है।

उपासना अकेली ही पर्याप्त नहीं। आत्म पर्यवेक्षण एवं सुधार द्वारा अंतःकरण के परिमार्जन की साधना, चिंतन-चरित्र एवं व्यवहार में श्रेष्ठता के समावेश हेतु महामानवों की चरित्र-गाथाओं का स्वाध्याय, समय-विचार-वाणी एवं इंद्रिय निग्रह की संयम प्रक्रिया एवं समाज परिकर में फैले विराट् ब्रह्म की आराधना-सेवा-साधना के रूप में चार गतिविधियों का समावेश भी साधना में होना चाहिए। यह मात्र व्यक्ति की आत्मिक प्रगति का प्रयोजन ही पूरा नहीं करते, अपितु इससे समष्टिगत परमार्थ का वह हित भी सधता है, जिसके लिए मनुष्य ने जन्म लिया है।

लकड़ी और अग्नि की समीपता का प्रतिफल प्रत्यक्ष है। गीली लकड़ी आग के समीप पहुँचते-पहुँचते अपनी नमी गँवाती और उस ऊर्जा से अनुप्राणित होती चली जाती है। जब वह अति निकट पहुँचती है, तो फिर आग और लकड़ी एक स्वरूप जैसे हो जाते हैं। साधक को भी ऐसा ही भाव समर्पण करके ईश्वरीय अनुशासन के साथ अपने आपको एक रूप बनाना पड़ता है। चंदन के समीप वाली झाड़ियों का सुगंधित हो जाना, स्वाति बूँद के संयोग से सीप में मोती पैदा होना, पारस छूकर लोहे का स्वर्ण बनना, नाले का गंगा में मिलकर गंगाजल बनना, पानी का दूध में मिलकर उसी भाव बिकना, बूँद का समुद्र में मिलकर सुविस्तृत हो जाना, जैसे अगणित उदाहरण हैं, जिनके आधार पर यह जाना जा सकता है कि भक्त और भगवान् की एकता-उपासना का स्तर क्या होना चाहिए। सृष्टि के आदि से अद्यावधि सच्चे भक्तों में से प्रत्येक को ईश्वर का शरणागत होना पड़ा है। आत्म-समर्पण का साहस जुटाना पड़ा है। इसका व्यावहारिक स्वरूप है, ईश्वरीय अनुशासन को, उत्कृष्ट-चिंतन एवं आदर्श-कर्तृत्व को अपनी विचारणा एवं कार्यपद्धति से अनुप्राणित करना। जो इस तत्त्वदर्शन को जानते-मानते और व्यवहार में उतारते रहे हैं, उन सच्चे ईश्वर भक्तों को सुनिश्चित रूप से लाभ मिलते हैं, जिन्हें उपासना की फलश्रुतियों के रूप में कहा जाता रहा है।

‘उपासना’ का शब्दार्थ है—‘समीप बैठना’। ईश्वर और जीव के जीच रहने वाली दूरी को समाप्त करके जिस प्रक्रिया से निकटता बनती हो, उसे ‘उपासना’ कहा जा सकता है। समीपता से विशेषताओं का आदान-प्रदान होता है। एक के गुण दूसरे को प्राप्त होते हैं। सत्संग के लाभ और कुसंग के दुष्परिणाम सर्वविदित हैं। अधिक प्रभावशाली तत्त्व कम सामर्थ्यवानों को अपने प्रभाव से प्रभावित करते हुए, सर्वत्र देखे जाते हैं। आग के निकट आने वाले पदार्थ गर्म होते हैं और जलने लगते हैं। बर्फ के स्पर्श में जो भी ठंडक होती है, स्पर्शकर्ता को भी अपनी शीतलता प्रदान करती है। उपासना में भी ऐसा ही होता है। ईश्वर महान् है। उसकी समीपता महानता की वृद्धि करती है। ईश्वर अनेक श्रेष्ठताओं का पुंज है, पास बैठने में वे श्रेष्ठताएँ प्रवेश करती हैं। ईश्वर विभूतिवान् है, साधक में विभूतियों की अभिवृद्धि होती है। राजा के अर्दली का भी मान बढ़ जाता है, उसके पास बैठने वाले दरबारियों का रुतवा बढ़ता है। फिर कोई कारण नहीं कि ईश्वर की समीपता यदि वास्तविक हो, तो उसका प्रभाव उपासनारत व्यक्ति पर न पड़े। ईश्वर से तात्पर्य है—सद्गुणों का, श्रेष्ठता का समुच्चय। श्रेष्ठता से असीम प्यार, उसे आत्मसात् करने की ललक ही सच्ची उपासना है।

उपासना अपने आप में एक समग्र शब्द है। उसे भाव रूप में समझना चाहिए। यदि कोई व्यक्ति उसके लिए वांछित कर्मकांड पूरे करता है, पर भावना वैसी नहीं है, तो वह चिह्न-पूजा भर है। यदि भावना उच्चस्तरीय है, तो भी कृत्य बन पड़े, वही उपासना है।

सच्ची साधना कौन सी ? एक गाड़ीवान ने यहूदी धर्माचार्य रबी बर्डिक्टेव से आकर पूछा—“महाराज ! एक गाँव से दूसरे गाँव गाड़ी हाँका करता हूँ, इस कारण प्रार्थना करने नियमित रूप से

सेनेगाग (मंदिर) नहीं आ पाता । क्या मुझे यह पेशा छोड़ देना चाहिए ?” “क्या कभी राह चलते गरीब बूढ़े यात्रियों को मुफ्त में गाड़ी में सवारी देते हो ?”-रबी ने पूछा । “जी हाँ ! अक्सर ऐसे मौके आते हैं ।” “तब अपने पेशे में रहते हुए भगवान् की सेवा करते रहो । वही तुम्हारी प्रार्थना, सच्ची साधना है ।”

भगवान को बार-बार याद करो

रामकृष्ण परमहंस कहा करते थे-“एक हाथी है, उसे नहला-धुलाकर छोड़ दो, तब फिर वह क्या करेगा ? मिट्टी में खेलेगा और शरीर को फिर गंदा कर लेगा । कोई उस पर बैठे, तो उसका शरीर भी गंदा अवश्य होगा । लेकिन यदि हाथी को स्नान कराने के बाद बाड़े में बाँध दिया जाये, तब फिर हाथी अपना शरीर गंदा नहीं कर सकेगा । मनुष्य का मन भी एक हाथी के समान है । एक बार ध्यान, साधना और भगवान् के भजन से वह शुद्ध हो गया, तो उसे स्वतंत्र नहीं कर देना चाहिए । इस संसार में पवित्रता भी है, गंदगी भी है । मन का स्वभाव है, वह गंदगी में जाएगा और मनुष्य देह को दूषित करने से नहीं चूकेगा । इसलिए उसे गंदगी से बचाए रखने के लिए एक बाड़े की जरूरत होती है, जिसमें वह घिरा रहे । गंदगी की संभावनाओं वाले स्थानों में न जा सके ।”

“ईश्वर भजन, उसका निरंतर ध्यान एक बाड़ा है, जिसमें मन को बंद रखा जाना चाहिए, तभी सांसारिक संसर्ग से उत्पन्न दोष और मलिनता से बचाव संभव है । भगवान् को बार-बार याद करते रहोगे, तो मन अस्थायी सुखों के आकर्षण और पाप से बचा रहेगा और अपने जीवन के स्थायी लक्ष्य की याद बनी रहेगी । उस समय दूषित वासनाओं में पड़ने से स्वतः भय उत्पन्न होगा और मनुष्य उस पाप कर्म से बच जाएगा, जिसके कारण वह बार-बार अपवित्रता और मलिनता उत्पन्न कर लिया करता है ।”

प्रज्ञायोग की साधना

महर्षि कात्यायन आज की परिस्थितियों के अनुरूप हर व्यक्ति के लिए आत्मबल संवर्द्धन हेतु प्रज्ञायोग के अवलंबन का मार्ग सुझाते हैं । प्रज्ञा अर्थात् विवेक, समझदारी । गायत्री महाशक्ति की उपासना ही प्रज्ञायोग की साधना है । प्रज्ञायोग एक सर्वसुलभ एवं सर्वोत्तम साधना विधि है, जिसे हर वर्ण, जाति, लिंग के व्यक्ति बिना किसी भेदभाव के कर सकते हैं । प्रज्ञायोग में ज्ञानयोग के रूप में प्रातःकाल आत्मबोध के साथ-साथ चिंतन एवं रात्रि को सोते समय तत्त्वबोध के साथ मनन के आत्म परिष्कार संबंधी अनुशासन अपनाए जाते हैं । क्रियायोग की पूजा-उपचार प्रक्रिया में आत्मशोधन, देवपूजन, जप, ध्यान एवं विसर्जन ये पाँच पक्ष हैं ।

यह तो शुभारंभ भर है । गायत्री महाशक्ति के रूप में युगशक्ति-आद्यशक्ति का तत्त्वदर्शन जब अंतरंग में अवतरित होता है, तो गुण, कर्म, स्वभाव में आमूल-चूल परिवर्तन कर व्यक्तित्व का कायाकल्प कर देता है । इसीलिए युग साधना के रूप में ऋषिगणों ने यह अभिनव निर्धारण किया है ।

भगवत् शक्ति का हस्तांतरण

भगवान् को अपना सब कुछ सौंप दिया जाय, तो वे भक्त को कभी खाली नहीं रहने देते । सुदामा अपने गुरुकुल की बड़ी योजना लेकर कृष्ण के पास परामर्श के लिए गए । पर भेंट के लिए जो चावल की पोटली ले गए थे, उसे बगल में ही दाबे रहे ।

भगवान् ने वह छीन ली और कहा, “जब तक अपना निजी वैभव मुझे सौंपेंगे नहीं, तब तक लेने के अधिकारी कैसे बनेंगे ?”

कृष्ण ने सुदामा के चरण धोए और द्वारिकापुरी को सुदामा नगरी में गुरुकुल की विशाल योजना के निमित्त हस्तांतरण कर दिया ।

भगवान् जिस किसी को भी दर्शन देते हैं, उसके सामने माँगने वाले के रूप में आते हैं । शबरी से उनसे बेर माँगे । गोपियों का दही-मक्खन खा गए । बलि के यहाँ पहुँचे, तो जमीन माँग ली । घायल कर्ण से सोने के लगे दांत उखड़वा लिए ।

संत एकनाथ की थाली से कुत्ता एक रोटी लेकर भागा । संत दूसरी रोटी घी से चुपड़कर उसे खिलाने पहुँचे । संत को विश्वास था कि भगवान् जब भी आते हैं, माँगने, लेने आते हैं । उन्हें जो देना था, वह तो मनुष्य जन्म के रूप में पहले ही दे दिया है ।

सर्वश्रेष्ठ उपासना भगवान् को ध्यानमग्न देखकर नारद जी ने लक्ष्मी जी से जब कारण पूछा, तो उन्हें बताया

गया कि वे अपने सबसे बड़े भक्त पृथ्वीवासी एक व्यक्ति की उपासना कर रहे हैं। अपने से भी बड़े भक्त को देखने को व्यग्र नारद वापस लौट पड़े। कितने ही दिन वे खोए खोए घूमते रहे।

एक दिन वह गाँव के बाहरी रास्ते से निकल रहे थे। चमड़े की दुर्गंध उनके चरणों की गति को और तीव्र कर रही थी। उन्होंने जैसे ही दृष्टि उठाई, पशु-चर्मों से घिरा एक मैला-कुचैला चमार दिखाई दिया। वह पसीने में लथपथ चमड़े की सफाई में व्यग्र था। नारद जी समझ गए, हो न हो यही विष्णु का परम भक्त है, जिसका चित्र उस दिन बड़ी निमग्नता के साथ बनाया जा रहा था। अनिच्छित उनके चरण वहीं रुक गए। तीव्र दुर्गंध के कारण वे चमार के पास तो न जा सके। उनके मन में जिज्ञासा जागृत हुई कि इसकी दिनचर्या का निरीक्षण तो करना ही चाहिए। वे दूर खड़े नाक पर हाथ लगाए उसके कार्यों को ध्यानपूर्वक देखने लगे।

चमड़े के ढेर को साफ करते-करते शाम हो गई। नारद ने सोचा, शायद अब किसी मंदिर में जाएगा या अपने निवास पर ही भगवान् का नाम स्मरण करेगा, पर उसके द्वारा ऐसा कुछ भी नहीं हुआ। अब तो उनके क्रोध की सीमा न रही। वह सोचने लगे कि एक अधम चमार को मुझसे श्रेष्ठ बताकर मेरा अपमान किया है। कहीं भक्त ऐसे होते हैं? अंतः से आवाज आई, थोड़ी देर और इसकी गतिविधि देखनी चाहिए। अतः वे रुक गए।

चमार तो अपने कार्य में लगा ही था। जब रात होने लगी, तो उसने चमड़े के सारे ढेर को समेटा। जितना चमड़ा दिन भर में साफ कर लिया था, उसे एक गठरी में बाँधा और जो चमड़ा साफ न हो पाया था, उसे एक ओर समेट कर रखा। फिर एक मैला कपड़ा लेकर सिर से पैर तक अपने पसीने को पोंछकर घुटनों के बल बैठ गया और हाथ जोड़कर भाव-विभोर हो कहने लगा—“प्रभो! मुझे क्षमा करना, मैं बिना पढ़ा चमार आपकी पूजा करने के ढंग को भी नहीं जानता। मेरी आपसे यही विनय है कि मुझे कल भी ऐसी सुमति देना कि आज की तरह ही आपके द्वारा दी गई चाकरी को ईमानदारी के साथ पूर्ण कर सकूँ।”

नारद जी ने तभी पाया कि भगवान् विष्णु उसके समीप खड़े मुस्करा रहे हैं। मंदस्मित के साथ वे बोल उठे—“मुनिराज! समझ में आया, इस भक्त की उपासना की श्रेष्ठता का रहस्य?”

कृत्य एक- व्यक्ति-व्यक्ति की भावनाओं में अंतर से परिणति भी भिन्न-भिन्न होती है। एक पुरोहित को देवालय के समीप यज्ञ करते देखकर, उधर से गुजरते हुए राजकुमार ने यज्ञ का कारण पूछा। पुरोहित ने कहा कि वह विल्व पत्रों से हवन कर रहे हैं। तीन वर्ष हो गए, पर पाँच सोने के विल्व फल पाने का और दक्षिता मिटाने का उद्देश्य पूरा नहीं हुआ।

राजकुमार ने पुरोहित से उनका आसन माँग लिया और उसी विधि से यज्ञ में आहुतियाँ डालने लगे, पर उनकी भावना में अंतर था। उनसे क्रिया-कृत्य में समूची श्रद्धा का समावेश किया और संकल्प किया कि जो भी प्रतिफल मिलेगा, उसे लोककल्याण में लगा देंगे। दूसरे दिन यज्ञ कुंड में से सोने के पाँच विल्व फल निकले और राजा की झोली में जा बैठे।

पुरोहित के आश्चर्य का समाधान करते हुए, राजकुमार ने कहा—“देवता मात्र कृत्य को ही महत्व नहीं देते। कर्ता की भावना भी परखते हैं।”

नाम की नहीं, एक हिंदू और मुसलमान साथ-साथ जा रहे थे। रास्ते में नदी पड़ी। हिंदू को राम और मुसलमान को खुदा पर विश्वास था। सो वे दोनों विश्वासपूर्वक अपने-अपने नाम लेते हुए पार हो गए।

श्रद्धा की महत्ता एक तार्किक यह दृश्य देख रहा था। उसने सोचा ‘राम-खुदा’ का मिश्रण करते हुए तैरा जाय, तो आधे समय में ही पार हुआ जा सकता है। श्रद्धा के अभाव में उसका नाम जप व्यर्थ गया और वह पानी में डूब गया। नाम की नहीं श्रद्धा की महत्ता है।

दिशा पूजन निरर्थक पूजा-उपासना कृत्य पूरा होने पर भी व्यर्थ ही है। एक कर्मकांडी ब्राह्मण खड़े होकर छहों दिशाओं का पूजन करने में बहुत समय लगाता, पर उसका अभिप्राय न जानता था।

की सार्थकता एक दिन उसकी इच्छा उपजी और अपनी कृत्य-परंपरा का फल और कारण पूछने तथागत के पास गया।

बुद्ध ने कहा—“कर्मकांड का फल तभी है, जब उनका उद्देश्य समझा और प्रयोजन को अपनाते हुए किया जाय। माता-पिता पूर्व दिशा हैं। आचार्य दक्षिण दिशा हैं। स्त्री, पुत्र, कुटुंबी पश्चिम दिशा हैं। मित्र, संबंधी उत्तर दिशा हैं। अनुशासित शिष्य, सेवक, पाताल दिशा हैं और ब्रह्म वक्ता ऊर्ध्व दिशा हैं, तुम इन सबके साथ उचित कर्तव्यों का पालन करो। तभी दिशा पूजन की सार्थकता है।”

ध्यान अर्थात् विचारों की तन्मयता

उपासना ध्यान के समय विचार जैसे होंगे, वैसा ही चिंतन व वैसी ही परिणति होगी। स्वाध्याय एवं श्रेष्ठ व्यक्तियों की संगति का माहात्म्य इसीलिए अधिक बताया गया है। एक साधक जब भी पूजा में बैठता, तभी बुरे विचार मन में उठते। वह गुरु से इसका हल पूछने गया।

गुरु ने उसे एक कुत्ते की सेवा करने का आदेश दिया और दस दिन तक आश्रम में ही ठहरा लिया। शिष्य कारण तो समझ न सका, पर गुरु की आज्ञा मानकर वैसा ही करने लगा। १० दिन कुत्ते को साथ रखने से वह पूरी तरह हिल मिल गया।

गुरु ने आज्ञा दी कि इसे भगाकर आओ। साधक भगाने जाता, पर वह पीछे-पीछे ही फिर लौट आता।

गुरु ने समझाया कि जिन बुरे विचारों में तुम दिन भर डूबे रहते हो, भला पूजा के समय वे साथ क्यों छोड़ने लगे ?

शिष्य की समझ में वस्तुस्थिति आ गई और उसने दिन भर अच्छे विचार करते रहने की साधना शुरू कर दी। ध्यान का अर्थ मात्र एकाग्रता नहीं, श्रेष्ठ विचारों की तन्मयता भी है।

स्वावलंबन भी जरूरी

भूखे-प्यासे साधु के मन ने कहा—“काया को कष्ट क्यों देते हो ? किसी घर से भीख माँग लो।” साधु अभी एक ओर मुड़ने वाले थे, कि आत्मा बोली—“जिससे माँगोगे वह भी तो तुम्हारे जैसा ही होगा। तुम स्वयं क्यों नहीं कमा लेते।”

मन ने कहा—“तुम तपस्वी हो, अपरिग्रही हो, तुम्हें कमाना नहीं चाहिए।”

आत्मा ने तत्काल कहा—“जो अपरिग्रह, परिग्रह का दास हो, उससे अच्छा परिग्रह ही है, जो कम से कम हाथ तो नहीं फैलाता।”

साधु ने आत्मा की बात सुनी और उस दिन से साधना, उपासना के साथ स्वावलंबी जीवन का अभ्यास भी आरंभ कर दिया।

गरीबदास का कुआँ

सच्ची उपासना करने वाले समाज देवता के आराधक होते हैं। भांडेर (ग्वालियर) में एक साधु रहते थे। नाम था उनका गरीबदास। वे रात्रि के समय भजन कर लेते। दिन में जनता की हित साधना के काम करते।

पानी की कमी देखकर कुआँ खोदने जुट पड़े। देखा-देखी अनेक सहयोग में जुट पड़े। अब उसे पक्का करने के लिए ईंट थापना शुरू किया। दूसरों का सहयोग मिला और वह आवश्यकता पूरी हो गई। पक्का कुआँ बनकर तैयार था। स्वामी जी जहाँ कहीं जाते, वहाँ की आवश्यकता देखते हुए, श्रमदान का कार्य प्रारंभ कर देते। उनके द्वारा ऐसे अनेक पारमार्थिक कार्य संपन्न हुए।

कीर्तनप्रेमी अध्यापक

एटा जिले में एक प्राइमरी अध्यापक थे दीनदयाल। उत्साह भी भरा-पूरा। जहाँ भी उनकी बदली होती, वहाँ कीर्तन-मंडली खड़ी कर देते और सम्मिलित होने वालों से दोष-दुर्गुण छोड़ने की प्रतिज्ञा कराते। उनकी लोकप्रियता सर्वत्र असाधारण रूप से बढ़ी।

वे अधिकारियों से प्रार्थना करके अपनी बदली जल्दी-जल्दी कराते रहते, ताकि अधिक स्थानों में अपना अध्यापन और प्रचार कार्य कर सकें। उन छात्रों में से अधिकांश चरित्रवान् बनते थे। रिटायर होने के उपरांत वे समीपवर्ती जिले में घूम-घूमकर यही कार्य करते रहे। गृहस्थ होते हुए भी वे संत कहलाए।

दयालु फ्रांसिस

सेंट फ्रांसिस जब धर्म प्रचारक नहीं बने थे, तब भी वे बड़े उदार थे। उनकी दुकान के सामने एक भूखा भिखारी आशा लगाए खड़ा था। इतने में एक धनी व्यक्ति उनकी दुकान में रेशम खरीदने आ गया। बेचने पर उन्हें भिखारी की याद आई, तब तक वह चला गया था। फ्रांसिस ने दुकान बंद करके उसे ढूँढ़ना शुरू कर दिया। दिन छिपने पर वह मिला। उसे खिलाने के बाद उसने अपना भोजन किया।



आश्रमा इव वर्णास्ते चत्वारः सन्ति शोभनाः ।
 क्षत्रियाश्च विशः शूद्रा समाजे कुर्वते क्रमात् ॥ ५६ ॥
 सुरक्षायाः समृद्धेश्च श्रमस्यापूर्तिमुत्तमाम् ।
 ब्राह्मणस्य च दायित्वमध्यात्मप्रमुखस्मृतम् ॥ ५७ ॥
 समाजोत्कर्षकार्ये च चतुर्णामपि वतते ।
 महत्वपूर्णमेतेषां योगदानं च वस्तुतः ॥ ५८ ॥
 उच्चोनीचश्च नैवात्र वर्तते कोऽपि मानवः ।
 समाजावयवाः सर्वे वर्णाः स्वस्था अपेक्षिताः ॥ ५९ ॥
 जन्मना जायते शूद्रो मान्यता देवसंस्कृतिः ।
 इयमेवास्ति संस्कारैर्द्विजाः पश्चाद् भवन्ति ते ॥ ६० ॥
 सामान्यतस्तु वर्णास्ते कर्तव्यानि स्वकानि च ।
 निर्वहन्ति परं कश्चित् समाजस्य परिस्थितेः ॥ ६१ ॥
 पूर्णं सन्तुलनं कर्तुं विवेकेन युतं स्वतः ।
 क्षमतां वर्द्धयित्वाऽन्यदायित्वं बोद्धुमर्हति ॥ ६२ ॥
 चतुर्ष्वपि यदाऽप्येको पतनैर्हि तदैव तु ।
 समाजस्य स्थितिर्याति विकृतिं हि शनैः शनैः ॥ ६३ ॥
 सावधानैः सदाभाव्यं ब्राह्मणैर्विषयेऽत्र तु ।
 पतिते तु यतस्तस्मिन् पतन्त्यन्येऽपि वर्गगाः ॥ ६४ ॥

भावार्थ—आश्रमों की तरह वर्ण भी चार हैं । क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र समाज में क्रमशः सुरक्षा, समृद्धि और श्रम की महत्वपूर्ण भौतिक आवश्यकताएँ पूरी करते हैं । ब्राह्मण का उत्तरदायित्व अध्यात्म प्रधान है । वस्तुतः समाजोत्कर्ष में चारों का योगदान महत्वपूर्ण है । किसी को छोटा-बड़ा या ऊँचा-नीचा नहीं कहा जा सकता । समाज रूपी शरीर के सभी अंग सभी वर्ण स्वस्थ होने चाहिए । देवसंस्कृति की मान्यता है कि जन्मते सभी शूद्र हैं, संस्कारों के द्वारा द्विज बनते हैं । सामान्य रूप से सभी वर्ण अपने निर्धारित कर्तव्य सँभालते हैं । किंतु समाज तथा परिस्थितियों के विवेकपूर्ण संतुलन के लिए कोई भी व्यक्ति वर्ण विशेष की क्षमताएँ अपने अंदर विकसित करके उनके उत्तरदायित्वों को सँभाल सकता है । चारों में से किसी एक वर्ग का पतन होने से समाज का संतुलन बिगड़ने लगता है । ब्राह्मण वर्ग को इस दिशा में सबसे अधिक सतर्क रहना होता है । उसका पतन होने से अन्य वर्गों का भी पतन होने लगता है ॥ ५६-६४ ॥

तुलना ब्राह्मणस्यातो मुखेनोक्ता धियाऽपि च ।
 चिन्तनं स ददात्येवं शिक्षाया वहते धुरम् ॥ ६५ ॥
 प्रवचनस्य चोद्घोषस्याऽपि दान्तो महात्मनाः ।
 जीवनं ब्राह्मणस्य स्यादपरिग्रहिसात्त्विकम् ॥ ६६ ॥
 सौम्यं विगततृष्णं च सद्गुणैरभिशोभितम् ।
 सेवापरायणं चाऽपि सदाचारयुतं सदा ॥ ६७ ॥

भावार्थ—ब्राह्मण की तुलना मस्तिक एवं मुख से की गई है, वह उदार हृदय चिंतन प्रदान करता है और उद्घोष-प्रवचन-प्रशिक्षण का उत्तरदायित्व भी स्वयं अनुशासित बन सँभालता है । ब्राह्मण का निजी जीवन अपरिग्रही एषणाओं से रहित, सौम्य, सात्त्विक, सद्गुणी, सेवापरायण एवं सदाचारयुक्त होना चाहिए ॥ ६५-६७ ॥

व्याख्या—प्रस्तुत प्रकरण प्रारंभ करते हुए ही सत्राध्यक्ष श्री कात्यायन जी ने गुण, कर्म, स्वभाव के आधार पर समाज के चार वर्णों में विभाजित होने की चर्चा की थी । उसकी प्रसंग को यहाँ विशद रूप में

समझाते हुए वे प्रत्येक के कार्य विभाजन एवं उत्तरदायित्वों की व्याख्या कर रहे हैं। चारों वे स्तंभ हैं, जिन पर समाज रूपी भवन टिका हुआ है। इनमें से किसी के भी दुर्बल पड़ने से समाज का सारा ढाँचा चरमस सकता है। वैश्य, क्षत्रिय एवं शूद्र मूलतः भौतिकी प्रधान उद्देश्यों से जुड़े हैं, तो ब्राह्मण आत्मिकी से संबंधित होने के कारण समुदाय की आत्मिक प्रगति के लिए उत्तरदायी हैं।

कोई ब्राह्मण जन्म से नहीं होता। अपितु व्यक्ति अपनी सुसंस्कारिता द्वारा इसी मनुज काया में द्वितीय जन्म प्राप्त कर (द्विज) इस श्रेष्ठ स्थान को प्राप्त करता है। चूँकि आत्मिक उत्कर्ष पर ही किसी वर्ग, समुदाय की प्रगति निर्भर है, ब्राह्मण वर्ग पर विशेष दायित्व है, उन्हें अपना स्तर बनाए रखकर औरों के मार्गदर्शन का दुष्कर किंतु पुण्य कार्य निबाहना होता है। ब्राह्मणों के स्तर पर ही समाज की प्रगति, राष्ट्र का उत्कर्ष निर्भर है।

व्यक्तिगत जीवन में स्वयं के प्रति कठोर, औरों के प्रति उदार, अनुशासित जीवन क्रम, कथनी ही नहीं, करनी से शिक्षण ही ब्राह्मण की विशेषता है। ऋषि कहते हैं—“ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत्”—ब्राह्मण समाज का मस्तिष्क है, मुख है। अर्थात् संचालन तंत्र है। इतना श्रेष्ठ व उच्चस्तरीय दायित्व होने के नाते निश्चित ही ब्राह्मण का स्थान सर्वोपरि हो जाता है। उसके अपने कर्तव्य औरों के उत्थान-पतन के कारण बन जाते हैं।

शास्त्रों की सम्मति ब्राह्मणत्व जन्म-जाति पर नहीं, कर्म पर आधारित है। ऋषि विश्वामित्र जन्म से क्षत्रिय थे, किन्तु अपनी साधना द्वारा उन्होंने ब्रह्मर्षि पद पाया। राजा दशरथ उनका सम्मान करते हुए कहते हैं।
पूर्व राजर्षिः शब्देन तपसा द्योतितप्रभः। ब्रह्मर्षित्वमनुप्राप्तः पूज्योऽपि बहुधा मया ॥

हे ऋषि! आप पहले राजर्षि कहलाते थे, किंतु तपस्या के प्रकाश से प्रकाशित हो आपने ब्रह्मर्षि पद पाया है। आप मेरे पूज्य हैं।

विश्वामित्र की तपस्या से प्रभावित हो ब्रह्मा जी ने उन्हें ब्रह्मर्षि पद प्रदान किया था, ब्रह्मा जी ने उस समय कहा—

ब्रह्मर्षे स्वागतं तेऽस्तु तपसा स्म सुतोषिताः। ब्राह्मण्यं तपसोऽग्रेण प्राप्तवानसि कौशिक ॥

हे ब्रह्मर्षि! तुम्हारा स्वागत है, मैं तुम्हारी तपस्या से संतुष्ट हूँ। तुम अपने उग्र तप के कारण ब्राह्मणत्व पा गए।

रामचरितमानस में तुलसीदास जी कहते हैं—

वर्णाश्रम निज निज धरम निरत वेद पथ लोग। चलहि सदा पावहि सुखद नहि भय शोक न रोग ॥

यह सतयुग की, राम राज्य की परिकल्पना है, जिसमें रामायण कार वर्णाश्रम धर्म के माध्यम से कर्म द्वारा विभाजित समुदाय की व्याख्या करते हैं।

गीता में भगवान् कृष्ण कहते हैं—

शम, दम, तप, पवित्रता, क्षमा, सरलता, ज्ञान, विज्ञान और आस्तिक्य—ये सभी ब्राह्मण के स्वभावजन्य कर्म हैं। (अध्याय १८, श्लोक ४२)

शूरता, तेज, धैर्य, दक्षता, युद्ध में पीठ न दिखाना, दान एवं शासन करने की योग्यता—ये सभी क्षत्रियों के स्वभावजन्य कर्म हैं। (अध्याय १८, श्लोक ४३)

खेती, गौरक्षा, व्यापार, वैश्य के स्वभावजन्य कर्म हैं। सेवा रूप कर्म शूद्र का स्वभावजन्य कर्म है। (अध्याय १८, श्लोक ४४)

गीता कर्म से जाति मानती है। जो जैसा कर्म करता है, वह उस जाति का माना जाता है। गुण, कर्म, स्वभाव के कारण मनुष्य, मनुष्यों में भेद हो सकता है। देवता, मनुष्य और असुर इन तीन वर्णों में कोई विभाजन किया जाय, तो समझ में आ सकता है। व्यवसायों के हिसाब से भी श्रेणी विभाजन किया जा सकता है। पर किसी कुल में जन्म लेने मात्र से कोई व्यक्ति ऊँचा या नीचा कहलाने लगे, इस मान्यता के पीछे न कोई तर्क है, न न्याय। वर्ण प्राचीनकाल में भी थे। पर उनमें पूर्ण आत्मीयता, एकता, समानता एवं सौजन्य का भाव था। चारों वर्ण एक ही शरीर के चार अंगों की

तरह काम भले ही अलग करते थे, पर वे एक थे पूर्णतया एक । वर्ण-विभाजन का आधार बताते हुए इस प्रकार गीता कहती है कि-

ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां च परंतप । कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः ॥

(अध्याय १८, श्लोक ४१)

हे अर्जुन ! ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रों के कर्म (अपने-अपने) स्वभाव से उत्पन्न हुए गुणों से पृथक् बँटे हैं ।

महाभारत वनपर्व अध्याय १४९ में उल्लेख है-“प्राचीनकाल में एक ही वर्ण था । सब लोग एक ही मर्यादा में चलते थे । एक ही धर्म का पालन करते थे और एक ही विधान से उनके संस्कार होते थे ।”

सूत्र ग्रंथों में उल्लेख है कि शूद्रों के उपनयन आदि संस्कार होना चाहिए । हरिहर भाष्य गृ० सू० का० २ में यह स्पष्ट उल्लेख है ।

गीता के ४/१३ में भगवान् कहते हैं कि चार वर्णों की संरचना मैंने गुण, कर्म, स्वभाव के आधार पर की ।

महाभारत वनपर्व १३५/११ में चारों वर्णों को यज्ञ करने का निर्देशन है ।

महाभारत वनपर्व १३४/१६ में कहा गया है-चारों वर्णों को यज्ञादि करने का अधिकार है ।

महाभारत शांतिपर्व अध्याय १८८ श्लोक १४-१५ में लिखा है-“ब्राह्मणों में से कितनों ने ही अन्यान्य कार्य अपना लिए हैं । ऐसी दशा में अन्य वर्णों के लिए कार्य परिवर्तन की मनाही नहीं हो सकती ।

‘म्लेच्छ’ ने मध्यकाल में ब्राह्मणत्व के संबंध में बड़ी कट्टर मान्यताएँ रही हैं । इससे संस्कृत को अपार हानि उठानी पड़ी है ।

संस्कृत सीखी एशियाटिक सोसाइटी के संस्थापक सर विलियम जोन्स उन दिनों सुप्रीमकोर्ट के जज थे । संस्कृत पढ़ने की उन्हें उत्कट इच्छा थी । पर उन दिनों बंगाल में कट्टरता का पूरा जोर था । कोई पंडित किसी ‘म्लेच्छ’ को संस्कृत भाषा पढ़ाने के लिए तैयार न हुआ ।

अंततः काफी वेतन पर रामलोचन नामक एक पंडित तैयार हुए । उनसे कई शर्तें लगाईं । छात्र पढ़ने से पूर्व कुछ न खाए । लाने के लिए पालकी का प्रबंध हो । जिस कमरे में पढ़ा जाय, वह हिंदू नौकर द्वारा गंगाजल से धोया जाय । पढ़ने-पढ़ाने के अलग वस्त्र हों आदि आदि ।

यह सब शर्तें सर जोन्स ने स्वीकार कीं और वे विद्या प्राप्ति के लिए की जाने वाली तप-साधना की कठिनाइयाँ मानकर इन सब शर्तों को स्वीकार करते रहे और अंततः संस्कृत भाषा के विद्वान् बनकर अपनी संस्था को महत्वपूर्ण कार्य संपन्न कर सकने में समर्थ बना सके । भारतीयों की ऐसी ही मूढ़-मान्यताओं ने उनके ज्ञान को लुप्त प्राय कर दिया ।

विद्वानों की ईर्ष्या अशांति का कारण नारद अपने तप, त्याग और लोकसेवा के लिए प्रख्यात थे । दुर्भिक्ष से पीड़ित ब्राह्मण समुदाय महर्षि गौतम के आश्रम में टिका हुआ था । बुभुक्षा से छुटकारा तो उन्हें मिल गया, पर कुसंस्कारी ईर्ष्या यथावत् बनी रही । उसने नारद को अपना निशाना बनाया ।

गाय का पुतला बनाकर उसने आश्रम के आंगन में डाल दिया और लांछन लगाया कि इसे नारद ने मारा है । उसे गौहत्या का दंड मिले ।

यथार्थता खुल गई । पुतला नकली था, सो उसे फिकवा दिया गया ।

गौतम गंभीर हो गए । उसने कहा-“ब्राह्मणो ! मैंने जाना कि तुम्हारे क्षेत्र में दुर्भिक्ष क्यों पड़ा । जहाँ के विद्वान ईर्ष्यालु होते हैं, वहाँ शांति का वातावरण नहीं रहता ।”

शूद्र के आने पर ही राजसूय यज्ञ का शंख बजा पांडवों ने राजसूय यज्ञ किया । यज्ञ की सफलता की एक कसौटी रखी गई थी कि यदि अर्जुन का पांचजन्य शंख बिना बजाए अपने आप बजने लगे, तो समझना चाहिए कि यज्ञ सफलतापूर्वक संपन्न हो गया ।

यज्ञ पूरा हो जाने पर भी शंख न बजा, तो उस आयोजन की विफलता के कारणकी खोज होने लगी । बहुत खोजबीन करने पर पता लगा कि एक शूद्र को सम्मानपूर्वक यज्ञ में नहीं बुलाया गया था, इसलिए वह

उसमें सम्मिलित नहीं हुआ। श्रीकृष्ण ने कहा—“मनुष्य मात्र समान हैं, जाति भेद के कारण किसी को नीचा नहीं समझा जाना चाहिए।” भगवान् की बात सुनकर द्रौपदी समेत पांडव उस शूद्र के यहाँ गए और ससम्मान उसे साथ लेकर आए। उसके आने पर शंख बजने लगा और यज्ञ की सफलता घोषित हुई।

ज्वार की रोटी एक महात्मा जाति-पाँति नहीं मानते थे। वे उस दिन की भिक्षा एक नाई के घर से मांगकर लाए थे। उसमें ज्वार की रोटियाँ भर थीं।

लोगों ने बड़ा विरोध किया। यह महात्मा कैसा है, जो नाई की रोटी खाता है, इसका बहिष्कार करना चाहिए। अनेक लोग अपना विरोध प्रकट करने उनके पास एकत्रित थे।

साधु ने झोली खोलकर दिखाया—“देखो भाई! इसमें ज्वार की रोटी है, नाई की नहीं।”

सभी में समाई महर्षि अनमीषि अपना वर्षों से किसी दीन-दुःखी को भोजन कराने के बाद स्वयं भोजन करने का व्रत निभाते चले आ रहे थे, किंतु एक दिन उनके द्वारा पर कोई सेवा का अधिकारी नहीं आया। वे बड़े दुःखी हुए।

तभी उन्होंने एक वृक्ष तले पड़े कुष्ठपीडित वृद्ध को देखा। वे ईश्वर को इस कृपा के लिए धन्यवाद देते हुए उसके पास पहुँचे और विनम्र शब्दों में उससे उनका आतिथ्य ग्रहण करने का निवेदन किया।

वृद्ध बोला—“आर्य! आपकी इस उदारता के लिए धन्यवाद! पर मैं जाति से चांडाल हूँ। आपकी उदारता पाने का अधिकार मुझ शूद्र को कहाँ?” महर्षि बोले—“प्रभु! ऐसा न कहें। सभी में तो आप समाए हैं।” इतना कहकर महर्षि उस वृद्ध के घाव धोने लगे। अश्रु बह निकले उसका कष्ट देखकर। परिचर्या के बाद पंखा झलते हुए उन्होंने भोजन कराया, तदुपरांत स्वयं भोजन किया।

आत्मिक दृष्टि से ऊँचे उठे व्यक्ति के लिए न कोई सवर्ण है, न शूद्र। सबमें उसे परमात्मा सत्ता की ही झलक दिखाई देती है।

शूद्र— महात्मा रामानुजाचार्य अपनी शारीरिक दुर्बलता के कारण नदी स्नान करने जाते हुए लोगों का सहारा लेकर जाया करते थे। जाते समय वे ब्राह्मण के कंधे का सहारा लेते और आते समय शूद्र के कंधे पर हाथ रखकर आते। लोगों ने आश्चर्यपूर्वक पूछा—“भगवन्! शूद्र के स्पर्श से तो आप अपवित्र हो जाते हैं, फिर स्नान का महत्व क्या रहा?” आचार्य जी मुस्कराए, उनसे कहा—“स्नान से मेरी देह मात्र शुद्ध होती है। मन का मैल तो अहंकार है। जब तक मनुष्य में अहंकार शेष है, तब तक उसे मन का मलिन ही कहा जाता है। मैं शूद्र का स्पर्श करके अपने मन की मलिनता स्वच्छ करता हूँ। मैं किसी से बड़ा नहीं, सब मुझसे ही बड़े हैं। शूद्र भी मुझसे श्रेष्ठ है। इसी भावना को स्थिर करने के लिए मैं शूद्र का सहारा लिया करता हूँ।”

आचार्य का उत्तर युक्तियुक्त था, पूछने वालों का ठीक समाधान हो गया।

मनु और मत्स्य एक बार मनु नाव में वेद रखे हुए जा रहे थे कि समुद्र में तूफान आ गया। तूफान शांत हुआ, तो उन्होंने देखा कि एक बड़ी मछली उनकी नाव को सहारा दिए खड़ी है। मनु ने विनीत भाव से पूछा—“भगवन्! आपने ही मेरी रक्षा की, आप कौन हैं?” मत्स्य भगवान् दिव्य रूप में प्रकट होकर बोले—“वत्स! तूने ज्ञान की रक्षा का व्रत लिया, इसलिए तेरी सहायता के लिए मुझे आना पड़ा।”

ब्राह्मण संस्कृति का रक्षक है। इस पर कृपा बरसाने हेतु परमसत्ता सदैव उद्यत रहती है।

ब्राह्मण के लक्षण एक बार सच्चे ब्राह्मण के लक्षण पूछने पर रामकृष्ण परमहंस ने कहा—“वे पके चावल जैसे कोमल, स्वादिष्ट हो जाते हैं और समूह में रहते हुए अपनी सत्ता को अन्यो के साथ चिपकाने नहीं देते।”

संत की ब्राह्मण की वरिष्ठता उसकी उदार परमार्थपरायण वृत्ति पर निर्भर है। एक संत के पास गाय थी। रात को चोर उसे खोलकर चुरा ले चला।

उदारता संत की आँख खुल गई। वे उसके छोटे बछड़े को कंधे पर रखकर चोरों के पीछे-पीछे चले और चिल्ला कर बोले—“भले आदमी इस बछड़े को तो लेते जाओ। इसके बिना दूध कैसे निकालोगे?”

चोर संत की उदारता पर मुग्ध हो गए और उनकी गाय उन्हीं को वापस कर गए।

कर्तव्य सर्वोपरि

रूस में जब क्रांति हो चुकी, तो नए निर्माण के लिए विदेशों से मशीनें मँगाने की आवश्यकता पड़ी। विदेशी मुद्रा कहाँ से आए ? इसके लिए दूध, मक्खन, ऊन, चमड़ा आदि विदेश भेजकर बदले में मशीनें मँगाने की व्यवस्था बनी। देश के नागरिकों ने स्वेच्छा से इन वस्तुओं का उपयोग बंद कर दिया। यहाँ तक कि साम्यवाद नेता प्रिंस क्रोपाटकिन ने बीमार रहते हुए भी दूध स्वीकार नहीं किया। समाज के ऐसे अग्रदूत परिभाषा की दृष्टि से ब्राह्मण की श्रेणी में आते हैं।

भिक्षुक बनाम

एक भिक्षुक संगीत सुनाकर जनता से अपने निर्वाह लायक पैसे एकत्र करता और बचे हुए समय में अन्य भिक्षुओं को स्वावलंबी बनाने का ताना-बाना बुनता।

ब्राह्मण

किसी विचारशील को उसने भिक्षुओं की निंदा करते सुना। उसने अपना अभिप्राय बताया कि जो भिक्षा से निर्वाह तो करते हैं, पर बदले में किसी के कुछ काम नहीं आते, उन्हीं को निंदनीय कहना चाहिए। हमारे देश की साधु-ब्राह्मण परंपरा निंदनीय नहीं रही, क्योंकि वे पेट भरने लायक माँगते और समय का उपयोग परमार्थ के लिए करते हैं। निठले समर्थ भिखारी ही निंदा के पात्र हैं।

संतोष धन-

जो है, उसी पर संतोष करके अपरिग्रही जीवन बिताते हुए जिया जा सके, तो वह जीवन सार्थक है। असंतोषी की ललक को तो कहीं चैन नहीं मिलता।

सबसे बड़ी संपदा

एक पुजारी मंदिर की सीमित आजीविका में संतोषपूर्वक गुजारा करता था। एक दिन उसकी आकांक्षा भड़की और सुख-साधन वाले व्यक्ति को ढूँढ़ने और कुछ पाने चला। राजा के यहाँ गया, तो उसने कहा—“शत्रु देश चढ़ाई की घात में है, मुझे ‘चैन नहीं’। फिर वह नगर सेठ के यहाँ गया। उसने कहा—“संतान न होने से दुःखी हूँ।” फिर विद्वान के पास पहुँचा। उसने कहा—“जितना पैसा पढ़ने में खर्च हुआ, आजीविका उसकी ब्याज बराबर भी नहीं होती।” फिर एक ज्ञानी के पास गया। उसने कहा—“यहाँ के मंदिर का पुजारी बहुत सुखी है। पेट भरने लायक मिल जाता है और सुख की नींद सोता है।”

पुजारी वापस लौट आया और उपलब्ध साधनों में ही मस्ती से जीवन बिताने लगा।

कचरा क्यों

अपरिग्रह में ही ब्राह्मणत्व निहित है। एक बार किसी महिला ने अमेरिकी दार्शनिक थोरो को

एकत्र करूँ ?

एक चटाई भेंट की। चटाई को वापस करते हुए, वे बोले—“श्रीमती जी ! न तो मेरे घर में इतना स्थान है, कि मैं चटाई को बिछा सकूँ और न इतना समय है कि उसे झाड़ कर साफ करूँ। फिर घर को अनावश्यक वस्तुओं का संग्रहालय बनाने से लाभ भी क्या है ? इसी प्रकार उन्होंने अपनी मेज पर रखे किसी मित्र द्वारा उपहार में दिए सफेद सुंदर पत्थरों केतीन मनोरम पेपर वेटों को बाहर फेंक दिया। उनके मित्र ने इसका कारण पूछा, तो उन्होंने यही उत्तर दिया—“भाई ! अपने मस्तिष्क को साफ करने का कार्य ही क्या कम है, जो बेकार की वस्तुओं का ढेर लगा कर झंझट मोल लूँ।”

विलासिता नहीं

उन दिनों लाल बहादुर शास्त्री रेल मंत्री थे। कहीं लंबे सफर पर जा रहे थे। अधिकारियों ने डिब्बे को एयरकंडीशन करा दिया। स्टेशन पर बात मालूम हुई, तो उनने उस सयंत्र को तुरंत निकलवा दिया, कहा—“गरीब देश के मंत्री को बिना एयरकंडीशनर के ही काम चलाना चाहिए।” वे हवाई जहाज की यात्रा तो कोई नितांत अनिवार्यता आने पर ही करते थे।

सच्चे साधु

उन दिनों साधु-महात्मा मात्र भजन-पूजा अपना काम समझते थे और इसी आधार पर जनता से धन और सम्मान प्राप्त करते थे।

सहजानंद

उस परंपरा को तोड़कर स्वामी सहजानंद ने लोकमंगल के कितने ही कार्य अपने हाथ में लिए। उनने पूर्वी उत्तरप्रदेश और पश्चिमी बिहार को अपना कार्य क्षेत्र बनाया। उस क्षेत्र के ब्राह्मण हल जोतना पाप मानते थे। स्वामी जी ने अपने प्रभाव से उस अंधविश्वास को दूर कराया। फलस्वरूप उस वर्ग की आर्थिक स्थिति सुधरी। भूमिहार ब्राह्मणों द्वारा शोषित जातियों का भी एकत्रीकरण उनने कराया।

गांधी जी के संपर्क में आकर वे स्वतंत्रता आंदोलन में सम्मिलित हुए। अपने प्रभाव क्षेत्र में उन्होंने क्रांति खड़ी कर दी। एक वर्ष के लिए जेल भी गए। इसके बाद वे किसान संगठन के काम में लगे, जिसके द्वारा जमींदारों के बढ़े-चढ़े अत्याचारों पर अंकुश लगा। स्वामी जी के मार्गदर्शन से लोकसंग्रह पत्र भी निकला, जो उस क्षेत्र में बहुत



सफल माना जाता था । सच्चे साधु कैसे होते हैं, ऐसे उदाहरणों में स्वामी सहजानंद का नाम चिरकाल तक लिया जाता रहेगा ।

संन्यासी क्यों बना ?

स्वामी केशवानंद जिन्होंने शिक्षा का व्यापक प्रचार किया, राज्य सभा के सदस्य थे । तब की बात है कि उनके एक सहकारी ने देखा कि वे हाथ पर दो-तीन रूखी रोटियाँ रखे दाल से खा रहे हैं । रोटियाँ सूखी एवं ठंडी थीं, उन्हें वे जल्दी-जल्दी चबाकर गले के नीचे उतार रहे थे । सहकारी ने इसका कारण पूछा तो बोले-“मुझे कई जगह जाना है और शाम को गाड़ी पकड़नी है, इसलिए तंदूर से यहाँ दो रोटियाँ मँगा ली हैं ।”

“इस आयु में आपको ऐसा भोजन नहीं करना चाहिए । कुछ नहीं तो घी, मक्खन व फल तो लिया करें”-सहकारी बोला । इस पर वे मुस्कराते हुए बोले-“ठीक तो है, पर जब इन्हीं बातों की चिंता करनी थी, तो संन्यासी बनकर कुछ सेवा करने का व्रत ही क्यों लेता ?” व्यक्तिगत सुखों की चिंता न करना सेवाव्रती का आदर्श है ।

दलित बंधु-महर्षि शिंदे

इंग्लैंड में श्री शिंदे ने एम.ए., एल.एल.बी. किया । भारत लौटने पर उन्हें ऊँचा पद मिलना पूर्वनिश्चित था, पर उनसे देश की सबसे बड़ी समस्या छूत-अछूत का समाधान करने के लिए अपना जीवन समर्पित कर दिया ।

उनका धर्म और दर्शन पर गहरा अध्ययन था । उसके सहारे उनसे जन साधारण को अस्पृश्यता की निरर्थकता समझाने में सफलता पाई । इस विषय पर कई प्रामाणिक ग्रंथ लिखे । सरकार से हरिजनों को सुविधा देने वाले कई कानून बनवाए । उन्होंने अपने काम को देशव्यापी बनाया । बड़ौदा में उनसे गायकवाड़ की अध्यक्षता में एक अत्यंत विशाल अछूत सम्मेलन बुलाया । आज देश के प्रमुख सुधारकों में उनकी गणना होती है ।

श्री विठ्ठलराव शिंदे की लगन और त्यागवृत्ति को देखते हुए उन्हें महर्षि शिंदे कहा जाता था । ऐसे लगनशील व्यक्ति जिस काम में भी हाथ डालते हैं, उसे सफलता के ऊँचे स्तर तक पहुँचा कर रहते हैं ।

श्रेष्ठ उद्देश्य के लिए सिख धर्म

देश के बड़े भाग पर मुट्ठी भर आक्रांताओं ने अधिकार जमा लिया था और सर्वत्र नृशंसता करते रहे थे । इसका कारण साधु-ब्राह्मणों के द्वारा लोकमानस में भाग्यवाद की, इच्छा की ऐसी छाप बिठा दी गई थी, कि कहीं से भी जन-प्रतिरोध का साहस नहीं उभर रहा था । मुट्ठी भर राजा ही जहाँ-तहाँ छुटपुट लड़ाइयाँ लड़ते और हारते रहते थे । जन सहयोग के बिना वे क्या करते ? ऐसे विपन्न वातावरण में संतों का एक समुदाय आगे आया और उसने विपन्न दर्शन को सही दिशा देने का साहस भरा कदम उठाया । इसी संगठन का नाम सिख धर्म पड़ा । उसमें व्यक्तिगत जीवन में नीति-निर्वाह के अतिरिक्त अनीति के विरुद्ध संघर्ष का भी प्रतिपादन है ।

संस्कृति

देवसंस्कृति के पुनरुद्धार का, छाई हुई कुरीतियों के उन्मूलन का, एक बहुत बड़ा दायित्व ब्राह्मण वर्ग पर है ।

की कसक

संस्कृति ने अपने बच्चे ब्राह्मण की ओर देखा और अपनी ओर से वह बहुत गंभीर हो गई । अपने किशोर पुत्र के सिर पर हाथ फिराती रही और व्यथा भरे शब्दों में बोली-“लाल ! एक बार मुझे बंधन मुक्त करा दो, मेरी अपहृत चेतना वापस दिला दो, बस एक बार केवल एक बार, तुम इतना कर सको, तो मैं तुम्हें सदा-सर्वदा के लिए सुखी और समुन्नत रह सकने योग्य बना दूँगी ।” देव संस्कृति की इस करुण पुकार पर यदि जिम्मेदार बरिष्ठ जन ध्यान दें, तो वे ब्राह्मणत्व को जगाकर पुनः उसे वह गौरव प्रदान कर सकते हैं ।

कस्मिन्नपि कुले जन्मग्रहणादेव नैव तु ।

कश्चिद् भवति विप्रोऽत्र लोकोद्धारक उत्तमः ॥ ६८ ॥

तदर्थं च सदाचारसिद्धतोक्ता भवन्त्यपि ।

वानप्रस्थादिगा विप्रा ब्रह्मकर्मयुता यदि ॥ ६९ ॥

भावार्थ-मनुष्य किसी कुल विशेष में जन्म लेने मात्र से ही ब्राह्मण नहीं बनता । उसके लिए आचरण सिद्ध भी होना पड़ता है । ब्रह्मकर्मरत वानप्रस्थ एवं संन्यासी भी ब्राह्मण संज्ञा में आते हैं ॥ ६८-६९ ॥

व्याख्या-उच्च उद्देश्यों की पूर्ति एवं विशिष्ट सामाजिक उत्तरदायित्व वहन करने हेतु एक विशेष

प्रकार की जीवन पद्धति अपनाने तथा अपने भीतर ब्राह्मणत्व के गुण पैदा करने वाले व्यक्ति ही 'ब्राह्मण' कहे जाते हैं। ब्राह्मण कुल में जन्म लेने के कारण ही उसे ब्राह्मण नहीं कहा जा सकता। ब्राह्मणत्व अर्थात् 'उत्कृष्टता' किसी वंश विशेष की बपौती नहीं। मानसकार ने स्पष्ट कहा कि—“किसी वंश-जाति में जन्म लेने के कारण कोई नीच-ऊँच कैसे हो सकता है—

उपजहिँ एक संग जग माहीं । जलज जोंक जिमि गुन विलगाहीं ॥

सुधा सुरा सम साधु असाधू । जनक एक जल जलधि अगाधू ॥

ब्राह्मण वंश में वशिष्ठ, अत्रि, याज्ञवल्क्य, भारद्वाज आदि ऋषि-मुनि-तपस्वी त्यागी हुए हैं, तो रावण, कुंभकरण, मारीचि, खरदूषण जैसे दुष्ट राक्षस भी हुए हैं। अतः जाति-वंशगत उत्तराधिकार का दावा सर्वथा निरर्थक है। हर वर्ग में श्रेष्ठ व्यक्ति होते रहे हैं और अपने श्रेष्ठ कर्मों के कारण ब्राह्मण पद पाते रहे हैं। अगणित ऐसे ऋषियों का उल्लेख मिलता है, जो ब्राह्मणेत्तर वर्णों में जन्मे, पर अपने कर्मों के अनुरूप उनसे ब्रह्मर्षि तक का पद प्राप्त किया। इन प्रमाणों से भारतीय इतिहास-पुराणों का पन्ना-पन्ना भरा पड़ा है। मध्यकाल में रैदास, कबीर, नानक, दादू, नामदेव, विवेकानंद आदि ब्राह्मणेत्तर जातियों में, कितने ही तो शूद्र वर्ण में पैदा हुए, पर उनकी गरिमा किसी ब्राह्मण से कम नहीं आँकी गई। गाँधी, बुद्ध, महावीर भी तो ब्राह्मण नहीं थे। राम-कृष्ण क्षत्रिय थे। पर उनकी पूजा ब्राह्मण भी करते हैं। श्रेष्ठता को जातीयता की सीमा में आबद्ध नहीं किया जा सकता।

वरिष्ठता

**विनम्रता पर
निर्भर**

भगवान् कृष्ण ने महाभारत के उपरांत हुए राजसूय यज्ञ में आग्रहपूर्वक आगंतुकों के पैर धोने का काम अपने जिम्मे लिया था और सज्जनोचित विनम्रता का परिचय दिया था। गांधी जी कांग्रेस के पदाधिकारी नहीं रहे, किंतु फिर भी सबसे अधिक सेवा करने और मान पाने में समर्थ हुए। राम, भरत में से दोनों ने राजतिलक की गैद एक दूसरे की और लुढ़काने में कोर-कसर न रहने दी। चाणक्य झोंपड़ी में रहते थे, ताकि राजमद उनके ऊपर न चढ़े और किसी साथी के मन में प्रधानमंत्री का ठाठ-बाट देखकर वैसी ही ललक न उठे। राजा जनक हल जोतते थे। बादशाह नसीरुद्दीन टोपी सीकर गुजारा करते थे। यह वे उदाहरण हैं, जिनसे साधियों को अधिक विनम्र और संयमी बनने की प्रेरणा मिलती है। नहुष ने ऋषियों को पालकी में जोता और सर्प बनने का शाप ओढ़ने को विवश हुए। पेशवाओं के प्रधान न्यायाधीश राम शास्त्री की पत्नी जब राजमहल से बहुमूल्य वस्त्र, आभूषण के उपहार लेकर वापस लौटीं, तो उनसे दरवाजा बंद कर लिया और कहा—“ब्राह्मणों की पत्नी को अपरिग्रही आदर्श का पालन करना होगा, अन्यथा विनम्रता की बहुमूल्य संपदा हमारे हाथ से चली जाएगी।”

सिख धर्म के छठवें गुरु अर्जुनदेव संगत के जुटे बर्तन माँजने का काम करते थे। गुरु पदवी के इच्छुकों में से सभी को अयोग्य ठहरा कर गुरु रामदास ने अपना उत्तराधिकारी अर्जुनदेव को इस आधार पर घोषित किया कि वे नम्रता, निस्पृहता और अनुशासनपालन में अग्रणी पाए गए। अध्यात्म क्षेत्र में वरिष्ठता, योग्यता के आधार पर नहीं, आत्मिक सद्गुणों की अग्रि परीक्षा में जाँची जाती है। इस गुण शृंखला में निरहंकारिता को, विनयशीलता को अति महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। सरकारी क्षेत्रों में योग्यता के आधार पर पदोन्नति होती और नौकरी बढ़ती है। वही मापदंड यदि अध्यात्म क्षेत्र में भी अपनाया गया, तो फिर भावनाओं का कहीं भी कोई महत्व न रहेगा। महत्वाकांक्षी लोग ही इस क्षेत्र पर भी अपना आधिपत्य जमाने के लिए योग्यता की दुहाई देने लगेंगे, तब सदाशयता की कोई पूछ ही नहीं रहेगी। संन्यास लेते समय अपने अब तक के वंश, यश, पद, गौरव, इतिहास का विस्मरण करना होता है। गुरु आश्रम एवं संप्रदाय का एक विनम्र सदस्य बनकर रहना पड़ता है। सेवार्थ भी एक प्रकार से हल्की संन्यास परंपरा है। उसमें भूतकाल में अर्जित योग्यताओं, वरिष्ठताओं को प्रायः पूरी तरह भुला कर मिशन की गरिमा के साथ जुड़े हुए एक स्वयंसेवी के हाथों में जितनी प्रतिष्ठा लगती है, उसी में संतोष करना होता है। अधिक वरिष्ठ व्यक्ति अधिक विनम्र होते हैं। फलों से डालियाँ लद जाने पर आम का वृक्ष धरती की ओर झुकने लगता है। अकड़ते तो पतझड़ के डंठल ही हैं।

ब्राह्मण की शोभा आचरण की श्रेष्ठता में, निरहंकारिता में ही है।

ब्राह्मण बनाम शूद्र-शास्त्र की दृष्टि में

महाभारत अनु. पर्व अध्याय २२६/१४ में लिखा है—“कोई मनुष्य कुल, जाति, कर्मकांड के कारण ब्राह्मण नहीं होता। यदि चांडाल भी सदाचारी है, तो ब्राह्मण होता है।”
महाभारत के ही वनपर्व अध्याय २१६ में आता है—“जो ब्राह्मण दुष्ट कर्म करता है, जो दंभी, पापी और अज्ञानी है, उसे शूद्र ही समझना चाहिए।”

भविष्य पुराण अध्याय ४४/३३ का कथन है—“शूद्र यदि ज्ञान संपन्न है, तो ब्राह्मण से भी श्रेष्ठ है। आचारभ्रष्ट ब्राह्मण शूद्र से भी नीचा है।”

ब्राह्मण कौन ? भगवान् बुद्ध अनाथपिंडक के जैतवन में ग्रामवासियों को उपदेश कर रहे थे। शिष्य, अनाथपिंडक भी समीप बैठा धर्मचर्चा का लाभ ले रहा था।

तभी सामने से महाकश्यप, मौद्गल्यायन, सारिपुत्र, चुंद और देवदत्त आदि आते हुए दिखाई दिए। उन्हें देखते ही बुद्ध ने कहा—“वत्स ! उठो, यह ब्राह्मण मंडली आ रही है, इसके लिए योग्य आसन का प्रबंध करो।”

अनाथपिंडक ने आयुष्मानों की ओर दृष्टि दौड़ाई फिर आश्चर्य से कहा—“भगवन् ! आप संभवतः इन्हें जानते नहीं। ब्राह्मण तो इनमें कोई एक ही है, शेष कोई क्षत्रिय, कोई वैश्य और कोई अस्पृश्य भी हैं।”

गौतम बुद्ध अनाथपिंडक के वचन सुनकर हँसे और बोले—“तात ! जाति जन्म से नहीं, गुण, कर्म और स्वभाव से पहचानी जाती है। श्रेष्ठ, रागरहित, धर्मपरायण, संयमी और सेवाभावी होने के कारण ही इन्हें मैंने ‘ब्राह्मण’ कहा है। ऐसे पुरुष को तू निश्चय ही ब्राह्मण मान, जन्म से तो सभी शूद्र होते हैं।”

सेवा-पांडित्य से बढ़कर बापू के सेवाग्राम में एक दिन एक विद्वज्जन आए, उन्होंने अपनी विद्वत्ता के बारे में गांधी जी को बताया व बाद में उन्होंने गांधी जी से कहा कि उन्हें उनके लिए कोई उपयुक्त काम बताया जाय।

बापू ने उनसे कहा यदि वास्तव में उनके पास समय है और वे सेवा करना चाहते हैं, तो आश्रम के प्रांगण में झाड़ लगावें अथवा गेहूँ पीस दें। अपने को प्रकांड विद्वान समझने वाले उन सज्जन के अहं की चोट तो लगी, पर बापू ने उनके जीवन की विचारधारा बदल दी, कि सेवा कार्य हेतु किसी पांडित्य की नहीं, समर्पण की आवश्यकता रहती है।

मुझे गिरने दो जब राजा ययाति अपने मुख से अपनी तपस्या की प्रशंसा और अन्य तपस्वियों का तिरस्कार करने के कारण पुण्यक्षीण हो सिद्धों के लोक से नीचे गिरने लगे तो राजा अष्टक ने उन्हें गिरते देख कहा—“महाराज ! समस्त देवताओं को साक्षी बना मैं अपना समस्त पुण्य आपको अर्पित करता हूँ, आपका पतन न हो।” ययाति मुस्कराए और कहने लगे—“नर श्रेष्ठ ! दान केवल वेदवेत्ता ब्राह्मण या दीन ही ले सकते हैं। मैं न तो ब्राह्मण हूँ, न दीन। इसलिए, हे पुण्यशील अष्टक ! मुझे नीचे गिरने दो।”

इसी समय पास खड़े राजा प्रवर्दन ने भी ययाति को अपना पुण्य भेंट करना चाहा। ययाति के फिर अस्वीकार करने पर राजा वसुमान ने आगे बढ़कर कहा—“सज्जनो ! ययाति दान ग्रहण नहीं करते, आप वृथा कष्ट न करें।” फिर ययाति की ओर मुड़कर बोले—“महाराज ! आप एक मुट्ठी तृण मेरे लिए इकट्ठा कर दें। मैं मूल्य रूप में अपना समस्त पुण्य देता हूँ, आप का पतन न हो।”

ययाति हँसे और बोले—“पुण्यशील वसुमान ! उचित मूल्य से कम में किसी वस्तु को लेना भी एक प्रकार का दान लेना है। मैं न तो ब्राह्मण हूँ और न दीन, अतः मुझे नीचे गिरने दो। मैंने जो कर्म किए हैं, उनका फल मुझे पाने दो, क्योंकि यही विधाता की नीति है।”

दासी पुत्र ब्राह्मण का तेज विदुर जी ने धृतराष्ट्र को समझाने का प्रयास किया कि पुत्र मोह में पड़कर विवेकहीन मत बनो, अनौचित्य मत अपनाओ। दुर्योधन को पता लगा कि चाचा विदुर पिताजी को मेरे विरुद्ध सलाह दे रहे हैं। उसने उन्हें दरबार में बुलाया और अपमानित किया। कहा—“तुम दासी पुत्र हो। मेरा ही अन्न खाकर मेरी ही निंदा करते हो।”

विदुर जी जरा भी विचलित न हुए। कहा—“बेटा ! मैं क्या हूँ, यह तुमसे अधिक अच्छी तरह समझता हूँ। वन के शाक-पात मैं १२ वर्ष से खा रहा हूँ, तुम्हारा अन्न नहीं। तुम्हारे पिताजी, मेरे बड़े भाई मुझे बुलाकर मेरा मत माँगें, तो मुझे जो उचित लगा अपने अनुभव के आधार पर सलाह दी। तुम्हें नहीं रुचता तो पिता को



सलाह दे सकते हो कि मुझे परामर्श के लिए न बुलाया करें।”

विदुर जी अपने तप-तेज से दुर्योधन का अनिष्ट भी कर सकते थे। पर वे न उत्तेजित हुए, न विचलित। उनकी इस अद्भुत सहनशक्ति, संतुलन क्षमता की चर्चा करते हुए सूत जी कहते हैं—“जिसने लंबे समय शरीर को सात्विक पदार्थों तथा अंतःकरण को सात्विक विचारों का आहार दिया है, ऐसे तपस्वी में ही ब्राह्मणत्व का तेज विकसित होता है।”

शुकदेव ही क्यों ?

आचरण के अनुरूप ही ब्राह्मणत्व निर्धारित होता है।

राजा परीक्षित को शापवश एक सप्ताह में सर्प दंश से मरना था। उनसे बचे समय का श्रेष्ठतम सदुपयोग करने में बुद्धिमत्ता समझी। विचार क्षेत्र में आदर्श भर लेने की दृष्टि से पुराण कथा सुनने की व्यवस्था बनाई गई।

कथा वाचक व्यास जी ने ही इस प्रस्ताव को अस्वीकार करते हुए, उनसे अपने पुत्र शुकदेव जी को आमंत्रित करने का परामर्श दिया। व्यास के चरित्र में नियोग जैसे कई लांछन थे, पर शुकदेव का चरित्र सर्वथा निर्मल था। वाणी का कथन मात्र से ही उपदेश का प्रयोजन नहीं सधता। धर्मोपदेशक का चरित्र-व्यक्तित्व भी पवित्र होना चाहिए।

यहाँ दुर्भिक्ष को कोई स्थान नहीं

अभाव और कष्ट वहीं रहते हैं, जहाँ अनीति, निष्ठुरता व्याप्त होती है।

एक देश में दुर्भिक्ष पड़ा। देव धर्मराज ने देवदूतों को पता लगाने के लिए भेजा, कि उस देश में अभी भी धर्मात्माओं का अस्तित्व है या नहीं ?

देवदूत खोज कर वापस लौटे, तो उनसे अपने अनुभव सुनाए। एक बोला—“मैंने एक ऐसे व्यक्ति को देखा, जिसने बुभुक्षितों के लिए अपनी सारी विलास की सामग्री समाप्त कर दी।” दूसरे ने कहा—“मैंने एक ऐसे व्यक्ति को देखा, जिसने अपना खेत-घर बेचकर भूखों की सहायता की।” तीसरे ने बताया कि “एक व्यक्ति सात दिन का भूखा था। किसी दयालु की कृपा से थोड़ा खाने को मिला, उसने समीप ही अपरिचित कुत्ते को भूख से प्राण त्यागते देखा, तो अपना भोजन उसे दे दिया और स्वयं भूखा मर गया।”

धर्मराज ने कहा—“जहाँ ऐसे एक-एक नरपुंगव रहते हों, वहाँ दुर्भिक्ष को अधिक समय नहीं रहना चाहिए।” उसे बुला लिया गया और वर्षा होने पर धन-धान्य से वह समूचा क्षेत्र भर गया।

उपदेश ही नहीं, धारणा भी

इटली के एक छोटे से गाँव में जन्मे ऐविले आरंभिक जीवन में ही पादरी बना दिए गए। पर उन्होंने आँख खोलकर देखा कि पादरियों द्वारा कितना भ्रम-जंजाल फैलाया जा रहा है और लूट-खसोट के लिए विचित्र आडंबर किया गया है। उनसे अपने समुदाय को इसके लिए लताड़ा और जनता को सावधान किया। जिनके स्वार्थों को चोट पहुँची, वे उनके विरोधी बन गए, पर इसकी उनसे तनिक भी परवाह न की।

ऐविले ने अनुभव किया, कि मात्र धर्मोपदेश या कर्मकांड पूरे करने में ही धर्म-धारणा का उद्देश्य पूरा नहीं होता। धर्मजीवियों को देश की अन्य आवश्यकताओं की पूर्ति में भी जुटना चाहिए। उन्होंने अपना अध्ययन जारी रखा। एक विशाल पुस्तकालय की स्थापना की, जिसके माध्यम से प्रत्येक धर्मप्रेमी को इस तत्त्वज्ञान की वास्तविकता का पता चल सके। समाज सुधार से लेकर राजनैतिक गुत्थियों के समाधान के लिए उनसे बहुत कुछ किया। विग्रह और संधि के जितने अवसर पड़ोसी देशों के साथ आए, उन्हें सुलझाने में उन्होंने भरपूर सहायता की। उन्हें इटली में आदर्श पादरी माना जाता है और शरीर न रहने पर भी एक सत्यनिष्ठ दूरदर्शी के रूप में भरपूर सम्मान दिया जाता है।

संत का संतोष

संत जेनगुन सुनसान में झोंपड़ी बनाकर रहते थे। एक दिन कोई चोर आया और माल असबाब तलाशता रहा।

वहाँ कुछ था नहीं, सो चोर निराश होकर लौटने लगा। संत को दया आई। कितना जरूरतमंद, कितना हिम्मतवाला, फिर भी खाली हाथ लौटना पड़ रहा बेचारे को।

संत जग रहे थे। चोर की हलचल पड़े-पड़े ही देखते रहे। चलने लगा, तो आवाज देकर रोका और कहा—“खाली हाथ मत जाओ। मेरे पहनने के पकड़े लेते जाओ, काम आएँगे।”

चोर ने कपड़े ले लिए और सकुचाता हुआ चला गया।

जेनगुन बहुत प्रसन्न थे । नंगे बदन रात की खिली हुई चाँदनी में जा बैठे । पूरा चंद्रमा बहुत सुंदर लगा । मन ही मन सोचने लगे—“कैसा अच्छा होता, यह सुंदर चाँद मैं उस चोर को दे सका होता ।”

उदरपूर्तिनिमित्तं हि शिक्षा चार्थकरी तु या ।
 विद्यार्थिनस्तदर्थं तु धावन्तो ह्यभिभावकाः ॥ ७० ॥
 व्यवस्थां कुर्वते यात्राऽध्यापका वेतनाश्रिताः ।
 प्राप्यन्ते बोधकर्तारः श्रमिका इव सर्वतः ॥ ७१ ॥
 अभावस्तु भवेत्तेषां प्राप्नुवन्ति स्वयं तु ये ।
 गुणकर्मस्वभावानां स्वानामादर्शमुत्तमम् ॥ ७२ ॥
 स्याद् विवेकोदयो येन जनसाधारणस्य तु ।
 शिक्षयेयुरुदात्तं च चरित्वं परमार्थताम् ॥ ७३ ॥
 सर्वेषां वशगं नैतत् कर्म लोके तु सम्भवेत् ।
 विप्राणां प्राय एतत्तु, पौरोहित्ये च ते स्वयम् ॥ ७४ ॥
 जनसामान्येनेतृत्वं कुर्वते भावनात्मकम् ।
 धर्मधृत्यै तथैतस्यै मात्रमुद्बोधनं नहि ॥ ७५ ॥
 पर्याप्तं परमभ्यासकारणाद्रचनात्मकम् ।
 आन्दोलनं च संस्कारकारकं बहूपक्ष्यते ॥ ७६ ॥
 एकत्रीकृत्य चासंख्यांस्तत्र लोकांश्च कर्मणि ।
 कृत्वा परिणतं ज्ञानं विधेयं तत् स्वभावगम् ॥ ७७ ॥

भावार्थ—उदरपूर्ति के लिए आवश्यक शिक्षा प्राप्त करने के लिए विद्यार्थी और अभिभावक स्वयं ही दौड़-धूप करते रहते हैं । उसके लिए जानकारी भर बढ़ाने वाले वेतनभोगी अध्यापक भी अन्यान्य श्रमिकों की तरह हर जगह मिल जाते हैं । अभाव उनका रहता है, जो अपने गुण-कर्म, स्वभाव का आदर्श प्रस्तुत करके जन-साधारण का विवेक जगा सकें, उदात्त आचरण एवं परमार्थ-परायणता सिखा सकें । यह काम कर सकना हर किसी के वश का नहीं है, प्रायः यह काम ब्राह्मण का ही है । उन्हीं को पुरोहित के रूप में जन साधारण का नेतृत्व करना पड़ता है । इस धर्म-धारणा के लिए मात्र शिक्षण-उद्बोधन ही पर्याप्त नहीं होता, वरन् अभ्यास के लिए अनेक रचनात्मक एवं सुधारालत्मक आंदोलन खड़े करने होते हैं और उनमें असंख्यों को जुटाकर ज्ञान को कर्म में परिणत करते हुए स्वभाव-संस्कार के स्तर तक पहुँचाना होता है ॥ ७०-७७ ॥

व्याख्या—ब्राह्मण वह है, जो समाज में सुसंस्कारिता संवर्द्धन के बहुमुखी दायित्व सँभालते हैं । चाहे वह सुकुमार कच्ची मनोभूमि वाले बालक हों अथवा भिन्न-भिन्न मनःसंरचना वाले समाज परिकर का अपार जनसागर । उन्हें स्वयं के श्रेष्ठ आचरण द्वारा शिक्षण करते हुए, वे नैतिक पुनरुत्थान, बौद्धिक क्रांति हेतु जन-नेतृत्व का मोर्चा सँभालते हैं ।

समग्र साधना का शिक्षण ब्राह्मण का कार्य है, उचित शिक्षा देकर जन-नेतृत्व करना । राजा आमात्य जनश्रुति ने महर्षि वशिष्ठ से पूछा—“मैं पुण्यात्मा हूँ । धर्म के नियमों पर चलता हूँ । उपासना में भी चूक नहीं करता, फिर भी न मेरा लक्ष्य ही पूरा होता दिखाई पड़ता है, न भीतर का संतोष ही प्राप्त है ।”

वशिष्ठ ने कहा—“वत्स ! सदाचरण और साधन का महत्व तो है, किन्तु वे दोनों ही स्नेह और सेवा के बिना अपूर्ण रहते हैं । तुम उन दो साधनाओं को भी अपनाकर अपूर्णता दूर करो और समग्र प्रतिफल प्राप्त करो ।”

ब्रह्मज्ञान का उपदेश एक जिज्ञासु किसी ब्रह्मचारी के पास ईश्वर-दर्शन की इच्छा लेकर गया । ब्रह्मचारी ने उसे पास बिठाया । एक बड़ा-सा जल भरा पात्र मँगाकर उसमें नमक घोल दिया । इसके बाद जिज्ञासु ने कहा—“उस नमक को निकलकर दिखाओ ।”

यह संभव न था । इसलिए जिज्ञासु ने कहा—“अब यह संभव नहीं । मात्र चखकर ही जाना जा सकता है कि नमक का अस्तित्व मिटा नहीं, वरन् पानी में घुला है ।”

ब्रह्मचारी ने कहा—“ईश्वर इस सृष्टि में घुल गया है । उसे देखा नहीं जा सकता, उसे अनुभव किया जा सकता है ।” जिज्ञासु ने दर्शन की हठ छोड़ दी और ब्रह्मा के आधार पर अनुभूति की नीति अपनाई ।

तुम्हें लज्जा नहीं आती समयानुसार कभी-कभी लताड़ना भी पड़ता है । एक बार मिदनापुर में स्वामी विवेकानंद की शिष्या भगिनी निवेदिता का भाषण हो रहा था । मंत्रमुग्ध जनता उपदेशामृत पान करने में तल्लीन थी, तभी कुछ युवकों ने ‘हिप, हिप, हुर्रे’ का उद्घोष किया ।

भगिनी निवेदिता ने भाषण के बीच में ही उन्हें डाँटते हुए कहा—“चुप रहो, क्या तुम्हें अपनी भाषा का जरा भी गर्व नहीं ? क्या तुम्हारे पिता अंग्रेज थे ? क्या तुम्हारी माँ गोरी चमड़ी की यूरोपियन थीं ? अंग्रेजों की नकल करते तुम्हें लज्जा क्यों नहीं आती ?”

यह सुनकर युवक स्तब्ध रह गए । तभी निवेदिता बोलीं—“भाषण के दौरान प्रसन्नता प्रकट करना आवश्यक ही हो, तो स्वभाषा में प्रकट करो ।” बोलो—“सच्चिदानंद परमात्मा की जय ! भारतमाता की जय ! सद्गुरु की जय !” युवकों ने तत्काल उनके आदेश का पालन किया ।

भाषण बाद में, सेवा पहले हर समय उपदेश देते रहना ही उपयुक्त नहीं है । जो व्यक्ति ऐसा करते हैं, उन्हें उनके कर्तव्यों का ज्ञान कराना भी ब्राह्मण का ही कार्य है ।

एक बच्चा तालाब में डूब रहा था और उसका पिता किनारे पर खड़ा उपदेश कर रहा था—ले मेरा कहना न मानने का फल भुगत । तभी एक संत उधर से निकले और कूदकर बच्चे को बचाते हुए बोले—“पहले उसे डूबने से बचाओ, फिर अपना भाषण दो ।”

समय पर जगा दिया कभी-कभी ऐसे अवसर आते हैं कि विकट समय में, प्रभु-प्रेरणा किसी के भी माध्यम से प्रकट हो, संत को, ब्राह्मण को उनके कर्तव्य का ज्ञान करा देती है ।

बगदाद के काजियों ने खलीफा से शिकायत की कि संत इमाम अवल कुरान को मनुष्यकृत मानते हैं और कट्टर धर्मांधता का विरोध करते हैं । उन्हें दंड मिलना चाहिए । वृद्ध संत को राज-दरबार में पेश होने के लिए सिपाही पकड़ लाए । वे रस्सों से बँधे अपराधियों की पंक्ति में खड़े सोच रहे थे कि अन्यायी क्रूरता उन्हें कितना कठोर दंड दे सकती है । चिंता की रेखाएँ उनके चेहरे पर उभर रही थीं । पहरे वाले सिपाही ने वस्तुस्थिति को समझा । संत के पास आया और धीरे-से बोला—“हजरत, जुल्म से डरिए मत, बहादुरी दिखाइए । चोरी का जुर्म कबूल कराने के लिए मुझ पर एक बार हजार कोड़ों की मार पड़ी थी, पर मैंने जुर्म कबूल नहीं किया और छूट गया । मैंने झूठ के लिए कलेजा इतना कड़ा कर लिया, तो आप सच के लिए कष्ट उठाने में क्यों डरें ?” संत की आँखें चमक उठीं, उसने कहा—“प्यारे ! तूने मुझे समय पर जगा दिया ।”

खलीफा के दरबार में संत ने सच-सच कह दिया कि वे कुरान को मनुष्यकृत मानते हैं और धर्मांधता का विरोध करते हैं । हजार बेंत लगाकर उन्हें मार डालने का हुक्म हुआ । इमाम की चमड़ी उखड़ गई और कराहते हुए मौत के मुँह में चले गए, पर चोर सिपाही का उपदेश दुहराते ही रहे कि सच के लिए कष्ट उठाने से क्यों डरें ?

बकरी तो मेरी थी दूसरों को ज्ञान देना तो सरल है पर स्वयं उसे जीवन में उतारना कठिन है । गाँव के बाहर एक साधु कुटिया में रहते थे । कोई भक्त एक बकरी दे गया था, उसकी देखभाल करते दूध पीते ।

एक दिन एक गृहस्थ आया, उसका जवान बेटा मर गया था । उसे रोता देख साधु ने समझाया—“शरीर मरणधर्मा है, आत्मा अमर है । शरीर छूटने से दुःख करना बेकार है ।”

संयोग से कुछ दिन बाद साधु की बकरी मर गई । साधु रोने लगे । वही गृहस्थ पहुँचा, बोला—“महाराज जी, आप तो मुझे शोक न करने का उपदेश देते थे, अब आप क्यों रोते हैं ?” साधु बोले—“बालक तुम्हारा था, पर बकरी तो मेरी अपनी थी, इसलिए रोता हूँ ।”

धूर्तों की तिकड़म संसार में बाहुल्य ऐसे व्यक्तियों का है, जो अवसर देखकर लाभ उठाना चाहते हैं । आचरण नहीं बदलना चाहते । ऐसे व्यक्ति अलग पहचान लिए जाते हैं । राजमहल में एक संत

आए। राजा ने उनसे दीक्षा ले ली। इस समाचार को सुनकर अनेक चतुर लोग दीक्षा लेने लगे और राजा के गुरु भाई बनने लगे। साथ ही गुरु भाई के नाते टैक्स माफ करने का भी दबाव डालने लगे। यही उनका उद्देश्य भी था। राजा बड़ी कठिनाई में पड़े। आमदनी समाप्त होने लगी।

राजा को बुलाकर संत ने कहा—“मैं जाता हूँ। तुम कहना वे हमारे गुरु नहीं रहे। इससे जो लगान माफ कराने के लिए शिष्य बने हैं, उनसे पीछा छूट जाएगा।

वेश पर आवेश क्यों ? सभी वेशधारी साधु सन्त नहीं होते एवं सभी सन्त वेश धारण करें, यह अनिवार्य नहीं। कुछ के कारण सारे समुदाय को कभी-कभी हानि उठानी पड़ती है। एक वनवासी को साधु वेश से चिढ़ थी। एक सन्त उस वन से होकर कहीं जा रहे थे, वह देखते ही आगबबूला हो गया और खींच कर पत्थर मारा। वे बिना कुछ कहे चले गये।

पत्थर का घाव तो अच्छा हो गया पर यह प्रश्न उनके मस्तिष्क में घूमता ही रहा कि किसी सन्त के दुर्व्यवहार से उसके मन में घृणा हुई मालूम पड़ती है। चल कर उस कारण को जानना चाहिए और आक्रोश का निवारण भी करना चाहिये कि सबको एक जैसा समझने की भूल न करें।

संत सीधे उसकी झोंपड़ी में चले गए। देखा तो वह बुखार और अतिसार से बुरी स्थिति में अचेत पड़ा है।

होश आने पर सेवारत साधु को देखकर उसने पश्चात्ताप प्रकट किया और अनुभव किया कि एक जैसे वेश के सभी एक समान नहीं होते। साधु वेश में संत भी होते हैं, यह उसने पहली बार जाना।

धर्म रक्षक की महती जिम्मेदारी समाज में सर्वोपरि पद पर रहने के कारण उनके दायित्व भी बढ़े-चढ़े हैं। जिन पर धर्म-संस्कृति की रक्षा का भार है, उन्हें तो और भी सतर्क होना चाहिए।

बोधिसत्व एक दिन सुंदर कमल के तालाब के पास बैठे वायु सेवन कर रहे थे। नव-विकसित पंकजों की मनोहारी छटा ने उन्हें अत्यधिक आकर्षित किया, तो वे चुप बैठे न रह सके, उठे और सरोवर में उतर कर निकट से जलज गंध का पान कर तृप्ति लाभ करने लगे।

तभी किसी देव कन्या का स्वर सुनाई पड़ा—“तुम बिना कुछ दिए ही इन पुष्पों की सुरभि का सेवन कर रहे हो। यह चोर कर्म है। तुम गंध चोर हो।” तथागत उसकी बात सुनकर स्तब्ध रह गए। तभी एक व्यक्ति आया और सरोवर में घुसकर निर्दयतापूर्वक कमल-पुष्प तोड़ने लगा, बड़ी देर तक उस व्यक्ति ने पुष्पों को तोड़ा-मरोड़ा पर रोकना तो दूर, किसी ने उसे मना तक भी न किया।

तब बुद्धदेव ने उस कन्या से कहा—“देवि ! मैंने तो केवल गंधपान ही किया था। पुष्पों का अपहरण तो नहीं किया था, तोड़े भी नहीं, फिर भी तुमने मुझे चोर कहा और यह मनुष्य कितनी निर्दयता के साथ पुष्पों को तोड़कर तालाब को अस्वच्छ तथा असुंदर बना रहा है, तुम इसे कुछ नहीं कहती ?” तब वह देव कन्या गंभीर होकर कहने लगी—“तपस्वी ! लोभ तथा तृष्णाओं में डूबे संसारी मनुष्य, धर्म तथा अधर्म में भेद नहीं कर पाते। अतः उन पर धर्म रक्षा का भार नहीं है। किंतु जो धर्मरत्न हैं, सद्-असद् का ज्ञाता है, नित्य अधिक से अधिक पवित्रता तथा महानता के लिए सतत् प्रयत्नशील है। उसका तनिक-सा पथभ्रष्ट होना एक बड़ा पातक बन जाता है।”

बोधिसत्व ने मर्म को समझ लिया और उनका सिर पश्चात्ताप से झुक गया।

अपराध नहीं, अपराधी का स्तर देखें पाप कर्म करने वाले का स्तर क्या है, इस पर सजा निर्भर है। जिसके दायित्व बढ़े-चढ़े हैं, उससे यदि ऐसा कुकृत्य हो, तो उसकी सजा भी अलग होगी।

चार जुआरी पकड़े गए। वे राजा के सामने पेश किए गए। राजा ने एक को छः महीने की जेल दी। दूसरे को पाँच सौ रुपया जुर्माना। तीसरे को कान पकड़ कर दस बार उठने-बैठने की सजा दी और चौथे को इतना ही कहा—“आप भी !” और उसे बिना कुछ दंड दिए रिहा कर दिया।

मंत्रियों ने एतराज किया कि एक ही जुर्म में एक साथ पकड़े गए अपराधियों को अलग-अलग प्रकार की सजा क्यों ? राजा ने कहा—“कल आप लोग जाकर देखना कि वे चारों क्या कर रहे हैं ?”

देखा गया तो जिसे जेल हुई थी, वह जेल में जाकर भी कंकड़ों की सहायता से दूसरे कैदियों को जुआ खिला और सिखा रहा है। जिसे पाँच सौ रुपया जुर्माना हुआ था, उसने उस नगर को छोड़कर दूसरे नगर में अपना धंधा करना

शुरू कर दिया था। जिसे कान पकड़कर उठने-बैठने के लिए कहा गया था। उसने घर जाकर शपथपूर्वक प्रतिज्ञा की, कि वह कभी भी जुआ न खेलेगा। और जिसे 'आप भी' कहकर रिहा कर दिया था, उसने सोचा कि हमारे खानदान की प्रतिष्ठा राज-दरबार में धूलि हो गई और शहर में जानकारी फैलने से मुँह दिखाने लायक न रहेगा, सो उसने वह राज्य छोड़ दिया और किसी अन्य देश के लिए चला गया।

राजा ने सूचना के आधार पर कहा—“जुर्म ही नहीं व्यक्ति का स्तर देखकर भी सख्ती और नरमी बरती जाती है।”

प्रभु की कृपा संतों के लिए सभी समान हैं। पानी को वे अपनी सहृदयता से आचरण सुधारने की सीख देते व सफल होते हैं।

पापी पर पहले जेकस के पास धन का अपार भंडार था, जिसे उसने जनता से क्रूरतापूर्वक वसूल कर एकत्रित किया था। अपने अमानुषिक यातनाओं के लिए वह कुख्यात हो चुका था। जब वह बाहर निकलता, तो लोग नगर से भागकर जंगलों में छिपने लगते।

एक दिन प्रभु ईसा मसीह उसके नगर में आए। गरीबों के प्रभु आ रहे थे। जनता उनके दर्शन के लिए उमड़ पड़ी। जेकस भी प्रतीक्षा कर रहा था। ईसा उसके पास से निकले तो देखते ही बोले—“आज तुम्हारे यहाँ निवास करूँगा।” एक कुख्यात व्यक्ति के ऊपर ईसा को कृपा करते देखकर जनता की श्रद्धा डगमगा उठी। बहुत से लोग निंदा करने लगे। परंतु उनकी प्रतिक्रियाओं से उसे क्या लेना-देना, जो ऊँचे उद्देश्यों के लिए चल पड़ा हो। अब तक के विरोधों एवं आलोचनाओं से जो न सुधर सका था, ईसा की स्नेहिल करुणा का संस्पर्श पाकर जेकस का हृदय ही परिवर्तन हो गया। उन्हें बिदा करते समय उसने कहा—“प्रभु! अपनी आधी संपत्ति आप के शुभागमन के उपलक्ष्य में उन लोगों के उत्थान में खर्च करूँगा, जो किसी भी कारण दुःखों तथा अभावों का जीवन जी रहे हैं। जिनसे अनुचित उपायों द्वारा धन प्राप्त किया है, उन्हें भी चौगुना धन वापस करने का वचन देता हूँ।” लोगों ने जेकस का हृदय परिवर्तन देखा और उन्हें ईसा का उसके यहाँ रुकने का उद्देश्य समझ में आ गया।

वैज्ञानिक मनीषी व्यक्तिगत जीवन में कठोर एवं परमार्थी संत अपना दायित्व निभाना भली-भाँति जानते हैं। अपना आचरण वे दर्पण के समान स्वच्छ रखते हैं।

अलहसन काहिरा की एक पुरानी मस्जिद के गुंबज में रहकर गुजर करने वाले अलहसन गणित, ज्योतिष और भौतिकी के असाधारण विद्वान थे। उनसे विज्ञान के हर क्षेत्र का नए सिरे से पर्यवेक्षण किया और पुरानी जानकारीयों को बहुत कुछ सुधारा और उनमें बहुत कुछ जोड़ा। उनके ग्रंथों का पश्चिम की अनेक भाषाओं में अनुवाद हुआ और नई पीढ़ी के वैज्ञानिकों ने अपने आविष्कारों में भारी सहायता प्राप्त की।

अलहसन को राजदरबार में जगह मिली थी और ऊँचा वेतन भी था। किन्तु उसे छोड़कर, बड़े ग्रंथों की प्रतिलिपियाँ तैयार करने का परिश्रम करके अपनी आजीविका चलाई। बादशाह नसीरुद्दीन की तरह टोपी सीकर और कुरान लिखकर, रोटी कमाने का तरीका अलहसन का अपनाया हुआ रास्ता ही था।

ऐसे होते हैं संथाल परगना के एक अध्यात्म प्रेमी को, धर्मपत्नी का स्वर्गवास हो जाने पर संन्यास लेने की सूझी और उसने एक बाबा जी से दीक्षा लेकर अपना नाम गीतानंद रख लिया। वे तीर्थाटन के लिए

संन्यासी निकल पड़े। वे श्रद्धालु के साथ तार्किक भी थे। तीर्थों में जो कुछ उनसे होते देखा, उससे उन्हें बहुत बुरा लगा और प्रतीत हुआ कि विद्वत् समाज में अश्रद्धा के बीज बोने की जिम्मेदारी इसी भ्रम-जंजाल और लूटमार की है, जो वंश और वेश के नाम पर व्यवसाय के रूप में चलाया जा रहा है। ईश्वर दर्शन के नाम पर जो दिवास्वप्न दिखाए जाते थे, उन्हें और भी बुरे लगे। थोड़े दिन भटकने के उपरांत वे अपनी जन्मभूमि लौट आए और अपने क्षेत्र में लोकसेवा का सच्चा संत आदर्श प्रस्तुत करने का निश्चय किया।

उसने अपना घर ही सत्संग भवन बना लिया। सप्ताह में एक दिन कीर्तन करते और समीपवर्ती गाँवों से विचारशील लोगों को बुलाकर सर्वतोमुखी उत्कर्ष की योजना बताते और छः दिन जन संपर्क में लगे रहते। उनके प्रयत्न से उस क्षेत्र में ३५ प्राथमिक पाठशाला, २ हाईस्कूल, ४० व्यायामशालाएँ तथा १० पुस्तकालय खुले। वे रात्रि में भजन करते और दिन में जनकल्याण का वातावरण बनाने में लगे रहते।



बहुनि सन्ति कर्माणि यान्याश्रित्य च युज्यते ।
 शिक्षितुं लोकसेवैषा जगन्मङ्गलकारिणीः ॥ ७८ ॥
 सत्प्रवृत्तीर्विधातुं ता शुभा अथाग्रगामिनीः ।
 यथा व्यायामशालास्ता पाठशालाः कला अपि ॥ ७९ ॥
 पुस्तकालय उद्योगाः कौशलश्रमशालिता ।
 हरितक्रान्तिरतैषा स्वच्छता धेनुपालनम् ॥ ८० ॥
 स्वास्थ्यवृद्धिः समारोहस्तथासंगठनादिकम् ।
 कुरीतिवारणं बालकल्याणं जनजागृतिः ॥ ८१ ॥
 महिलामङ्गलादीनि रचनात्मकरूपतः ।
 सन्ति ख्यातानि यान्यन्नोद्भाव्यान्यन्यापि स्वयम् ॥ ८२ ॥
 सर्वाण्येतानि कर्तुं च गतिशीलानि सन्ततम् ।
 अग्रगामीनि चायान्तु व्यवस्थापयितुं समे ॥ ८३ ॥
 लोकसेवारता येन वातावरणमुज्ज्वलम् ।
 सोत्साहं निर्मितं च स्याल्लोको मंगलमाव्रजेत् ॥ ८४ ॥
 एष ब्राह्मणवर्गश्च स्वाध्यायोपासनास्विव ।
 सत्संगेष्विव चैतासु क्रियासु स्याद्रतः सदा ॥ ८५ ॥
 सत्प्रवृत्त्यभिवृद्धिश्च सम्भवेदत्र येन च ।
 प्रत्येकस्मिंस्तथा क्षेत्रे वर्धमानश्च याः समाः ॥ ८६ ॥

भावार्थ— पाठशाला, पुस्तकालय, व्यायामशाला, कला-कौशल, उद्योग-गृह, सामूहिक श्रमदान, हरीतिमा संवर्द्धन, गौ-पालन, स्वच्छता-प्रयास, संगठन, समारोह, स्वास्थ्य-संवर्द्धन, कुरीति-निवारण, शिशु-कल्याण, महिलामंगल जैसे अनेक छोटे-बड़े रचनात्मक कार्य ऐसे हो सकते हैं, जिसके सहारे लोग सार्वजनिक सेवा सीखें और जनमंगल की सत्प्रवृत्तियों को अग्रगामी बनाएँ, इन्हें गतिशील अग्रगामी बनाने एवं व्यवस्था जुटाने में लोकसेवियों को ही आगे रहना पड़ता है । ब्राह्मण-वर्ग को भावना, उपासना, स्वाध्याय, सत्संग की तरह ही एक रचनात्मक क्रिया-कलापों द्वारा सत्प्रवृत्ति संवर्द्धन में भी निरत होना पड़ता है ॥ ७८-८६ ॥

व्याख्या— सेवा धर्म के अनेक रूप हैं । ब्राह्मण व्यक्ति, वंश या वेश से नहीं, अपने अंतः की उदारता के कारण बनता है । चाहे व्यक्ति किसी भी आश्रम में हो, समाज में रहकर पीड़ा या पतन निवारण के माध्यम से समग्र मानव समुदाय की सेवा करता रह सकता है । साधना समग्र तब कहलाती है, जब उपासना-सत्संग जैसे धर्म-कृत्यों के साथ स्वयं को ऐसे रचनात्मक कार्यक्रमों से भी जोड़ा गया हो, सत्प्रवृत्ति का वातावरण बनाते हों । इनमें से कई की चर्चा यहाँ ऋषि श्रेष्ठ कात्यायन जी ने की है । इन सभी का लक्ष्य एक ही है, सबका कल्याण एवं जनसाधारण में सेवा-भावना के विकास द्वारा आत्मीयता का विस्तार ।

भारतीय संस्कृति के दो अग्रदूत भगवान् बुद्ध एवं आद्य शंकराचार्य ने अपने जीवन में सत्प्रवृत्ति-संवर्द्धन द्वारा ही समाज की बहुमूल्य सेवा की । भगवान् बुद्ध ने बुद्धिवाद को सर्वोपरि मान्यता दी । उन्होंने अपने युग में प्रचलित भक्ति-भावुकता और तांत्रिक राजमार्ग के उभय-पक्षीय अतिवादों से धर्म-धारणा को बुरी तरह क्षत-विक्षत देखा और परंपराओं का नए सिरे से पर्यवेक्षण करने के लिए बुद्धिवादी कसौटी जनसमुदाय के हाथ में थमाई । सेवा और संयम की तपश्चर्या अपनाई । आत्मबोध जगाया और मनुष्य से भगवान् बन गए । उनने व्यापक परिमार्जन का 'धर्मचक्र-प्रवर्तन' चलाया । बिहार खड़े किए, संघाराम विनिर्मित किए, विश्वविद्यालय चलाए और प्रव्रज्या धर्म अपनाने के लिए प्रभाव क्षेत्र में परिपूर्ण प्रेरणा दी । अगणित जीवनदानी नर-नारी उनके आह्वान पर आगे आए और विश्व के कोने-कोने में बौद्धिक-क्रांति के लिए, धर्मधारणा प्रतिष्ठित करने के लिए चल पड़े । बुद्ध का यह परम पुरुषार्थ देश को डूबती नौका को उबारने में सफल रहा ।

आद्य शंकराचार्य की ऋषिकल्प गतिविधियों में तीर्थ स्थापना प्रमुख है। उनके देश के चार कोनों पर चार धाम, चार मठ बनाए। उन्होंने अटक से कटक और कन्याकुमारी से काश्मीर तक की पैदल यात्रा की। इस यात्रा में उन्होंने हजारों व्याख्यान दिए। बड़े-बड़े उद्भट्ट विद्वानों से शास्त्रार्थ किया और धर्म के सद्ये स्वरूप को समझने-समझाने के लिए सभाएँ आयोजित कीं। उन्होंने धर्मप्रचार करने के लिए चिद्विलास, विष्णु गुप्त, हस्तामलक, समित् पाणि, ज्ञानवृंद, भानुगर्भिक, बुद्धि विरंचि, त्रोटकाचार्य, पद्मनाभ, शुद्धकीर्ति, मंडन मिश्र, कृष्णदर्शन आदि देश के उद्भट्ट विद्वानों को संगठित किया। वेद धर्मानुयायियों की विशाल सेना बनाई गई और संपूर्ण भारत में धर्म सुधार की हलचल मचा दी। उनके इस अखंड प्रयत्न का ही यह फल हुआ कि जनता के मानस में धर्म संबंधी जो भी भ्रांतियाँ घर कर रही थीं, वे सब दूर होने लगीं और सारे देश में बौद्धिक धर्म का शंखनाद गूँजने लगा।

मानसिकता

बदली जाय

दलितोद्धार जैसी सेवा निश्चित ही महत्वपूर्ण है, किंतु यह ध्यान रखा जाना चाहिए कि यह मात्र सुविधा-संवर्द्धन तक ही सीमित न रह जाए, क्योंकि उससे उद्देश्य वस्तुतः पूरा नहीं होता। उद्देश्य जनसामान्य की मानसिकता उस कुप्रचलन के प्रति बदल देने पर ही पूरा होता है।

महात्मा गांधी जी की समाज सेवा में हरिजनों के उत्थान का उद्देश्य पहली वरीयता पर था। आज जो थोड़ी सी सुविधाएँ हरिजनों को मिली हैं, वह उन्हीं के प्रयत्नों का फल है, पर सुविधाएँ देकर उनकी समस्याओं का निराकरण नहीं किया जा सकता। उन्हें शिक्षा-दीक्षा का विशेष प्रबंध कर अब तक छाये कुसंस्कारों को कम करना ठीक है, पर देखना यह चाहिए कि वे उच्च वर्ग के साथ बैठकर भोजन कर सकते हैं या नहीं। सामाजिक उत्सवों में, पारस्परिक व्यवहार, धार्मिक उपासनाओं आदि में भी भाग ले सकते हैं या नहीं। मस्तिष्क इतना विवेक और यथार्थवादी हो कि हरिजन को मानवीय दृष्टिकोण से देखा जा सके, तब काम चलेगा। हम मुसलमानों, ईसाइयों के साथ बैठकर भोजन कर सकते हैं, तो भंगी, चमार और धोबी के साथ क्यों नहीं बैठ सकते?

अनगढ़ नहीं, सुगढ़

व्यक्ति ही अभीष्ट

नवनिर्माण जैसे उच्चस्तरीय प्रयोजन हेतु श्रेष्ठ लोकसेवी-सृजन शिल्पी चाहिए। हेय स्तर के व्यक्ति यह उद्देश्य पूरा नहीं कर सकते। चारणसी के शासक ब्रह्मदत्त का राजोद्धान। उद्धान में देश-देशांतर के दुर्लभ एवं सुंदर वृक्षों, लताओं का संग्रह। बोधिसत्व उसी उद्धान में सपरिषद् विश्राम कर रहे थे। उस दिन नगर में एक भव्य उत्सव आयोजित था। माली को उत्सव देखने की लालसा हो आई। उद्धान में बंदरों का समूह था। बंदरों के नायक से माली की मैत्री थी। नायक बंदर को बुलाकर कहा—“मित्र ! एक दिन तुम अपने यूथ के साथ मिलकर उद्धान सींच दो, तो मैं उत्सव देख आऊँ।” बंदर ने प्रसन्नतापूर्वक मित्र कार्य संपादित करने का वचन दिया। माली चला गया, तो बंदर पात्र से लताओं का सिंचन करने लगे। तभी नायक ने कहा—“मित्रो ! हमें विवेकपूर्वक सिंचन करना चाहिए, अन्यथा जल का अभाव हो जाएगा। अतएव तुम लोग लताओं को उखाड़ कर उनकी जड़ों की गहराई देख लो। जो जड़ जितनी गहरी हो, उसके अनुसार ही सिंचन करो।” बंदरों ने शीघ्र ही लताएँ उखाड़ डालीं। बोधिसत्व ने उद्धान का विनाश देखा, तो दीर्घ निःश्वास के साथ कहा—“अकुलशल का उपकार भरा कार्य सुखद नहीं होता।” सच्चे लोकसेवियों को ही विश्व-उद्धान को सुंदर समुन्नत बनाने में आगे आना चाहिए, अन्यथा अनपढ़ तो बंदरों की तरह उसे चौपट ही करते रहेंगे।

नेता वह, जो

काम करे

रूस के जन नेता लेनिन पर एक बार उनके शत्रुओं ने घातक आक्रमण किया और वे घायल होकर रोग-शैया पर गिर पड़े। अभी ठीक तरह अच्छे भी नहीं हो पाए थे कि एक महत्वपूर्ण रेलवे लाइन टूट गई। उसकी तुरंत मरम्मत किया जाना आवश्यक था। काम बड़ा था, फिर भी जल्दी पूरा हो गया।

काम पूरा होने पर हर्षोत्सव हुआ, तो देखा कि लेनिन मामूली कुली-मजदूरों की पंक्ति में बैठे हैं। रुग्णता के कारण दुर्बल रहते हुए भी लड़े ढोने का कड़ा काम बराबर करते रहे और अपने साथियों में उत्साह की भावना पैदा करते रहे।

आश्चर्यचकित लोगों ने पूछा—“आज जैसे जननेता को अपने स्वास्थ्य की चिंता न करते हुए, इतना कठिन काम नहीं करना चाहिए था।” लेनिन ने हँसते हुए कहा—“जो इतना भी न कर सके, उसे जन नेता कौन कहेगा ?”

जिन्होंने पिछड़ों की सेवा का व्रत लिया

तब अफ्रीका में बीमारी फैली हुई थी। उस कठिन क्षेत्र में चिकित्सा करने के लिए डॉक्टरों की माँग छपी। जर्मनी के अध्यापक श्वाइत्जर ने नौकरी छोड़ दी और डॉक्टरी सीखने लगे। उनसे निश्चय किया वे अफ्रीका में पिछड़े दुःखियों के लिए जीवन अर्पण करेंगे। पास होते ही वे अफ्रीका चले गए और अनेक रोगों से ग्रसित उस क्षेत्र के पिछड़े लोगों की सेवा, चिकित्सा द्वारा करने लगे। कुछ रोगियों के लिए उनसे पृथक् चिकित्सालय बनाया। नित्य १५ घंटे काम करते। उस समूचे क्षेत्र में उन्हें जीवित दयालु ईसामसीह माना जाता था।

अमेरिका का वेद व्यास

उन्हें नोबल पुरस्कार मिला। वह राशि उन्होंने कुछ चिकित्सालय के लिए दान कर दी। निरंतर रोगियों के संपर्क में आने से उन्हें भी छूत लगी और समय से पहले ही उनका स्वर्गवास हो गया। उनकी पत्नी पूरी तरह उनका हाथ बँटाती थीं। बाद में भी वे उस कार्य में लगी रहीं।

अमेरिका का वेद व्यास

साहित्य-सृजन द्वारा जनमानस के परिष्कार की सबसे बड़ी सेवा हो सकती है। एक बार गांधी जी से किसी अमेरिकन ने पूछा—“आपने असहयोग की प्रेरणा कहाँ से प्राप्त की”, तो उनसे उत्तर दिया—“थोरो के साहित्य से।” थोरो को उनसे देखा नहीं था, पर उनका प्रतिपादन इतने गजब का था कि उसके मार्गदर्शन ने न केवल भारत को स्वतंत्र कराया, वरन् संसार से दास-प्रथा की जड़ें भी उखाड़ फेंकीं।

‘थोरो’ अमेरिका के ‘स्पार्टन’ प्रांत में जन्मे, मजदूरी करके पढ़े। स्नातक पदवी की फीस उन दिनों प्रमाणपत्र लेते समय ५ डालर देनी पड़ती थी। उनसे प्रमाणपत्र व्यर्थ समझा और उस पैसे को दुखियारों के लिए बाँट दिया।

थोरो ने कुछ ही दिन नौकरी की। बाद में वे एक किराए के मकान में ही रहने लगे। गुजारे के लिए वे पेंसिल बनाते थे। थोरो ने प्रायः ७०० एक से एक बढ़कर पुस्तकें लिखी हैं, पर उनके जीवनकाल में एक संस्करण ही कठिनाई से बिका। उनके न रहने पर उन्हें विश्व का सर्वश्रेष्ठ साहित्यकार माना गया।

थोरो एक झील के तट पर झोंपड़ी बनाकर रहते थे। इमर्सन भी उनके साथ रहने लगे थे। अमेरिका का यह वेद-व्यास गरीबी में ऋषियों की तरह मात्र ४४ वर्ष जिया, पर इतने स्वल्पकाल में ही वह संसार के लिए बहुमूल्य ज्ञान संपदा छोड़ गया।

जो लेखनी लेकर अनीति से लड़े

मुंशी प्रेमचंद के कथा साहित्य ने पिछड़े भारत की प्रत्येक अनिष्टकर समस्याओं को छुआ है। उनके हृदय में मूढ़-मान्यताओं और अनाचारों के विरुद्ध आग थी, जिसे लेखनी द्वारा सदा उगलते रहे। उनके उपन्यासों से भारत का बच्चा-बच्चा परिचित है।

प्रेमचंद जी की सादगी चरम सीमा की थी। गुरुकुल कांगड़ी के एक अधिवेशन में उन्हें अध्यक्ष चुना गया। स्वागत के लिए स्टेशन पर हजारों लोग पहुँचे, पर उनकी सादगी की देखते हुए कोई पहचान न सका। वे बिस्तर सिर पर रखकर तीन मील पैदल ही गुरुकुल जा पहुँचे। स्वागत वाली भीड़ उनके बाद पहुँची।

बाल शिक्षा के लिए समर्पित

बंबई की ताराबाई मोड़क ने ग्रेजुएट स्तर की शिक्षा पाई। उन्हें राजकोट में ट्रेनिंग कॉलेज का प्रिंसिपल पद मिला। उधर विवाह होते ही दो वर्ष के भीतर वे विधवा हो गईं।

गांधी जी की बुनियादी शिक्षा योजना में उन्होंने विशेष दिलचस्पी ली और सरकारी नौकरी छोड़कर देहातों में, विशेषतया पिछड़े समुदाय के बालकों एवं अभिभावकों में इसके लिए रुचि उत्पन्न की और जिन कठिनाइयों के कारण वे कतराते थे, उनके समाधान ढूँढ़े। कठिन लगने वाला काम सरल हो गया।

प्रो. गिजू भाई का सहयोग उन्हें और भी कारगर सिद्ध हुआ। उनसे देश की प्रमुख भाषाओं में बाल शिक्षा के नए प्रयोगों पर कई पत्रिकाएँ निकालीं और कितनी ही पुस्तकें लिखीं। देश भर में इस योजना को कार्यान्वित करने के लिए ५०० स्वयंसेवक एकत्रित किए। ये सभी बड़ी लगन से राष्ट्र सेवा का कार्य कर रहे हैं।

मस्तिष्क का संचालक अध्यापक

कलकत्ता बोर्ड की अंग्रेजी की परीक्षा देने पहुँचा एक युवक परीक्षा भवन में, उससे प्रश्न पूछा गया—“क्या आप हमारे प्रश्नों के लिए तैयार हैं।” युवक ने उत्तर दिया—“जी हाँ!” तब परीक्षकों ने अंग्रेजी में ही पूछा—“स्कूल मास्टर और स्टेशन मास्टर में क्या अंतर है?” विद्यार्थी ने अंग्रेजी में कहा—“द स्कूल मास्टर ट्रेन्स द माइंड, व्हाइल द स्टेशन मास्टर

माइन्ड्स द ट्रेन्स ।" परीक्षक इस अर्थपूर्ण उत्तर से अत्यधिक प्रभावित हुए । उन्होंने कहा था—"एक अध्यापक मस्तिष्क को संचालित करता है, जबकि स्टेशन मास्टर गाड़ियों को ।" वह युवक थे श्री सुभाष चंद्र बोस ! उनकी यह बात कितनी सही थी कि अध्यापक ही किसी समुदाय के मस्तिष्क को गढ़ता है । वस्तुतः ब्राह्मण वही हैं जो जनमानस के चिंतन को स्पर्श कर उसे प्रभावित कर सकने में सक्षम हों ।

प्रौढ़ शिक्षा को समर्पित श्रीमती बेल्टी फिशर अमेरिका के संपन्न परिवार में जन्मीं । उनका कंठ अत्यंत मधुर था । वादन और नृत्य कला भी उनसे सीख ली । रंगमंच के क्षेत्र में उनका खूब स्वागत हुआ । किन्तु वहाँ के वातावरण से उन्हें गहरी घृणा हो गई और उनसे उन लाभों को लात मार दी ।

उनका मन पिछड़ों की सेवा में लग रहा था । इसके लिए वे पहले चीन गईं, फिर भारत आईं । गांधी जी के संपर्क ने उन्हें बहुत प्रभावित किया । दौरा करके देश का पिछड़ापन भी उनसे देखा और जाना कि उनका उद्धार बिना शिक्षा वृद्धि के संभव नहीं ।

वे विधवा हो गई थीं, इसलिए परिवार की भी कोई जिम्मेदारी उन पर न थी । लखनऊ में उन्होंने अपना शिक्षा प्रसार केन्द्र बनाया और घर-घर घूमकर उनसे प्रौढ़ शिक्षा का प्रबंध किया । जो लोग शिक्षा का महत्व नहीं समझते, वे सहज ही उस लाभ से लाभान्वित होने के लिए भी सहमत नहीं होते । इन कठिनाइयों के बीच भी उनसे असाधारण सफलता पाई । वे ८० वर्ष की आयु तक जीवित रहीं । इस बीच उनसे दो लाख से अधिक निरक्षरों को साक्षर बनाया । उनके कार्य को फोर्ड फाउंडेशन तथा उ.प्र. सरकार से भी सहायता मिली ।

विनोबा का भूदान आंदोलन हैदराबाद के ललगोड़ा इलाके में मची हुई मारकाट को दूर करने के लिए संत विनोबा ने वहाँ से भूदान आंदोलन आरंभ किया । उदारमना लोगों ने अपनी जमीनें देना आरंभ किया । सबसे पहले विनोबा की पुकार पर जमींदार रामचंद्र रेड्डी ने अपनी फालतू जमीन दी । इसके बाद वह सिलसिला चल पड़ा और भूदान से एक लाख एकड़ जमीन तक दान में मिली । इसी को कहते हैं अच्छे कार्य का शुभारंभ । आज इसी की परिणति स्वरूप हजारों भूमिहीन अपनी जमीन पर खेती कर गुजर-बसर कर रहे हैं ।

नारियल का उद्यान मेवाड़ में यदि चिंतन सृजनात्मक हो तो गतिविधियाँ भी उसी दिशा में चल पड़ती हैं । मेवाड़ के किसान बालक नक्षत्र सिंह को पुस्तकों में, चित्रों में छपे नारियल के पेड़ बड़े सुंदर लगते थे । स्कूल की पढ़ाई पूरी करते-करते उसे लगा कि अपने खेतों में नारियल के बगीचे क्यों न लगाए जाँय । मिट्टी की जाँच कराई, तो वह इसके लिए बिलकुल उपयुक्त पड़ी । आसानी से लगा सकने वाला यह आरोपण उधर रिवाज न होते हुए भी उसने हठपूर्वक कर डाला । बिना सिंचाई के झंझट वाला अधिक आमदनी देने वाला यह व्यवसाय दूसरों को भी बहुत सुहाया और वह समूचा इलाका 'मिनी दक्षिण भारत' बन गया । हजारों किसान की तरह उसका पुरुषार्थ सबके द्वारा सराहा गया ।

संत चिकित्सक रायपुर जिले के एक गाँव में जन्मे थे शरण प्रसाद । बचपन में पढ़ते समय प्राकृतिक चिकित्सा का साहित्य पढ़ा और मन में आया कि उस विद्या में स्वयं प्रवीण होना चाहिए और दूसरों को लाभान्वित करना चाहिए ।

वे घर से निकल पड़े । गन्ने का रस निकालने से लेकर लकड़ी चीरने, रसोई बनाने आदि के श्रम से निर्वाह करते हुए उनसे देशभ्रमण किया और प्राकृतिक चिकित्सालयों में जा पहुँचे । बालकोवा भावे ने उनके स्वभाव और ज्ञान को बहुत पसंद किया और वहीं रख लिया । वे आश्रम का हर छोटा-बड़ा काम करते, अध्ययन बढ़ाते और रोगियों की चिकित्सा में रस लेते । अंततः वे प्राकृतिक चिकित्सा के मान्य डॉक्टर बन गए ।

कुछ वर्ष आश्रम में रहकर उनका मन आया कि इस ज्ञान की जानकारी जन-जन को करानी चाहिए । वे चल पड़े और प्राकृतिक चिकित्सा के अनेक शिविर लगाते रहे । इसी पुण्य कार्य में निरत रहकर एक संत चिकित्सक की तरह उनसे अपना जीवन समाप्त किया ।

राममूर्ति का व्यायाम आंदोलन उन्नीसवीं सदी के प्रारंभ में प्रो. राममूर्ति के सर्कस की बड़ी धूम थी । इसमें वे मानवी बलिष्ठता का प्रदर्शन करते थे । कोई कला या जादूगरी उसमें न थी । छाती पर चट्टानें रखकर हथौड़ों से तुड़वाना, सीने पर से हाथी निकालना, हाथों से हाथी उठा लेना जैसे



पराक्रम उनकी शारीरिक बलिष्ठता के चिह्न थे। यह शिक्षा उनसे अपनी पत्नी ताराबाई को भी दी और वह भी सर्कस में अपना रोल निभाने लगीं।

राममूर्ति नट नहीं थे, वरन् व्यायाम-विशारद थे। वे बताया करते थे कि उनसे अपने गए-बीते स्वास्थ्य को आहार-विहार तथा संयम के आधार पर कैसे सुधारा। इस प्रक्रिया को अपनाने वाला कोई भी व्यक्ति अपने को सबल बना सकता है।

सर्कस से प्रभावित लोगों को वे अपने साथ काम करने के लिए आमंत्रित करते थे तथा व्यायामशालाएँ खुलवाने की गुरु दक्षिणा माँगते थे। उनके प्रयास से उन दिनों देश में व्यायाम आंदोलन की एक नई हवा चली थी।

यह धन भी फ्रांस की पेस्टो नामक संस्था में डॉ० रू ने कठिन परिश्रम करके बच्चों को गले में होने वाले दर्द की एक दवा खोज निकाली।

समाज का इस खोज के लिए डॉ० रू को ४ हजार पौंड का इनाम दिया गया, पर डॉ० रू ने यह इनाम खुद के लिए न रखकर पेस्टो संस्था को प्रदान कर दिया।

यह देखकर इनाम देने वाले श्रीमान् ने डॉ० रू से पूछा-“आपने इनाम अपने उपयोग में क्यों नहीं लिया?”

डॉ० रू ने विनयपूर्वक कहा-“इस संस्था में रहकर मैंने प्रयोग और शोध कार्य किया है। इस संस्था के कारण ही आज मैं इस लायक बन सका हूँ। संस्था को पैसे की कमी तो हर समय महसूस हुआ ही करती है। पैसे की कमी के कारण संस्था कभी बंद न हो जाय, इसलिए मैंने यह रकम अपने लिए न रखकर संस्था को दे दी। संस्था के लिए आमदनी के स्रोत बहुत कम हैं।”

डॉ० रू का यह उत्तर सुनकर इस करोड़पति श्रीमान् ने उस समय तो कुछ नहीं कहा, पर मरते समय उन्होंने पेस्टो संस्था को साढ़े बारह लाख पौंड भेंट किए और जाते समय बसीयत लिख गए। जिस संस्था के कार्यकर्ता इतने उदार हृदय हैं, वह संस्था भी महान् होनी चाहिए।

भारत की सेवा न्यूजीलैंड की कुमारी डायना वालेसी उच्च शिक्षित और सुसंपन्न थीं। उन्हें पर्यटन का शौक था। हर साल संसार के मनोरम स्थानों को देखने के लिए वे प्रचुर धन व्यय करती थीं। बड़े होटलों में ठहरती थीं। तब उनकी आँखों में सुसंपन्न संसार का ही नक्शा था।

हेतु सुविधाएँ एक प्रवास में वे भारत भी आईं। यहाँ के शहरों की स्थिति और देहातों की दशा में जमीन-आसमान जैसा अंतर देखा। लौटती तो उनका विचार बदल गया और उन्होंने भारत जैसे पिछड़े देश की सेवा करने की ठान ठानी।

त्यागी वे न्यूजीलैंड छोड़कर भारत आ गईं और वे बंबई के निकट एक देहात में बस गईं। उनसे सारे देश की सेवा करते तो न बन पड़ी, पर एक आदर्श उपस्थित किया कि संपन्न लोग यदि निर्धनों को अपने परिवार में सम्मिलित कर लें, तो समस्या सहज ही हल हो सकती है। डायना ने विवाह नहीं किया, पर निर्धनों के बच्चे गोद लेकर उन्हें सुयोग्य बनाना आरंभ कर दिया। बंबई में श्रम करके आजीविका कमा लेती थीं और गोद लिए बच्चों के भरण-पोषण में तल्लीन होकर प्रसन्न रहती थीं। वे आजीवन यहीं रहीं।

फ्रांस की दूसरी जॉन ऑफ आर्क का नाम फ्रांस की जनता की जीभ पर से उतरने न पाया था कि उसी भूमि पर एक और देवी प्रकट हो गई। वह थी ‘सराह’। उन दिनों लोकरंजन का कार्य ‘नाटक’ ही करते थे। सिनेमा का युग आरंभ नहीं हुआ था। देवी सराह ने नाटक क्षेत्र में प्रवेश किया। वह ड्रामे लिखती भी थीं और अभिनय भी करती थीं। सभी के विषय आदर्शों से भरे-पूरे होते थे। उसने जन जागरण, प्रगति, आदर्श, देश भक्ति यही सब अपने विषय रखे।

देवी ‘सराह’ वे सिनेमा के नायकों की तरह सुंदर न थीं। सिनेमा अभिनेत्रियों की उछल-कूद प्रायः २० वर्ष काम देती है। इसके बाद वे दूध में से मक्खी की तरह निकाल फेंकी जाती हैं, पर सराह ६१ वर्ष तक अपना काम मुश्तैदी से करती रहीं।

उन्हें जीवन प्यारा था, पर वे मृत्यु को और भी अधिक प्यार करती थीं। मृत्यु से लेकर दफन होने तक का एक रिहर्सल उनसे भली प्रकार अभ्यास में उतार लिया था। यूरोप भर के मूर्धन्य लोग उसे देखने



आया करते और अत्यंत प्रभावित होते ।

सराह थी तो अभिनेत्री पर वस्तुतः उनकी गणना फ्रांस के नव निर्माण की दिशा देने वालों में होती है । उन्हें युग की संदेशवाहिका माना गया ।

शराब छुड़ाई नशा निवारण, दुष्प्रवृत्ति उन्मूलन जैसे कार्यों के लिए भी संत समुदाय को ही आगे आना चाहिए । संत इब्राहिम बिन अदम एक बार कहीं जा रहे थे । उन्होंने देखा कि रास्ते में एक शराबी पड़ा हुआ है, उसके कपड़े मिट्टी से लथपथ हैं और मुँह कीचड़ से सना है । यह देखकर संत बोले—“जिस मुँह से खुदा का नाम लिया जाता है, उसे इस हालत में नहीं रहना चाहिए ।” और उन्होंने पास ही कहीं से पानी लाकर शराबी का मुँह धो दिया । जब शराबी को इस बात का पता चला तो उस पर बड़ा असर पड़ा । उसने शराब न पीने की प्रतिज्ञा की और वह सुधर गया ।

मूल्य चुकाइए स्वामी रामतीर्थ उन दिनों अमेरिका के दौर पर थे । अनेक स्थानों पर गोष्ठियों तथा प्रवचनों का आयोजन हो रहा था । भारतीय संस्कृति के अमूल्य सिद्धांतों की व्यख्या से अमेरिका निवासी बड़े प्रभावित हो रहे थे । एक दिन स्वामी जी का प्रवचन समाप्त होने पर एक महिला आई और विषादयुक्त वाणी में अपने विचार व्यक्त करने लगी । “स्वामी जी ! मेरे एक ही पुत्र था । थोड़े दिन पूर्व उसकी मृत्यु हो गई । मैं विधवा हूँ । किसी भी तरह चित्त को शांति नहीं मिलती । जीवन में निराशा ही निराशा दिखाई देती है । आप कोई ऐसा उपाय बताइए, जिससे मेरे जीवन को शांति मिल सके ।” “अपको शांति की पुनः प्राप्ति हो सकती है और अपने जीवन में आनंद का अनुभव कर सकती हैं । पर हर वस्तु का मूल्य चुकाना पड़ता है । क्या आप सुख-शांति की पुनः प्राप्ति हेतु कुछ त्याग करने को तैयार हैं ?”

“बस आपके आदेश देने की देर है । मैं अपना सर्वस्व न्योछावर करने को तैयार हूँ ।” “पर इतना ध्यान रखना कि आपके देशवासी भौतिक वस्तुओं पर अधिक ध्यान देते हैं । वहाँ डालर और सेंट के त्याग से काम नहीं चलेगा । यदि आप सचमुच तैयार हैं, तो मैं कल स्वयं ही आपके निवास स्थान पर उपस्थित होऊँगा ।” दूसरे दिन स्वामी रामतीर्थ एक हब्शी बालक को अपने साथ लेकर उस महिला के घर पहुँचे । बिजली का बटन दबाया । घंटी बजी, दरवाजा खुला और वह महिला सामने आ खड़ी हुई । “स्वामी जी ! आपने बड़ी कृपा की, जो मेरे घर पधारे ।” “माता ! यह रहा तुम्हारा पुत्र । अब इसके सुख-दुःख का ध्यान रखना और पालन-पोषण करना तुम्हारे ऊपर निर्भर करता है ।” उस काले लड़के को देखकर वह महिला सिहर उठी—“स्वामी जी ! यह हब्शी बालक मेरे घर में प्रवेश कैसे कर सकता है ? गोरी माँ काले लड़के को अपना पुत्र कैसे बना सकती है ?”

“माँ ! यदि इस बालक के लालन-पालन में आपको इतनी कठिनाई अनुभव हो रही है, तो सच्चे सुख और शांति को प्राप्त करने का मार्ग तो और भी कठिन है ।”

सबसे बड़ा सुख याकूब ने सुना था संत तालसुद पहुँचे हुए फकीर हैं । उनकी दुआ से दुःखी लोग भी आनंदित होकर आते हैं । सो याकूब उन्हें खोजता-ढूँढ़ता एक वियावान में जा पहुँचा । वे एक टोकरी में दाना लिए चिड़ियों को चुगा रहे थे । उनकी प्रसन्नता भरी फुदकन और चहचहाहट को देखते हुए आनंदविभोर हो रहे थे । याकूब बहुत देर बैठा रहा, पर जब संत का ध्यान ही उसकी ओर न गया तो झलझलाया ।

तालसुद ने उसे उँगली के इशारे से पास बुलाया और हाथ की टोकरी उसके हाथ में थमाते हुए कहा—“लो अब तुम चिड़ियाँ चुगाओ और उनकी प्रसन्नता देखकर स्वयं आनंद लो ।” फिर थोड़ा गंभीर स्वर में बोले—“अपना दुःख भूलकर दूसरों को जहाँ तक संभव हो आनंद की अनुभूति दे पाना, उनके दुःख के क्षणों में स्वयं को उनका सहभागी बना लेना ही संसार की सबसे बड़ी सेवा है । मैंने जीवन भर यही किया है । तुम भी यही करो व जीवन धन्य बनाओ ।”

उनकी जीवन गाथा लिखें एक प्रसिद्ध लेखिका मद्रास के मुख्यमंत्री का जीवन चरित्र विस्तार से लिखना चाहती थी । इसके लिए उनसे कई प्रश्न पूछने आई थी । मुख्यमंत्री ने कई समाजसेवियों के नाम गिनाए और कहा—“इनमें से किसी का जीवन चरित्र लिखें । मुझे तो मेरी सेवाओं का पुरस्कार मिल गया । आप उनकी जानकारी जनता को कराएँ, जिनकी ख्याति अभी तक नहीं हुई है ।” लेखिका ने वैसा ही किया ।



अवाञ्छनीयतास्ताश्च कर्तुमुन्मूलिताः स्वयम् ।
सशक्ताक्रोशसंघर्षविरोधानामपि स्थितिम् ॥ ८७ ॥
उत्थितां कर्तुमर्हास्ते शास्त्रमेककरे तथा ।
शस्त्रं तिष्ठति विप्राणां करे येषां द्वितीयके ॥ ८८ ॥

भावार्थ—हर क्षेत्र में पनपने वाली अवाञ्छनीयताओं का उन्मूलन कर सकने वाला आक्रोश, विरोध एवं संघर्ष खड़ा करना भी उन्हीं का काम है । ब्राह्मण के एक हाथ में शास्त्र और दूसरे में शस्त्र रहता है ॥ ८७-८८ ॥

व्याख्या—जहाँ समाज में श्रेष्ठता है, वहाँ निकृष्टता भी व्यापती है । ब्राह्मण वर्ग का कर्तव्य है—अपने मनु को जगाना एवं अनीति के विरुद्ध संघर्ष करना । मात्र शास्त्र वचनों की दुहाई देनी ही पर्याप्त नहीं, व्यक्ति में दुष्टता के विरुद्ध असहयोग, विरोध एवं संघर्ष कर सकने का साहस भी अपेक्षित है । इसके अभाव में तो वह पुण्यत्वहीन शरीरधारी भर है, जिसका अस्तित्व नहीं के समान है । ब्राह्मण का दायित्व है—अपना ही नहीं, सारे समुदाय की रक्षा करना, इसके लिए जनमानस में मनोबल भरना एवं अपने कर्तव्यों द्वारा उदाहरण प्रस्तुत करना ।

निसिचर हीन करउँ महि भगवान् राम अनीति के विरुद्ध सतत् संघर्षरत रहे ।
उनकी करुणा और कठोरता की झलक एक साथ ही रामायण के इस प्रसंग में मिलती है ।
हड्डियों का ढेर देखकर श्रीराम उसका विवरण पूछते हैं । जब यह मालूम होता है निशाचरों ने ऋषियों को खा डाला है, यह उन्हीं की हड्डियों का ढेर है, तो राम की आँखों में आँसू आ गए । वे दीन, दुर्बल, असहायों के आँसू न थे । उन्होंने तत्काल प्रतिकार का निश्चय किया और हाथ उठा शपथपूर्वक प्रतिज्ञा की, कि इस पृथ्वी को असुर विहीन करूँगा । इस संघर्ष के अतिरिक्त उन्होंने ऋषियों के कष्ट निवारण के लिए सहायता की भी व्यवस्था की । धर्म की स्थापना, अधर्म का विनाश ही यह उभयपक्षीय उपक्रम है—

अस्थि समूह देखि रघुराया । पूछी मुनिन्ह लागि अति दाया ॥
निसिचर निकर सकल मुनि खाए । सुनि रघुवीर नयन जल छाए ॥
निसिचर हीन करउँ महि, भुज उठाइ प्रन कीन्ह । सकल मुनिन्ह के आश्रमहि जाई—जाई सुख दीन्ह ॥
वे तो खर-दूषण जैसे दुष्टों को खोज-खोज कर मारने में ही अपने क्षत्रिय धर्म की पूर्ति मानते हैं । कहते हैं—
हम क्षत्री मृगया बन करहीं । तुम्ह सम खल मृग खोजत फिरहीं ॥
रिपु बलवान देखि नहि डरहीं । एक बार कालहु सन लरहीं ॥

भगवान् राम की परंपरा को ही ऋषियों ने भी आगे बढ़ाया ।

भगवान् परशुराम ने अपनी प्रखरता अनीति उन्मूलन के निमित्त गतिशील की । दूसरे, मात्र धर्म चर्चा और पुण्य अर्जन की बात सोचते थे, किंतु उनसे साक्षात् अनीति के प्रचंड रहते धर्म पनपेगा ही नहीं । इसलिए उन्होंने तप करके फरसा प्राप्त किया और उससे सहस्रबाहु जैसे समर्थों को धराशायी बनाकर रख दिया । आज मूढ़ मान्यताएँ, कुरीतियाँ, अवाञ्छनीयताएँ मिल-जुलकर वातावरण को अनीतिमय विषाक्त बनाए हुए हैं । सर्वभक्षी अनाचार सहसाहु बनकर खड़ा है । उसके विरुद्ध भी वैसे ही संघर्ष की आवश्यकता है ।

शास्त्र भी— द्रोणाचार्य धर्म शास्त्रों में प्रवीण पारंगत थे । पर वे शास्त्र अध्ययन के अतिरिक्त शस्त्र विद्या में भी कुशल थे । उनमें प्रवीणता प्राप्त करने के लिए उनसे तप-साधना, भक्ति-भावना से भी अधिक श्रम किया था । वे शास्त्र-संचालन का सत्पात्रों को शिक्षण देने के लिए भी एक साधन संपन्न विद्यालय चलाते थे ।

एक दिन धौम्य ऋषि द्रोणाचार्य के आश्रम में जा पहुँचे, आचार्य को स्वयं शस्त्र धारण किए और दूसरों को शस्त्र संचालन पढ़ाते देखकर उन्हें आश्चर्य हुआ और बोले—“संतों को तो दया धर्म अपनाना और भक्ति भावना का प्रचार करना ही उचित है । आप रक्तपात की व्यवस्था क्यों बता रहे हैं ?” उनसे कहा—“यह परिस्थितियों की माँग है । सज्जनों को सत्संग से, सत्परामर्श से समझा कर रास्ते पर लाया जा सकता है । इसलिए हम पहले उसी का प्रयोग करने के लिए कहते हैं । किंतु सपौ, बिच्छुओं, भेड़ियों पर धर्म शिक्षा का कोई प्रभाव नहीं पड़ता । उनका मुँह कुचलने की शक्ति का होना आवश्यक है । इसके बिना उनकी दुष्टता रुकती नहीं ।” धौम्य का समाधान हो गया ।

अध्याय द्वितीय)

(१०५)



द्रोणाचार्य की मान्यता स्वयं उनके शब्दों में ही इस प्रकार है—

अग्रतश्चतुरो वेदाः पृष्ठतः स शरंधनुः । इदं ब्राह्मं इदं क्षात्रं शास्त्रादपि शरादपि ॥

अर्थात्, “मुख से चारों वेदों का प्रवचन करके और पीठ पर धनुषबाण लेकर चला जाय । ब्रह्म शक्ति और शस्त्र शक्ति दोनों ही आवश्यक हैं । शास्त्र से भी और शस्त्र से भी धर्म का प्रयोजन सिद्ध करना चाहिए ।”

चाणक्य का वेद धर्म में जहाँ व्यक्तिगत सदाचरण की महत्ता है, वहाँ देवासुर संग्राम का भी अत्यंत उत्साह भरा विवरण है । अनीति के विरुद्ध आक्रोश की ‘मन्यु’ नाम से प्रतिष्ठा है ।

व्यवहार दर्शन बुद्ध की अहिंसा, गृहत्याग, भिक्षाटन को तो उनके उपरान्त लोगों ने ध्यान रखा, पर यह भूल गए कि अनीति के विरुद्ध लोहा भी आवश्यक है । ऐसे अवसर आने पर लोग दया, क्षमा का आवरण ओढ़कर कायर बनते जा रहे थे ।

जनमानस की यह स्थिति देखकर मध्य एशिया के आक्रांताओं की हिम्मत सौ गुनी हो गई । मुट्ठी भर डाकुओं के काफिले ला-लाकर उनसे सारे देश को रौंद डाला । सोमनाथ जैसे देवालियों को नष्ट किया और देव का वैभव ऊँटों के काफिले लाद-लाद कर ले गए । वे लगातार हमले पर हमले करते रहते और प्रतिरोध के लिए मुट्ठी भर लोग ही आगे आने पर वे जीत पर जीत हस्तगत करते गए । स्थिति को उलटने के लिए चाणक्य ने व्यवहार दर्शन अपनाया और चंद्रगुप्त, स्कंदगुप्त को रणनीति से प्रशिक्षित किया तथा मार्गदर्शन करते हुए लड़ाया ।

चाणक्य स्वयं संत थे । नगर से दूर कुटिया में रहते थे, पर दुष्टता के प्रतिरोध में वे कूटनीतिज्ञ भी थे । नंद-वंश को उन्होंने ठिकाने लगाया । निजी जीवन में अपरिग्रही रहते हुए नालंदा विश्वविद्यालय के संचालन के लिए करोड़ों का धन जुटाया ।

समर्थ समर्थ गुरु ने पलायनवादी, भाग्यवादी मान्यताओं को उलटा । अहिंसा का अतिवाद भी नहीं अपनाया, वरन् संव्यास अनाचार के विरुद्ध संघर्ष का लोक मानस तैयार किया । दूरदर्शिता और यथार्थता भी इसी प्रतिपादन में सन्निहित थी ।

राणा साँगा महाराणा साँगा उदयपुर के शासक थे । अपनी शौर्य-शक्ति के लिए वे प्रसिद्ध थे । अपने देश, धर्म और संस्कृति की वे थोड़ी-सी भी हानि नहीं देख सकते थे । आक्रमणकारी, अनाचारियों के विरुद्ध लड़ने वाले राणा साँगा ने बाबर के साथ युद्ध किया था । अपने शरीर में ८० घाव होते हुए भी वे डटकर लड़ाई लड़ते रहे और जब तक दम में दम रहा, धर्मयुद्ध से पीछे नहीं हटे ।

अंत तक लड़ते रहे चित्तौड़ के शासक राणा प्रताप ने मुगलों से लड़ाई जारी रखी । मुगलों ने असली कूटनीति के सहारे एक-एक करके राजपूतों को अपनी ओर फोड़ लिया था । छोटे-बड़े प्रलोभन देकर अपना सहायक बना लिया था, पर इस जाल में राणा प्रताप नहीं फँसे । उनसे अपनी लड़ाई को देश की स्वाधीनता का युद्ध माना और उस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए अंतिम साँस तक लड़ते रहने का प्रयत्न किया । उनसे अपना सैनिक वनवासियों को बनाया । राजपूत तो विलास लूटने के लिए झंझट से बचने की नीति अपना चुके थे ।

राणा प्रताप की युद्ध छापानियाँ तथा रसद भंडार पहाड़ी गुफाओं में रहते थे और वे ऊपर से नीचे वालों को धराशायी करते रहते । कई बार उन्हें रोटी-कपड़े के लाले पड़े । तब भामाशाह जैसे उदारचेताओं ने अपनी सारी संपत्ति उनके चरणों पर रख कर संग्राम जारी रखने की सुविधा उत्पन्न की । राणा प्रताप ने अपना प्रण मरते दम तक निबाहा और मुगलों को पीछे हटने के लिए बाधित किया ।

छत्रपति शिवाजी की रणनीति औरंगजेब ने शिवाजी के पास कितने ही संधि संदेश भेजे और महाराष्ट्र का एक इलाका जागीर रूप में देने का प्रलोभन दिया, पर शिवाजी उन समस्त प्रस्तावों को अस्वीकृत करते रहे । उन्हें देश की लड़ाई लड़नी थी और आक्रमणकारियों के दाँत खट्टे करने थे ।

शिवाजी के पास नियमित सेनाएँ कम थीं, इसलिए सामने की लड़ाई लड़ना उनके लिए कठिन था । उनसे छापामार लड़ाई लड़ी । दुश्मन का मोर्चा, जहाँ भी कमजोर देखते, वहीं अपने छापामारों द्वारा चीते की तरह टूट पड़ते और उन्हीं की रसद तथा हथियार छीनकर अपना काम चलाते ।

शिवाजी ने इस नई रणनीति का आविष्कार करके संसार के क्रांतिकारियों और अनीति से लड़ने वालों को



छापामार लड़ाई का सिद्धांत समझाया। सभी ने उनकी रणनीति की प्रशंसा की और औरंगजेब को लगातार पीछे हटने के लिए विवश कर दिया।

प्रचलन को उन दिनों संत समुदाय कथा-कीर्तन द्वारा भगवान् को प्रसन्न करने के फेर में था। कहा जाता था, कि देश में आतंक-अनाचार भी भगवान् की इच्छा से बढ़ा है और वे जब चाहेंगे, तभी यह विपन्नता उलटा

मिटेगी। इसलिए सब छोड़कर कीर्तन पर ही जुट पड़ना चाहिए और अपरिग्रह-उपवास आदि से लोक-श्रद्धा को अपने काबू में रखना चाहिए। स्थिति की गंभीर समीक्षा करके बंदा वैरागी इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि वातावरण की सफाई करनी चाहिए और जो उचित है, उसके लिए, न केवल उपदेश करना चाहिए, वरन् अपना उदाहरण भी प्रस्तुत करना चाहिए। यही उनने किया। वे संस्कृति की रक्षार्थ शहीद हो गए, किन्तु कभी झुके नहीं।

गुंडों का राजकोट आंदोलन के समय गांधी जी की सभा में भारी भीड़ होती थी। सरकारी अफसर इसमें बिघ्न डालना चाहते थे। उनने गुंडों की एक मंडली झगड़ा करने और गांधी जी को चोट पहुँचाने के लिए सामना

भेजी। सभा समाप्त होने पर गांधी जी मोटर से जाने वाले थे। झगड़ा बढ़ते देखकर वे उतर पड़े और गुंडों को बुलाकर कहा—“मैं सामने हूँ, जो चाहे करें। वे सन्न रह गए और चुपचाप एक-एक करके खिसक गए।”

मौत तक का गांधी जी चंपारन जिले में नील के व्यापारी गोरों के विरुद्ध आंदोलन चला रहे थे। गोरों बहुत चिढ़े हुए थे और कहते थे कि गांधी मिले, तो उसको गोली मार दें।

डर नहीं जो गौरा बहुत दुष्ट था, एक दिन गांधी जी अकेले उसकी कोठी पर जा पहुँचे और कहा—“मेरा ही नाम गांधी है। आप मार डालने की बात कहते थे। मैं अकेला हूँ, आप चाहें, तो मार सकते हैं।”

गौरा इस साहसिकता पर दंग रह गया और अपने कथन पर माँफ़ी माँगी।

अन्याय नहीं साधु होने का अर्थ यह नहीं कि शांत बैठे अनीति सह ली जाय व सब कुछ भगवान् के भरोसे छोड़ दिया जाय।

सहूँगा देवरिया स्टेशन की बात है। कितने ही मुसाफिर ट्रेन में बैठने के लिए इधर-उधर भाग रहे थे, पर सब भरे होने के कारण उन्हें खड़े होने की भी जगह नहीं मिल पा रही थी। उन्हीं में से एक बाबा राघवदास जी थे। उन्होंने देखा, एक डिब्बे में केवल चार गोरखा सिपाही बैठे हैं। एक दरवाजे पर खड़ा खुखरी हिलाकर लोगों को भीतर नहीं चढ़ने दे रहा था। फिर क्या था, लपककर चढ़ गए उसी में और बोले—“मार दो मेरी छाती में खुखरी, पर मैं अन्याय सहकर जीने वाला नहीं हूँ।” साथ ही साधियों से बोले—“देखते क्या हो, चढ़ आओ भीतर।” देखते ही देखते सारा डिब्बा भर गया। सिपाही सिटपिटाते हुए, उन्हें देखते ही रह गए।

नहीं चिनगारी “नहीं—सी चिनगारी, तुम भला मेरा क्या बिगाड़ सकती हो, देखती नहीं, मेरा आकार ही तुमसे हजार गुना बड़ा है। अभी तुम्हारे ऊपर केवल गिर पड़ूँ, तो तुम्हारे अस्तित्व का पता न लगे”—तिनकों का ढेर अहंकारपूर्वक बोला।

चिनगारी बोली कुछ नहीं, चुपचाप ढेर के समीप जा पहुँची। तिनके उसकी आग में भस्मसात् होने लगे। अग्नि की शक्ति ज्यों-ज्यों बढ़ी, तिनके त्यों-त्यों जलकर नष्ट होते गए। देखते-देखते भीषण रूप से आग लग गई और सारा ढेर राख में परिवर्तित हो गया।

यह दृश्य देख रहे आचार्य ने अपने शिष्यों को बताया—“बालको ! जैसे आग की चिनगारी ने अपनी प्रखर शक्ति से तिनकों का ढेर खाक कर दिया, तेजस्वी और क्रियाशील एक व्यक्ति ही सैकड़ों बुरे लोगों से संघर्ष में विजयी हो जाता है।”

‘न’ तो कहिए चाहे कैसी भी परिस्थितियाँ आएँ, जूझने का साहस होना चाहिए। एक था राक्षस। उसने एक आदमी पकड़ा। खाया नहीं। डराया और कहा—“मेरी मर्जी के कामों में निरंतर लगा रह। ढील की, तो खा जाऊँगा।” आदमी से जब तक बस चला, तब तक काम करता रहा। जब थक कर चूर-चूर हो गया और आजिज आ गया, तो उसने सोचा, तिल-तिल कर मरने से, तो एक दिन पूरी तरह मरना अच्छा। उसने राक्षस से कह दिया—“जो मर्जी हो, सो करें, इस तरह मैं नहीं करते रह सकता।” राक्षस ने



सोचा-“काम का आदमी है । थोड़ा-थोड़ा काम बहुत दिन करता रहे, तो क्या बुरा है ? एक दिन खा जाने पर तो उस लाभ से हाथ धोना पड़ेगा, जो उसके द्वारा मिलता रहता है ।”

राक्षस ने समझौता कर लिया और खाया नहीं, थोड़ा-थोड़ा काम करते रहने की मान ली ।

कथासार यह है-“हममें ‘न’ कहने की भी हिम्मत होनी चाहिए । गलत का समर्थन नहीं करूँगा, उसमें सहयोग नहीं दूँगा ।” जिसमें इतना भी साहस न हो, उसे सच्चे अर्थों में मनुष्य नहीं माना जा सकता ।

भ्रमन्ति नररूपेण पशवो बहवो भुवि ।
मनुष्योचितकर्तव्यादर्शयुक्ता भवन्तु ते ॥ ८९ ॥
इत्येव वर्तते मुख्यं लक्ष्यं वै देवसंस्कृतेः ।
स्वस्थाश्रमव्यवस्थाऽथ परिष्कृतसुरालयाः ॥ ९० ॥
तीर्थान्यपि भवन्त्यत्र लक्ष्यस्यास्यैव पूर्तये ।
माध्यमैरभिरेवेयं विश्वं व्याप्नोच्य संस्कृतिः ॥ ९१ ॥
इमान् परिष्कृतान् पूर्णजीवितान् कर्तुमत्र च ।
सन्ततमृषिवर्गस्य कार्यमस्ति महत्तरम् ॥ ९२ ॥
इदं ज्ञातव्यमस्माभिः पूर्णरूपेण चान्ततः ।
व्यवस्थित समाजं च कर्तुमार्गोऽयमस्ति वै ॥ ९३ ॥

भावार्थ-मनुष्य रूप में पशु तो बहुत फिरा करते हैं । उन्हें मनुष्योचित कर्तव्यों, आदर्शों से युक्त रखना देवसंस्कृति का प्रधान उद्देश्य है । स्वस्थ वर्णाश्रम व्यवस्था, परिष्कृत देवालय एवं तीर्थ तंत्र इसी उद्देश्य पूर्ति के लिए होते हैं । इन्हीं माध्यमों से देवसंस्कृति विश्वव्यापी बनी थी । इन्हें जागृत और परिष्कृत रखने का कार्य ऋषि तंत्र का ही है और यह हमें भली प्रकार समझ लेना चाहिए कि अंततः समाज को व्यवस्थित करने के लिए यही मार्ग है ॥ ८९-९३ ॥

व्याख्या-सत्र के समापन पर महर्षि आदर्शनिष्ठा एवं सत्प्रवृत्ति संवर्द्धन की मानवी विकास हेतु अनिवार्यता बताते हुए ऋषितंत्र की भूमिका स्पष्ट करते हैं । यही सतयुग का मूल आधार है । देवसंस्कृति के पुनर्जीवन बिना उन मूल्यों की प्रतिष्ठापना किए बिना यह उच्चस्तरीय लक्ष्य प्राप्त नहीं हो सकता ।

रामराज्य का मूल आधार महाकवि भवभूति रचित उत्तररामचरितम् का एक मार्मिक प्रसंग है । श्रीराम राक्षसों का दमन करके अयोध्या वापस लौट आए थे । रामराज्य की स्थापना की जा चुकी थी । महर्षि वशिष्ठ के मार्गदर्शन में राजतंत्र एक आदर्श व्यवस्था का प्रयोग कर रहा था ।

उसी बीच शृंगी ऋषि ने एक विशेष यज्ञ का अनुष्ठान किया । रामराज्य की स्थापना के लिए सूक्ष्म वातावरण निर्माण तथा ऋषियों को योजनाबद्ध रूप से सक्रिय करने के लिए राजतंत्र से परे, धर्मतंत्र के ही संरक्षण में यह यज्ञानुष्ठान प्रारंभ किया गया था । कार्य की महत्ता देखते हुए, महर्षि वशिष्ठ ने उस यज्ञ के संरक्षण का दायित्व स्वीकार कर लिया । शृंगी ऋषि जामाता भी थे ।

जब यज्ञ प्रारंभ किया गया था, तब उसे अधिक लंबी अवधि तक चलाने की आवश्यकता नहीं दीखती थी । महर्षि उसके संरक्षणार्थ अरुंधती सहित अयोध्या से वहाँ चले गए । अपनी अनुपस्थिति की अवधि के लिए अयोध्या के तंत्र को आवश्यक निर्देश आदि भी दे गए थे । परंतु उपयोगिता तथा जन उत्साह के कारण यज्ञ की अवधि बढ़ती गई । ऋषि को अयोध्या की चिंता हुई । उन्होंने श्रीराम को एक व्यक्तिगत संदेश लिखा-

जामातृयज्ञेन वयं निरुद्धाः, त्वं बाल एवाऽसि नवं च राज्यम् ।

युक्तं प्रजानामनुरंजनेभ्यः, तस्माद् यशः यत्परमं धनं वः ॥

अर्थात्, -“हम जामातृ के यज्ञ में रुककर रह गए हैं । तुम बालक जैसे ही हो और राज्य नया-नया है । प्रजा के कल्याण का विशेष ध्यान रखना, उससे युक्त रहना । उसी में तुम्हारा यश है और हमारे लिए वही परं-सर्वश्रेष्ठ संपत्ति है ।”

ऋषि विकल हैं, राम भले ही लंका विजय करके आए हैं, किन्तु लोकमंगल के प्रयोगों का उन्हें अनुभव नहीं है। इसलिए ऋषि उन्हें बालकवत् मान रहे हैं। ऋषि को ऐसा मानने का अधिकार भी है। एक तो व्यवस्था करने वाला अनुभवहीन तथा नई-नई व्यवस्था। एक बार दरी घूम जाए, तो फिर चलने को, तो कोई भी चलाता रह सकता है, पर नए तंत्र में तो पग-पग पर विवेकपूर्ण, अनुभवसिद्ध निर्णय लेने पड़ते हैं। इस स्थिति का सही विवेचन करते हुए, ऋषि श्रीराम को स्नेह भरा निर्देश देते हैं कि प्रजा के हित के सतत् जुड़े रहना। उसे ही वे अपनी प्रधान संपत्ति मानते हैं। तंत्र को प्रजा के हित की चिंता हो, तथा प्रजा को तंत्र पर विश्वास हो, यही आदर्श समाज व्यवस्था के लिए सबसे प्रमुख आधार है।

भगवान् राम ने महर्षि का संदेश पढ़ा। विचार किया, “ऋषि ने आदेश दिया है कि लोक कल्याण से युक्त रहना।” व्यक्ति अपने प्रधान कर्तव्य से दूर क्यों, कैसे हट जाता है? इस प्रश्न पर विचार किया, तो एक ही उत्तर मिला, “अपने प्रियजनों या प्रिय विषयों के मोह में ही व्यक्ति अपने कर्तव्यों को भूलता है।” मर्यादा पुरुषोत्तम ने ऋषि के संकेत को अपना जीवन सूत्र माना और उसके अनुसार अपने अंतःकरण को संस्कारित करने का संकल्प करते हुए, उन्हें आश्वासन भरा उत्तर लिखा-

स्नेहं दयां च सौख्यं च, यदि वा जानकीमपि । आराधनाय लोकस्य, मुञ्चतो नाऽस्मि मे व्यथा ॥

अर्थात्-“लोक आराधना के लिए यदि मुझे स्नेह, दया, सुख यहाँ तक कि जानकी जी का भी त्याग करना पड़ जाय, तो भी मुझे व्यथा नहीं होगी।”

व्यक्तिगत स्नेह, दया जैसी संपदाओं का भी मोह नहीं, सुखाकांक्षा भी नहीं। जानकी जी, जिनके लिए वे काल से भी जुझ गए, उन्हें भी लोक आराधना यज्ञ में आहुति की तरह प्रयुक्त करने में मन को असमंजस में पड़ने की छूट नहीं दी गई। यह मात्र कथन नहीं, कहने को तो लोग क्या-क्या नहीं कह जाते, पर करते समय स्थिति दीनों जैसी हो जाती है। परंतु मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीराम ने अपनी कथनी को यथावत् क्रियान्वित करके भी दिखा दिया।

वास्तव में रामराज्य जैसी आदर्श व्यवस्था अन्य किसी संस्कृति में संभव नहीं। वशिष्ठ जैसे तत्त्वज्ञ, निस्पृह ऋषि स्तर के विचारक उसके लिए व्याकुल होकर जागरूकता से मार्गदर्शन करें तथा राम जैसे चरित्रनिष्ठ, मनोबल संपन्न, आदर्शवादी व्यवस्थापक उनके निर्देशों को क्रियान्वित करने के लिए कटिबद्ध हों, तभी वह स्वप्न साकार हो सकता है।

सत्वं सांस्कृतिकं चैतत् द्वितीयमेव पूर्ववत् ।
 सोल्लासं पूर्णतां यातं सानन्दामाश्रमे शुभे ॥ ९४ ॥
 घोषणायां समाप्तेश्च श्रोतारः सर्व एव ते ।
 परस्परं नमन्तश्च यथाकालं यथाऽऽगतम् ॥ ९५ ॥
 नित्यकृत्यानि कर्तुं तु गता उत्साह संयुताः ।
 दृढसाहससंकल्पा विधिकालानुयायिनः ॥ ९६ ॥

भावार्थ-दूसरे दिन का संस्कृति सत्र प्रथम दिन की भाँति बड़े आनंद-उल्लास के वातावरण में समाप्त हुआ। समापन की घोषणा होने पर सभी नमन-वंदनपूर्वक अपने नियत कृत्यों को यथासमय यथावत् करने के लिए चले गए। उनका उत्साह बढ़ा हुआ था। साहस एवं संकल्प में दृढ़ता प्रतीत होती थी। वे समय का मूल्य एवं उचित प्रक्रियाओं के महत्व को समझ चुके थे ॥ ९४-९६ ॥

इति श्रीमत्प्रज्ञापुराणे देवसंस्कृतिखण्डे ब्रह्मविद्याऽऽत्मविद्ययोः, युगदर्शनयुगसाधनाप्रकटीकरणयोः,
 श्रीकात्यायन ऋषि प्रतिपादिते “वर्णाश्रम धर्म,” इति
 प्रकरणो नाम द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥





॥ अथ तृतीयोऽध्यायः ॥

✽ संस्कारपर्व-माहात्म्य प्रकरणम् ✽

प्रतिपाद्यं तृतीयस्य श्रोतुमुक्ता दिनस्य ते ।
 सोत्सुकं नियते काले प्राप्ताः सर्वे यथाक्रमम् ॥ १ ॥
 स्थानेषु नियतेष्वेव समासीनास्तथाऽभवन् ।
 वर्षयन्निव पीयूषमृषिः कात्यायनस्तदा ॥ २ ॥

भावार्थ—तीसरे दिन के प्रवचन-प्रतिपादन सुनने के लिए सभी आतुर थे, सो नियत समय पर सभी जिज्ञासु उत्सुकतापूर्वक पहुँचे और अपने नियत स्थान पर यथाक्रम आसीन हो गए । ज्ञानामृत बरसाते हुए महर्षि कात्यायन बोले— ॥ १-२ ॥

कात्यायन उवाच—

जिज्ञासवो नरस्त्वेव वर्तते पशुरप्यथ ।
 पिशाचोऽपि तथा देवो महामानव एव च ॥ ३ ॥
 सीम्निप्रजननस्याथ पिचण्डस्यापि ये नराः ।
 मग्नाश्चिन्तातुराश्चापि नरास्ते पशवो मताः ॥ ४ ॥
 तेषां सर्वस्वमस्त्येषा लघ्वी स्वार्थरतिः सदा ।
 लोभमोहातिरिक्तं न पश्यन्त्येते किमप्यतः ॥ ५ ॥
 प्रदर्शने विलासे च सुखं तेऽनुभवन्ति हि ।
 नाभ्यां परं किमप्येषां लक्ष्यं भवति दूरगम् ॥ ६ ॥

भावार्थ—कात्यायन बोले—जिज्ञासुओ ! मनुष्य पशु भी है, पिशाच भी, मान्य मानव भी और देवता भी । पेट और प्रजनन की छोटी परिधि में सोचने और करने में निमग्न रहने वाले नर-पशु हैं । उनके लिए संकीर्ण स्वार्थपरता ही सब कुछ है । लोभ और मोह के अतिरिक्त और कुछ उन्हें सूझता ही नहीं । विलास और प्रदर्शन में ही उन्हें सुख मिलता है । इसके आगे इनका कोई और दूरगामी लक्ष्य नहीं ॥ ३-६ ॥

दर्पो नरपिशाचेषु सदा छत्वा मते ततः ।
 अनाचारेषु पश्यन्ति दुष्कृत्येषु तथैव च ॥ ७ ॥
 आतङ्केषु च ते पूर्तिमहंकारस्य स्वस्य तु ।
 अनुभवन्ति रसं दिव्यं परेषां पीडने शठाः ॥ ८ ॥
 मर्यादोल्लंघने शौर्यं पश्यन्त्यपि पराक्रमम् ।
 पिशाचा एव ये भ्रष्टचिन्तनाऽऽचारवर्जिताः ॥ ९ ॥

भावार्थ—नर पिशाचों पर दर्प छाया रहता है । वे आतंक, अनाचार और दुष्कृत्यों में अपने अहंकार की पूर्ति देखते हैं । उत्पीड़न में उन्हें रस आता है । मर्यादा भंग करने में उन्हें शौर्य-पराक्रम प्रतीत होता है । भ्रष्ट चिंतन और दुष्ट आचार वालों को मनुष्य शरीर में पिशाच ही समझना चाहिए ॥ ७-९ ॥

व्याख्या—देव संस्कृति के संस्कार-महत्ता प्रकरण का शुभारंभ करते हुए सत्राध्यक्ष-मानव के गुण, कर्म और स्वभाव के आधार पर विवेचना करते हुए उसका वर्गीकरण भिन्न-भिन्न वर्गों में करते हैं । नर पामर का अर्थ है पशु प्रवृत्तियों में निरत पेट-प्रजनन की सीमा में आबद्ध व्यक्ति । नर-मानव का अर्थ है—वह भक्ति, जिसमें पारिवारिकता और सामाजिकता के साथ जुड़े हुए अनुबंधों के प्रति विश्वास और परिपालन का



साहस है । वस्तुतः व्यक्तित्व के स्तर की उत्कृष्टता ही मानवी वरिष्ठता की कसौटी है । मानवी काया का चोला तो हरेक का एक जैसा ही होता है ।

नर-पशु हर समय अधिक कमाने, संचय करने और खाने-कुतरने की ललक में लगे दिखाई दे सकते हैं । अनौचित्य की सीमा लाँघकर प्रजनन-यौन स्वेच्छाचार के क्षेत्र में वे पशुओं को भी पीछे छोड़ देते हैं । जो भी वैभव दूसरों को शोषण कर पिशाच की भूमिका निभाते हुए निर्दयतापूर्वक संचित करते बन पड़ा है, उसे वे स्वयं व परिवार जनों तक ही सीमाबद्ध मानकर उसके उपभोगवादी प्रदर्शन में निरत रहते हैं ।

चरित्रनिष्ठा ही मनुष्यता है । जिसमें अवांछनीय लिप्साओं के नियमन एवं आदर्शों के कार्यान्वयन का साहस भरा पराक्रम है, वही नर मानव से देवमानव, नर-नारायण, भूसुर, ऋषि की भूमिका निभाता देखा जा सकता है ।

मानव जन्म लेने के बाद संचित कषाय-कल्मषों के आवरण को हटाकर स्वयं को निर्मल बना, देव मानव बनाने की भूमिका में प्रवेश करने की प्रक्रिया संस्कारों के माध्यम से संपन्न होती है । इसके अभाव में तो सामान्य जनमानस पर कुसंस्कारों का कुहासा ही छाया देखा जा सकता है । नरपशु, नरपिशाच, नरपामर इसी श्रेणी के व्यक्ति कहलाते हैं । अलंकारिक रूप से असुरों का काला मुँह, मुख से बाहर निकले हुए दाँत, पैने नाखून और सिर पर सींग चित्रित किए जाते हैं । इस प्रकार की शकल-सूरत के प्राणी कहीं नहीं पाए जाते । इस आलंकारिक चित्रण में यही बताया गया है कि असुर-प्रकृति के मनुष्यों का मुख दुष्कर्मों की कलंक कालिमा से काला होता है । वे पेड़, स्वार्थी, लोभी, कृपण और संग्रही होते हैं, उनके बड़े दाँत उचित-अनुचित सबको उदरस्थ करने के लिए मुख की मर्यादा से बाहर निकले रहते हैं । हाथों में बड़े नाखूनों का होना हिंस्र पशुओं की नीति अपनाकर आक्रमणकारी, आततायी कुकृत्यों में संलग्न होने की दुष्प्रवृत्ति को प्रकट करता है । इस दुष्ट परंपरा को, असुर संस्कृति को, पशु प्रवृत्ति को अपनाने वाले लोगों की कमी नहीं । रामायण में इन्हीं को असंत बताया गया है ।

मनुष्य देवता भी, एक सत्संग में एक संत कह रहे थे—“मनुष्यों में कुछ देवता, कुछ मनुष्य पाए जाते हैं, शेष तो नर पिशाच ही होते हैं ।” जिज्ञासु ने पूछा—“भला इन नर पिशाचों और देवताओं की पहचान क्या है ?” संत ने कहा—“देवता वे हैं, जो दूसरों को लाभ पहुँचाने के लिए स्वयं हानि उठाने को तैयार रहते हैं, मनुष्य वे हैं जो अपना भी भला करते हैं और दूसरों का भी । नर पिशाच वे हैं जो दूसरों की हानि ही सोचते और करते हैं, भले ही इस प्रयास में भी उन्हें स्वयं हानि सहनी पड़े ।

दायरे से बाहर निकलो संकीर्ण, अपने दायरे तक सीमित व्यक्ति कुढ़ते, खीजते एवं त्रास भुगतते रहते हैं । एक कुएँ ने समुद्र तक शिकायत पहुँचाई कि “जब सभी नदी-नालों को आप बुलाते हैं और आश्रय देते हैं, तो मेरी ही उपेक्षा क्यों ?”

समुद्र ने उत्तर भिजवाया—“जिस संकीर्णता के दायरे में घिर गए हो, उससे तो निकलो । फिर मंजिल सरल है और लक्ष्य निकट ।”

स्वयं का बंधन रेशम का कीड़ा अपने लिए खोखला बुनता है और उसी में कैद हो जाता है । मकड़ी अपना जाला बुनती है और उसी में जकड़ कर बैठ जाती है । मनुष्य भी अपनी अहंता का विस्तार करता है और उससे अवरुद्ध होकर भव-बंधनों की जकड़न से त्राहि-त्राहि करता है । माया की गाँठ मनुष्य ही बाँधता है और खोल भी लेता है ।

रामायणकार ने काम, क्रोध व लोभ को तीन सबसे बड़े शत्रु बताया है—

तात तीन अति प्रबल खल, काम, क्रोध अरु लोभ । मुनि विग्यान धाम मन, कारहि निमिष महँ छोभ ॥

ये ही मनुष्य के अधःपतन के कारण बनते हैं ।

नहुष का स्वर्ग से पतन नहुष को पुण्य फल के बदले इंद्रासन प्राप्त हुआ । वे स्वर्ग में राज्य करने लगे । ऐश्वर्य और सत्ता का मद जिन्हें न आवे, ऐसे कोई विरले ही होते हैं । नहुष भी सत्ता मद से प्रभावित हुए बिना न रह सके । उनकी दृष्टि रूपवती इंद्राणी पर पड़ी । वे उसे अपने अंतःपुर में लाने की



विचारणा करने लगे । प्रस्ताव उनने इंद्राणी के पास भेज दिया । इंद्राणी बहुत दुःखी हुई । राजाज्ञा के विरुद्ध खड़े होनेका साहस उसने अपने में न पाया, तो एक दूसरी चतुरता बरती । नहुष के पास संदेश भिजवाया कि वह ऋषियों को पालकी में जोतें और उस पर चढ़कर मेरे पास आवें, तो प्रस्ताव स्वीकार कर लूंगी ।

आतुर नहुष ने अविलंब वैसी व्यवस्था की । ऋषि पकड़ बुलाए, उन्हें पालकी में जोता गया, उस पर चढ़ा हुआ राजा जल्दी-जल्दी चलने की प्रेरणा करने लगा । दुर्बलकाय ऋषि दूर तक इतना भार लेकर तेज चलने में समर्थ न हो सके । अपमान और उत्पीड़न से वे क्षुब्ध हो उठे । एक ने कुपित होकर शाप दे ही तो डाला—“दुष्ट ! तू स्वर्ग से पतित होकर पुनः धरती पर जा गिर ।” शाप सार्थक हुआ, नहुष स्वर्ग से पतित होकर मृत्युलोक में दीन-हीन की तरह विचरण करने लगे ।

इंद्र पुनः स्वर्ग के इंद्रासन पर बैठे । उन्होंने नहुष के पतन की सारी कथा ध्यानपूर्वक सुनी और इंद्राणी से पूछा—“भद्रे ! तुमने ऋषियों को पालकी में जोतने का प्रस्ताव किस आशय से किया था ?” शची मुस्कराने लगीं । वे बोलीं—“नाथ ! आप जानते नहीं, सत्पुरुषों का तिरस्कार करने, उन्हें सताने से बढ़कर सर्वनाश का कोई दूसरा कार्य नहीं । नहुष को अपनी दुष्टता समेत शीघ्र ही नष्ट करने वाला सबसे बड़ा उपाय मुझे यही सूझा है । वह सफल भी हुआ ।” देवसभा में सभी ने शची से सहमति प्रकट कर दी । सज्जनों को सताकर कोई भी नष्ट हो सकता है । बेचारा नहुष भी इसका अपवाद कैसे रहता ?

हर नर-पिशाच की वही नियति हर अहंकारी, लोभी, लालची को भगवत्सत्ता के दैवी विधान से नियमानुसार फल मिलता ही है एवं अन्यो के लिए वह सबक बनता है ।

अहंकारी, शक्तिशाली, गर्व से चूर दुर्योधन जब अपनी अनीतियों से बाज नहीं आया, तो उसे अपनी ही आँखों अपना सर्वस्व नष्ट-भ्रष्ट होते देखना पड़ा और बड़ी असहाय अवस्था में शरीर छोड़ना पड़ा । महाबली रावण का दर्प-अहंकार उस समय नष्ट हो गया, जब उसका सारा वैभव नष्ट हो गया और वह असहाय घायल अवस्था में रणभूमि में पड़ा था । जिसने बड़े-बड़े देशों पर विजय पाकर उन्हें बंदी बना छोड़ा था, उसे दो क्षत्रिय पुत्रों ने कुल सहित नष्ट कर दिया । विश्व विजयी सिकंदर महान् अपनी अपार संपत्ति के होते हुए भी छटपटाता हुआ मरा और उसे कोई न बचा सका । उसका दर्प, अहंकार मिट्टी में मिल गया । दुनिया की खुली पुस्तक में दैवी-विधान की इस सुधार प्रक्रिया का पाठ सरलता से पढ़ा जा सकता है ।

सौंदर्य की ललक-लिप्सा का एक अभिशप्त रूप सौंदर्य एक वरदान है एवं अभिशाप भी । वरदान तब होता है, जब वह अपनी विशेषता से प्रभावित लोगों को सन्मार्ग पर चलने की प्रेरणा दे, उनमें सत्प्रवृत्तियाँ उभारे । अभिशाप उस समय बनता है, जब मानवी कुत्सा को भड़काता है, व्यक्तिगत अहंकार को पोषित कर, कुमार्गगामिता का पथ-प्रशस्त करता है । ऐसी स्थिति में प्रकृति प्रदत्त अनुदान भी विष-वृक्ष के समान सिद्ध होता है ।

रोम की क्लीयोपैट्रा एक ऐसी ही महिला थी, जिसे प्रकृति से मुक्त हस्त सौंदर्य की विभूति मिली थी । उसे देखकर ऐसा लगता था, जैसे साक्षात् कामदेव नारी तन में अपनी सभी विशेषताओं के साथ अवतरित हो गए हों । इतिहासकारों ने उसे अपने युग की सर्वश्रेष्ठ, अद्वितीय सुंदरी की उपाधि दी । मिश्र की वह राजकुमारी थी । किशोर वय से ही उसके सौंदर्य की ख्याति सर्वत्र फैलने लगी । अलहड़ सामंत कुमारों, नवयुवकों की भीड़ उसके इर्द-गिर्द सदा भागती रहती थी । उसके माता-पिता तो बचपन में ही दिवंगत हो गए थे । अंकुश न रहने से उसकी उच्छृंखलता को बेलगाम होने की खुली छूट मिल गई । जितनी वह सुंदर थी, उससे भी अधिक उसे अपने रूप पर अहंकार था । उन्मत्ती ही अधिक वह महात्वाकांक्षी थी । थोड़ी समझदारी आते ही, वह मिश्र की शासिका बनने के सपने देखने लगी । वह किसी भी कीमत पर अपनी मुराद पूरा करना चाहती थी । रूप, चरित्र, नारी गरिमा सभी को दौंव पर लगाने को तैयार थी ।

अपनी उद्धत महात्वाकांक्षा पूरी करने हेतु उसने क्रमशः टोलेमी, सीजर एवं फिर एण्टोनी को अपना हथियार बनाया । इनमें से प्रत्येक उसके रूपजाल में कैद होकर स्वयं के व साम्राज्य के विनाश के कारण बनते चले गए । अंततः इस रूपसी ने सर्प दंश से आत्मघात कर लिया ।

जितने दिन वह जीवित रही रोम तथा मिश्र का शासनतंत्र एक झूले की तरह इधर-उधर झूलता रहा। कभी भी स्थायित्व नहीं आने पाया। क्लीयोपैट्रा वासना एवं महत्वाकांक्षा की आग में स्वयं मरी तथा अगणित लोगों को भस्मीभूत किया। उसे जो सौंदर्य का वरदान प्रकृति द्वारा मिला था, वह एक अभिशाप सिद्ध हुआ। एक ऐसा अभिशाप, जो रोम एवं मिश्र के पतन का कई दशकों तक कारण बना। सौंदर्य की देवी क्लीयोपैट्रा मिश्र की एक ऐसी कलंक थी, जिसके कलुषित जीवन ने समूचे साम्राज्य को भ्रष्ट किया।

उसका उदाहरण बताता है कि सौंदर्य के साथ यदि चरित्रनिष्ठा न जुड़ी हो, तो वह उद्धत उत्पात के रूप में भड़कता व अनेक के विनाश का कारण बनता है।

उद्धत प्रदर्शन जो अहंता के मद में चूर होकर प्रदर्शन से वाहवाही लूटना चाहते हैं, वे भी एक प्रकार के अपराधी हैं।

भी अपराध एक व्यापारी ने छोटे बच्चे को खिलाने के लिए नौकर रखा। उसे बहुमूल्य वस्त्र-आभूषण पहनाकर नौकर को देता। एक दिन चोर पीछे लगा और नौकर की नजर बचते ही बच्चे को उठाकर भाग गया। आभूषण उतार लिए और बच्चे को मार कर कुँए में डाल दिया।

नौकर को बच्चा न मिला, तो व्यापारी को खबर दी। उसने सारे नौकर और दूत पता लगाने भेजे। कुँए में मरा बच्चा मिल गया और एक वृक्ष की कोंतर में बैठा चोर भी। लाश और चोर को राजा के सम्मुख पहुँचाया गया। चोर को मृत्युदंड मिला और व्यापारी का सारा धन जब्त कर लिया गया। सर्वसाधारण के बीच उन्हीं की तरह न रहकर अपनी संपन्नता का उद्धत-प्रदर्शन भी छोटा अपराध नहीं समझा गया।

जिस दुष्प्रवृत्ति से चोर को प्रेरणा मिली और उसकी नीयत बदली, वह निष्पक्ष न्यायाधीश की दृष्टि में क्षम्य अपराध नहीं। अपव्यय, प्रदर्शनवृत्ति एवं अनाचार परस्पर संबंधित दुष्प्रवृत्तियाँ हैं।

आखिर खुद का ही नुकसान किया अनावश्यक आवेश एवं विशेष व्यक्ति को संतुष्ट करना अंततः दुःख पहुँचाता है। एक साँप को बहुत गुस्सा आया। उसने फन फैलाकर गरजना और फुसकारना शुरू किया और कहा-“मेरे जितने भी शत्रु हैं, आज उन्हें खाकर ही छोड़ूँगा। उनमें से एक को भी जिंदा न रहने दूँगा।” मेंढ़क, चूहे, केंचुए और छोटे-छोटे जानवर उसके उस गुस्से को देखकर डर गए और छिपकर देखने लगे कि आखिर होता क्या है? साँप दिन भर फुसकारता रहा और दुश्मनों पर हमला करने के लिए दिन भर इधर-उधर बेतहाशा भागता रहा।

फुसकारते-फुसकारते उसके गले में दर्द होने लगा। शत्रु तो कोई हाथ आया नहीं, पर कंकड़-पत्थरों की खरोंचों से उसकी सारी देह जख्मी हो गई, शाम को चकनाचूर होकर वह एक तरफ जा बैठा।

गुस्सा करने वाला शत्रुओं से पहले अपने को ही नुकसान पहुँचाता है।

ऐसों के प्रति उपकार भी बुरा यही बात उन नर पामरों पर भी लागू होती है, जो दूसरों के उपकारों को भुलाकर उनसे कृतघ्न व्यवहार करते हैं, पर पीड़न में रस लेते हैं एवं समय आने पर पशु-प्रवृत्तियों के वशीभूत हो, उनका कुछ भला करने के स्थान पर बर्बरता से पेश आते हैं। इनकी भी आज जन समुदाय में कोई कमी नहीं।

एक राजकुमार बड़े दुष्ट स्वभाव का था। नौकर भी उससे प्रसन्न न थे। नदी में नहाते हुए पैर फिसला और बह गया। नौकरों ने मुँह फेर लिया। संयोगवश एक लकड़ी का मोटा लट्ठा बहता आ रहा था। उस पर एक सर्प, एक चूहा भी बहते-बहते चढ़ गए थे। राजकुमार का भी दांव लग गया और वह भी उस पर चढ़ गया।

नदी तट पर एक साधु की कुटिया थी। उसने लट्ठे के साथ बहते प्राणियों को देखा, तो जान जोखिम में डालकर लट्ठे को किनारे पर खींच लाए। रात्रि डरावनी काली थी और ठंडक कड़ाके की थी। सो उसने लट्ठे को एक ओर से जलाकर गर्मी उत्पन्न की। तीनों प्राणियों को तपाया और जो कुटिया में था, तीनों को खाने के लिए दिया। भोर होने पर वर्षा थमी, तो सर्प ने साधु से कहा-“मेरा नाम मधुप है, इसी जंगल में रहता हूँ। आवश्यकता हो, तो पुकारना। मेरे बिल में धन है, सो दूँगा।” चूहे ने भी साधु महाराज के प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट की और कहा-“जब आपको ईंधन की आवश्यकता हो, तब आवाज दें, समीप ही रहता हूँ, मेरा नाम कुसुम है। पौधे और टहनियाँ



काटकर आपके लिए ईंधन-समिधाएँ जुट दिया करूँगा ।”

अब राजकुमार की बारी थी । राजकुमार ने कड़ककर कहा—“तुमने मेरा उचित सम्मान नहीं किया, सो बदला लूँगा ।” घर पहुँचते ही उसने नौकर भेजे और साधु की झोंपड़ी तोड़-फोड़कर फिंकवा दी । उन्हें अन्यत्र दूसरी बनवानी पड़ी । वे सोचते रहे, कृतघ्न की तुलना में तो साँप और चूहे अच्छे ।

मनुष्य के दुष्कृत्यों के समक्ष जीव-जंतुओं की बर्बरता भी कभी-कभी छोटी पड़ जाती है । ऐसे दुष्ट आचरण वाले व्यक्ति वस्तुतः मानवी काया में पिशाच के समान हैं ।

भेड़िया और एक सियार एक भेड़िये के गले में हड्डी अटक गई । वह सियार के पास पहुँचा और बोला—“आपकी लंबी थूथनी है । कृपा करके मेरे गले में उसे डालकर हड्डी निकाल दीजिए, उसने निकाल दी ।”

एक दिन सियार को भेड़िये की सहायता की आवश्यकता पड़ी । पिछला अहसान याद दिलाया । भेड़िये ने कहा—“मेरा यह अहसान क्या कम है, जो मुँह के अंदर पहुँची हुई, तुम्हारी गरदन बख्श दी ।”

वस्तुतः दुष्टों से प्रत्युपकार की आशा कभी नहीं करनी चाहिए ।

लोभी ने जोखिम उठाई एक शिकारी ने हाथी का शिकार किया और उसके दांत निकाल लिए । इतने में एक सर्प निकला, उसने शिकारी को काट खाया, वह गिर पड़ा, हाथी के मरने से एक खरगोश का कचूमर पहले ही निकल चुका था । एक सियार उधर से निकला, तो इतने शिकार एक साथ पड़े देखकर बहुत प्रसन्न हुआ । महीनों के लिए भोजन मिल गया । उसने शिकारी का धनुष पड़ा देखा, उसमें ताँत की प्रत्यंचा लग रही थी । पहले इस छोटी खुराक को खत्म कर लें, तब बड़ों पर हाथ डालेंगे । यह सोचकर उसने ताँत को जैसे ही चबाया, वैसे ही वह टूटी और धनुष का सिरा उसके मुँह में जोर से लगा और वहीं ढेर हो गया ।

लालची और अदूरदर्शी इसी प्रकार शहद के लोभ में जान गँवा बैठने वाली मक्खी की तरह जोखिम उठाते हैं ।

पालयन्ति नरा धर्मं कर्तव्यं स्वं च सर्वदा ।

पोषयन्ति सदा शीलं नीतिमर्यादयोरपि ॥ १० ॥

अनुभवन्ति महत्वं ते सहकारं श्रयन्ति च ।

सद्भावमधिकारे ते नोक्ताः कर्तव्यबुद्धयः ॥ ११ ॥

व्यवहरन्ति तथाऽन्यैस्ते यथा स्वस्मै प्रियो भवति ।

व्यवहारः, स्तरं तं ते निर्वाहस्याश्रयन्ति तु ॥ १२ ॥

उपलब्धो यथाऽन्यैस्तु ते विदन्ति भविष्यति ।

ईर्ष्या प्रदर्शनैरत्र विलासैः संग्रहैरपि ॥ १३ ॥

उत्पद्यन्ते विग्रहाश्च सुखशान्तिविनाशकाः ।

गृह्णन्ते वैभवं प्राप्तुमर्पयन्ति हि जीवनम् ॥ १४ ॥

मानवस्य गरिष्ठास्तु येषां बोधोऽस्ति ते नराः ।

उत्कृष्ट चिन्तने लग्नाः कर्तृत्वेऽप्युत्तमे सदा ॥ १५ ॥

भावार्थ—मनुष्य अपने कर्तव्यधर्म का पालन करते हैं । शील पालते और नीति-मर्यादा का महत्त्व समझते हैं । सद्भाव और सहकार का आचरण करते हैं । अधिकार पर कम और कर्तव्य पर अधिक ध्यान देते हैं । दूसरों के साथ वैसा व्यवहार करते हैं, जैसा अपने लिए प्रिय है । उसी स्तर का निर्वाह अपनाते हैं, जैसा कि अधिकांश लोगों को उपलब्ध है । वे जानते हैं कि संग्रह, विलास और प्रदर्शन से ईर्ष्या उत्पन्न होती है और विग्रह पनपते हैं । लालची, वैभव संपादन पर ही बहुमूल्य जीवन न्यौछावर कर देते हैं, पर जिन्हें मानवी गरिमा का बोध है, वे उत्कृष्ट चिंतन और आदर्श कर्तृत्व में निरत रहते हैं ॥ १०-१५ ॥

व्याख्या—मानवी चेतना के तीन स्तरों के रूप में पाताललोक, भूलोक और स्वर्गलोक की आलंकारिक विवेचना की जाती है । रहते तो ये सब धरती पर हैं व काया भी सबकी मानवी होती है, किंतु इनकी प्रकृति भिन्न-भिन्न होती है । अहंकारी, आक्रामक, कालिमा से पुते, लोभी, लालची, उद्धत आचरण

वाले, हेय स्तर का जीवन जीने वाले नर-पिशाच पाताल लोक वासी कहे जाते हैं । ये स्वयं जलते, औरों को जलाते, स्वयं कुढ़ते, औरों को कुढ़ाते हैं । भूलोक पर मानवी गरिमा में विश्वास रखने वाले नर मानवों का निवास होता है । मनुष्य अर्थात् सभ्य, शिष्ट, सज्जन । शालीनता एवं सहकारिता से प्रेम करने वाला । मर्यादा में रहने व जिम्मेदारियों को समझने-निबाहने वाला । वह दूसरों का सम्मान करता व हिल-मिलकर, मिल-बाँटकर रहने, खाने की नीति में विश्वास रखता है ।

यक्षिणियों

का कुचक्र

एक व्यापारी के यहाँ नौका चालन द्वारा व्यापार होता था । एक बार दोनों बड़े लड़के नावों में माल भर कर विदेश बेचने ले गए । लौटते हुए परदेश से दूसरा माल लाने की योजना थी । रास्ते में समुद्री तूफान आया । नावें उलट गई । उनमें रखे दो तख्तों के सहारे वे किनारे आ गए । जान भर बच गई । उस क्षेत्र में तीन यक्षिणियों का शासन था । एक का नाम था वासना, दूसरी का तृष्णा, तीसरी का अपूर्णा । वे सुंदर युवकों की तलाश में रहतीं । कुछ दिन के भोग-विलास से उन्हें खोखला कर देतीं और इसके बाद दूर के सिंह-बाघों से भरे जंगल में उन्हें बेमौत मरने के लिए छोड़ देतीं । यक्षिणियों ने उन युवकों का भी इसी दृष्टि से उपभोग किया । उन्हें हिदायत कर दी कि घूमना हो तो महल के इर्द-गिर्द ही घूमें । दक्षिण दिशा में भूलकर भी न आवें ।

दोनों भाई उनके पंजे से छूटकर घर जाने की फिकर में थे, सो दांव लगते ही दक्षिण दिशा की ओर तेजी से चल पड़े । दूर जाने पर एक जर्जर अस्थि कंकाल रूप में युवक रोता मिला । उसने बताया—“यक्षिणियों ने खोखला करके यहाँ मरने के लिए छोड़ दिया है । रहस्य की बात यह है कि वे पीछ करे, मधुर बातें करें, तो भी उनकी ओर मुड़कर न देखना, अन्यथा वे भारी प्रतिशोध लेंगीं ।” ऐसा ही हुआ । यक्षिणियाँ पीछे दौड़ती हुई आईं । एक भाई उनसे वार्ता करने लगा, उसे ले जाकर कुछ ही दूर पर मार डाला । जिसने मुड़कर नहीं देखा, वह उनके जादू से बच गया और किसी प्रकार घर आ गया ।

लिप्साएँ यक्षिणियाँ हैं । जो उनके कुचक्र में फँसता है, वह जान गँवाता है ।

धुंधकारी की

दुर्गति का कारण

एक संत धुंधकारी की कथा के माध्यम से मानव के अधःपतन का प्रसंग समझते हुए एक सत्संग में कह रहे थे—“धुंधकारी वेश्याओं के चक्कर में फँस गया था । उनको प्रसन्न करने के लिए चोरी-अनाचार भी करने लगा । जब वह वेश्याओं को प्रसन्न करने में समर्थ न हो सका तो वेश्याओं ने उसके मुख में अंगार भर कर उसे मार डाला । वह प्रेतयोनि में गया । उसके भाई गोकर्ण ने उसका गया श्राद्ध किया, पर फिर भी मुक्ति न मिली । आलंकारिक रूप से विवेचन किया जाय, तो ‘धुंधकारी’ है—मनुष्य का संकीर्ण स्वार्थपरक स्वभाव । वह कोई मर्यादा-अनुशसन नहीं मानता । मनमानी करने के लिए अंधाधुंध कुछ भी करता है । पाँच वेश्याओं के वह वधीभूत है । पाँच वेश्याएँ हैं—शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध की पाँच तन्मात्राएँ । इन्हें तुष्ट करने के लिए वह अपने पिता आत्मदेव की भी नहीं सुनता । उनसे छल करता है । उसकी माँ धुंधली स्वार्थ बुद्धि उसका समर्थन करके उसके हौसले बढ़ा देती है ।

धुंधकारी कालांतर में माता-पिता पर हावी हो जाता है । स्वार्थभाव दीवाना हो जाता है, तो न आत्मचेतना की सुनता है और न बुद्धि की । यही स्वार्थ जीव माता-पिता आत्म-चेतना (आत्मदेव) और धुंधली बुद्धि की उपेक्षा करके चोरी-धोखेबाजी करके भी वेश्याओं को तुष्ट करता है । शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध के सुख के लिए अनैतिकताओं पर भी उतर आता है ।

जब उन्हें तुष्ट नहीं कर पाता, तो वे वेश्याएँ उसके मुख में अंगार भर देती हैं । धुंधकारी जैसे स्वार्थी जीव का ऐसा ही दुखद अंत होता है । हीन प्रवृत्तियाँ जब भड़क उठती हैं, तुष्ट नहीं हो पातीं, तो जीव को ऐसी ही भीषण पीड़ा होती है । जो समय पर चेत जाए, सद्बुद्धि पा जाए, वही इस कष्ट से बच पाता है ।”

चंद्रमा का

घटना-बढ़ना

व्यक्तित्व का उत्थान-पतन किस प्रकार सुख व दुःख का कारण बनता है, इस पर गुरुकुल में विचारविमर्श चल रहा था । पूर्णिमा पर चंद्रिका बरसाते चंद्रमा को देखकर महर्षि गार्ग्य से उनके एक शिष्य ने पूछा—“भगवन् ! पंद्रह दिन चंद्रमा की आभा बढ़ती रहती है, पंद्रह दिन घटती रहती है । इसका रहस्य क्या है ?”

गार्ग्य ने समझाया—“तात ! विधाता ने चंद्रमा का यह क्रम बताने के लिए अपनाया है कि व्यक्तित्व के



विकास से लोग न केवल स्वयं प्रकाशित होते हैं, वरन् संसार को भी प्रकाशित करते हैं, जबकि पतन की ओर उन्मुख होने वाले क्षीण होते और अज्ञान के अंधकार में गिरकर नष्ट हो जाते हैं ।

क्रोध-

संत उन्हें कहते हैं जो हर परिस्थिति में समरसता की नीति अपनाते-आवेश में नहीं आते हैं ।

महा चांडाल

एक साधु गंगा के किनारे कपड़े धो-सुखा कर धूप में उपासना करने बैठ गए । उसी बीच एक अछूत आया, उसने भी गंगा में स्नान किया तथा कपड़े धोकर सूखने डाल दिए । हवा चली उसके कपड़े उड़कर साधु के कपड़ों तक पहुँच गए । साधु ने देखा, तो क्रोध से भर गए । अछूत को गालियाँ देने लगे-“कम्बख्त ने धोए कपड़े खराब कर दिए ।” अछूत बोला-“महाराज ! हवा से उड़कर गंगा में धोए गए वस्त्र छू भी गए, तो क्या हुआ ?” साधु का क्रोध जवाब सुनकर और बढ़ गया । उसे लात-घुँसों से पीटने लगे । अछूत स्वस्था था । अनिति पर क्रोध उसे भी आया । उसकी त्योरी बदली देख साधु भयभीत हो हट गए और फिर नहाने लगे । अछूत को भी कुछ पीटने, कुछ क्रोध से पसीना आ गया था । वह भी नहाने लगा ।

अब साधु खीझे-“बोले तू क्यों फिर नहाने लगा ।” उसने भी प्रश्न किया-“आप क्यों फिर नहाने लगे ।” संत बोले-“चांडाल को छूने से हुई अपवित्रता हटाने के लिए नहाना जरूरी है ।” वह बोला-“मुझे भी महाचांडाल ने, क्रोध ने छू लिया था । उससे हुई अपवित्रता दूर करने के लिए मैं भी पुनः माँ गंगा की धारा में उतरा हूँ ।”

अहंता और अकर्तव्य

परस्पर पूरक

महाभारत समाप्त हुआ । पुत्रों के वियोग से दुःखी धृतराष्ट्र ने महात्मा विदुर को बुलाया । उनके साथ सत्संग में दुःख हलका करने लगे । चर्चा के बीच धृतराष्ट्र ने पूछा-“विदुर जी ! हमारे पक्ष का एक-एक-योद्धा इतना सक्षम था कि उसने सेनापति बनने पर अपने पराक्रम से पांडवों के छक्के छुड़ा दिए । यह जीवन-मरण का युद्ध है, यह सबको विदित था । यह ध्यान में रखते और सेनापति बनने पर ही अपना पराक्रम प्रकट करने की जगह कर्तव्य बुद्धि से एक साथ पराक्रम दिखाते, तो क्या युद्ध जीत न जाते ?”

विदुर जी बोले-“राजन् ! आप ठीक सोचते हैं । यदि वे ऐसा कर सकते, तो जीत सकते थे, परंतु अकेले अधिक यश बटोरने की लिप्सा तथा अपने को सर्वश्रेष्ठ सिद्ध करने की अहंता ने कर्तव्य को सोचने, उसे निभाने की उमंग पैदा करने का अवसर ही नहीं दिया । यदि कर्तव्य ही सोचा होता, तो वे अपने भाइयों को उनका हक देकर युद्ध टाल भी सकते थे । जो जैसा करता है, वैसा पाता है । अतः हे राजन् ! आप कौरवों की हार व उनकी मृत्यु का दुःख न करें ।”

विंध्याचल की

महत्वाकांक्षा

विंध्याचल पर्वत की महत्वाकांक्षा एक बार सूर्य के पास तक जा पहुँचने की हुई । वह उठता ही चला गया । इर्द-गिर्द खाई बनी और धूप से जनता को वंचित रहना पड़ा ।

इस अनर्थ को रोकने के लिए मुनि अगस्त्य ने पर्वतराज से वचन लेकर कुछ समय रुक जाने के लिए सहमत कर लिया । इसके बाद वे पातालपुरी में तप करने चले गए । विंध्याचल को सोचने-विचारने का अवसर मिल गया और अपनी महत्वाकांक्षा को मिटाकर यथास्थिति रहकर जो उपयुक्त था, उसी को करते हुए संतुष्ट रहने लगे ।

बछड़ा, झाड़ू !

जो संस्कार जीवन भर हावी रहते हैं, वे अंत तक पीछा नहीं छोड़ते । एक बूढ़ा बीमार पड़ा । जीवन भर लोभ में बीता था । अपनी दवा पर भी ठीक से खर्च न करने दे । कमजोरी बढ़ती गई । उसी स्थिति में उसने देखा आँगन में बछड़ा झाड़ू चबा रहा है । उसका मन बड़ा दुःखी हुआ । मेरी कमाई इस तरह बरबाद जा रही है । बोलने का प्रयास किया पर कमजोरी में स्पष्ट शब्द नहीं निकल सके ।

लड़कों ने समझा शायद भगवान् का नाम ले रहे हैं । दूसरे ने सोचा शायद अपनी गुप्त संपत्ति के बारे में अंत समय बतलाना चाहते हैं । उन्होंने चिकित्सक को बुलाकर कहा-“कुछ भी खर्च हो, ऐसा प्रयास करें कि इनके कुछ शब्द स्पष्ट सुनाई दे जाएँ ।”

कीमती दवाओं का प्रयोग किया गया । दवाओं का मूल्य और फीस मिलाकर हजार के लगभग खर्च हो गए । दवाओं ने सारी शक्ति इकट्ठी कर दी । सुनाई दिया बछड़ा, झाड़ू, बछड़ा, झाड़ू यही मंत्र दुहराते हुए प्राण छूट गए ।

उन्नति पर गर्व करना भूल है

अहंकार का मद अधिक देर नहीं टिकता । बहुत शीघ्र ही इसके परिणाम सामने आते हैं ।

हवा जोर से चलने लगी। धरती की धूल उड़-उड़ कर आसमान पर छा गई। धरती से उठकर आकाश पर पहुँच जाने पर, धूल को बड़ा गर्व हो गया। वह सहसा कह उठी—“आज मेरे सामन कोई भी ऊँचा नहीं। जल, थल, नभ के साथ दशों-दिशाओं में मैं ही मैं व्याप्त हूँ।”

बादल ने धूल की गर्वोक्ति सुनी। उसने धूल की धूल पर थोड़ा अट्टहास किया और अपनी धाराएं खोल दीं। देखते ही देखते धूल आसमान से उतर कर जमीन पर पानी के साथ बहती दिखलाई देने लगी, दिशाएँ साफ हो गईं। कहीं भी धूल का नामोनिशान न रहा।

पानी के साथ बहती हुई धूल से धरती ने पूछा—“रेणुके! तुमने अपने उन्थान-पतन से क्या सीखा?” धूल ने कहा—“धरती माता! मैंने सीखा कि उन्नति पाकर किसी को गर्व नहीं करना चाहिए। गर्व करने वाले मनुष्य का पतन अवश्य होता है।”

मानव-मानव मानवी गरिमा की सबसे बड़ी कसौटी है—विनम्रता, निरहंकारिता।

में अंतर रूस के राजा एलेगजेण्डर अक्सर अपने देश की आंतरिक दशा जानने के लिए वेश बदल कर पैदल घूमने जाया करते थे। एक दिन घूमते-घूमते एक नगर में पहुँचे, वहाँ का रास्ता उन्हें मालूम न था। राजा रास्ता पूछने के लिए किसी व्यक्ति की तलाश में आगे बढ़े।

आगे उन्होंने एक हवलदार सरकारी वर्दी पहने हुए देखा। राजा ने उसके पास जाकर पूछा—“महाशय! अमुक स्थान पर जाने का रास्ता बता दीजिए। हवलदार ने अकड़ कर कहा—“मूर्ख! तू देखता नहीं, मैं सरकारी हाकिम हूँ, मेरा काम रास्ता बताना नहीं है। चल हट, किसी दूसरे से पूछ।” राजा ने नम्रता से पूछा—“महोदय! यदि सरकारी आदमी भी किसी यात्री को रास्ता बता दें, तो कुछ हर्ज थोड़ा ही है। खैर, मैं किसी दूसरे से पूछ लूँगा, पर इतना तो बता दीजिए कि आप किस पद पर काम करते हैं।” हवलदार ने और भी ऐंठते हुए कहा—“अंधा है क्या, मेरी वर्दी को देखकर पहचानता नहीं कि मैं कौन हूँ?” अलेगजेण्डर ने कहा—“शायद आप पुलिस के सिपाही हैं।” उसने कहा—“नहीं, उससे ऊँचा।” राजा—“तब क्या नायक हैं?” हवलदार—“उससे भी ऊँचा।” राजा—“हवलदार हैं?” हवलदार—“हाँ, अब तू जान गया कि मैं कौन हूँ, पर यह तो बता कि इतनी पूछताछ करने का तेरा क्या मतलब? और तू कौन है?” राजा ने कहा—“मैं भी सरकारी आदमी हूँ।” सिपाही की ऐंठ कुछ कम हुई, उसने पूछा—“क्या तुम नायक हो?” राजा ने कहा—“नहीं उससे ऊँचा।” हवलदार—“तब क्या आप हवलदार हैं?” राजा—“उससे भी ऊँचा।” हवलदार—“दरोगा?” राजा—“उससे भी ऊँचा।” हवलदार—“कप्तान?” राजा—“उससे भी ऊँचा।” हवलदार—“सूबेदार।” राजा—“उससे भी ऊँचा।”

अब तो हवलदार घबराने लगा, उसने पूछा—“तब आप मंत्री जी हैं?” राजा ने कहा—“भाई! बस एक सीढ़ी और बाकी रह गई है।” सिपाही ने गौर से देखा, तो सादा पोशाक में बादशाह एलेगजेण्डर सामने खड़े हैं। हवलदार के होश उड़ गए, वह गिड़गिड़ाता हुआ बादशाह के पाँवों पर गिर पड़ा और बड़ी दीनता से अपने अपराध की माफी माँगने लगा।

राजा ने मीठी वाणी में कहा—“भाई! तुम पद की दृष्टि के कुछ भी हो पर व्यवहार की कसौटी पर बहुत नीचे हो। जो जितना नीचा होता है, उसमें उतना ही अहंकार होता है, उतना ही वह अकड़ता है। यदि ऊँचा बनना चाहते हो, तो पहले मनुष्य बनो, सहनशील नम्र बनो। अपनी ऐंठ कम करो, क्योंकि तुम जनता के सेवक हो, इसलिए तुम्हारी तो यह विशेष जिम्मेदारी है।”

राष्ट्राध्यक्ष की ग्लेड्स्टन इंग्लैंड के प्रधानमंत्री थे। उनकी गणना संसार के सुप्रसिद्ध राजनीतिज्ञों में की जाती है।

सरलता एक दिन वे घूमने निकले, तब एक गाड़ीवान से उनकी भेंट हुई। गाड़ीवान ने गाड़ी में लोहा भर रखा था। ग्लेड्स्टन ने गाड़ीवान से लोहा लादकर लाने से मिलने वाले किराए आदि के बारे में पूछताछ की। इतने में रास्ते में एक टीला आ गया। घोड़ा को गाड़ी खींचने में तकलीफ होने लगी। यह देखकर ग्लेड्स्टन ने गाड़ीवान से पूछा—“अब तू क्या करेगा?”

गाड़ीवान ने कहा—“और क्या किया जा सकता है, कंधा लगाना पड़ेगा।”



ग्लेड्स्टन बोले-“अच्छा ! चलो, मैं भी कंधा लगता हूँ ।”

यह सुनकर ग्लेड्स्टन गाड़ी वाले के साथ कंधा लगाने लगे । थोड़ी देर में गाड़ी टीले पर चढ़ गई । गाड़ी वाले ने ग्लेड्स्टन का आभार माना और ग्लेड्स्टन अपने रास्ते चले गए ।

आगे जाने पर एक आदमी ने गाड़ीवान से कहा-“तुम जानते हो वह आदमी कौन था ?” गाड़ीवान बोला-“नहीं तो, मैं क्या जानूँ ?” उस व्यक्ति ने कहा-“अरे, वे तो ग्लेड्स्टन थे, अपने राष्ट्र के प्रधानमंत्री । नादान गाड़ीवान आश्चर्यचकित होकर बोला-“कौन, ग्लेड्स्टन ?”

ऐसी थी उस राष्ट्र के अध्यक्ष की सादगी और सरलता ।

ऊदबिलाव घाटे में रहे

एक छोटे ऊदबिलाव ने पानी में घुसकर मोटी मछली की पूँछ पकड़ी । मछली उसे पानी में खींच ले चली । उसने जोर से चिल्लाकर दूसरे साथी को पुकारा । वह दौड़ा आया और दोनों ने मिलकर उसे किनारे पर ला पटका । अब बाँटवारे का प्रश्न आया, तो दोनों उलझ पड़े । किसको कितना भाग मिलना चाहिए, इसका फैसला न कर सके ।

इतने में एक सियार उधर आ पहुँचा । दोनों ने उसे पंच बनाया । सियार ने वही नीति अपनाई, जो दो बिल्लियों के एक रोटी के लिए लड़ने पर बंदर ने अपनाई थी ।

सियार तगड़ा था । वह बाँटने के बहाने पूरी मछली चट कर गया और ऊदबिलावों को हाथ मलते हुए जाना पड़ा ।

आपस में सुलझाने की अपेक्षा, जो अन्यो से फैसला कराते हैं, वे इसी प्रकार घाटे में रहते हैं । सद्भाव और सहकार के अभाव में व्यक्ति अपने हाथ आई संपदा भी खो बैठता है । हमारे समाज में ऊदबिलावों जैसे मूर्ख-लालची व सियार जैसे धूर्त पंचों की कमी नहीं है ।

लालच की

अंतिम परिणति

एक तांत्रिक ने आकश से स्वर्ण वर्षा कराने की सिद्धि प्राप्त कर ली और अपने परम प्रिय शिष्य को भी सिखा दी । पर वर्ष में एक बार जब अमुक नक्षत्र उदय होता था, तभी वह प्रयोग हो सकता था ।

एक दिन दोनों कहीं यात्रा पर जा रहे थे कि रास्ते में चोर मिले । उनने दोनों को पकड़ लिया । बुझे को छोड़ दिया कि कहीं से हजार मुद्रा संग्रह करके लावे, तब उस युवक को छोड़ा जाएगा । गुरु ने शिष्य से धीरे से कहा-“तुम षबराना मत । जल्दी ही नक्षत्र आने वाला है, सो मैं माँगा धन लेकर आ जाऊँगा । पर तुम इसका प्रयोग जल्दबाजी में न कर बैठना, नहीं तो जान से भी हाथ धो बैठोगे ।”

दूसरे दिन ही वह नक्षत्र उदय हो गया । युवक धैर्य और विश्वास खो बैठा । उसने चोरों से कहा-“मुझे खोल दो । मैं अभी मंत्र द्वारा स्वर्ण मुद्रा वर्षा दूँगा । कुछ तुम ले लेना, कुछ मुझे दे देना ।” चोर सहमत हो गए । उसे खोल दिया । युवक ने प्रयोग किया और सोना बरसने लगा । उन सबको लेकर चोर चल दिए ।

रास्ते में उन चोरों का एक और बड़ा दुर्दांत दल आया । उससे सोना देखा, तो छीनने पर उतारू हो गए । पिछले चोरों ने सब बात बता दी और उस युवक से सोना बरसाने को कहा । चोरों ने युवक को पकड़ा, पर नक्षत्र निकल चुका था, वह वर्षा न करा सका, सो उसे दुराव करने वाला कह कर मार डाला ।

अब चोरों के दोनों दलों में लड़ाई होने लगी । उस लड़ाई में एक-एक आदमी दोनों दलों के बचे । शेष सब मारे गए । दोनों ने निश्चय किया, दिन में विश्राम कर लें । रात को चलेंगे । बात तय हुई । दोनों एक-एक गाँव से भोजन और शराब लेने गए । दोनों अपने सामान में जहर मिला लाए और उसे खाने-पीने पर दोनों मर गए ।

बूढ़ा तांत्रिक हजार रुपया लेकर वापस लौटा, तो देखा सभी मरे पड़े हैं । वह उस धन को छोड़कर खाली हाथ भागा कि मुफ्त का धन कहीं इन्हीं लोगों की तरह मेरे भी प्राण हरण न कर ले ।

अहंताजन्य वितेषणा से जो दुर्गति इन सभी की हुई, उसे समझदार मनुष्य भली-भांति समझते व परिश्रम की कमाई को ही महत्व देते हैं ।

लालची की प्राणहानि

जो है, उसी में संतोष करना ही बुद्धिमत्ता है । जो अधिक और अधिक के चक्कर में पड़ते हैं, वे प्राणों से भी हाथ धो बैठते हैं । अंधड़ आया उसके कारण एक विशाल



वृक्ष गिरा। पेड़ के नीचे एक ऊँट बैठा था उसकी कमर टूट गई और टहनियों पर लगे घोंसलों में पक्षी और अंडे-बच्चे कुचल कर चूर हो गए। ढेरों मांस वहाँ बिखरा पड़ा था।

एक भूखा सियार उधर से निकला और अनायास ही इतना भोजन पाकर बहुत प्रसन्न हुआ, सोचने लगा, महीनों तक पेट भरने का मसाला मिल गया। उसने संतोष की सांस ली। निश्चित होकर उसने नजर दौड़ाई, तो नदी तट पर एक बड़ा सा मेंढक दीखा। सियार ने सोचा पहले इसे लपक लिया जाय, नहीं तो यह डुबकी लगाकर भाग खड़ा होगा और हाथ से निकल जाएगा। सियार ने मेंढक पर झपट्टा मारा। मेंढक नदी में खिसक गया। सियार भी इस चिकनी मिट्टी में फिसलता चला गया और गहरे पानी में समा गया। इसे कहते हैं, लालच का फल।

तृप्ति के लिए छड़ी की आवश्यकता एक राजा ने बकरी पाली और प्रजाजनों की परीक्षा लेने का निर्णय किया कि जो इसे तृप्त कर देगा उसे सहस्र स्वर्ण मुद्राएँ पुरस्कार में मिलेंगी। परीक्षा की अवधि पंद्रह दिन रखी और बकरी घर ले जाने की छूट दे दी।

जो ले जाते, उसे भरपेट खिलाता और पंद्रह दिन उसका पेट भली प्रकार भर देता। इतने पर भी जब वह दरबार में पहुँचती, तो अपनी आदत के अनुरूप, रखे हुए हरे चारे में मुँह मारती। प्रयत्न असफल चला जाता। इस प्रकार कितनों ने ही प्रयत्न किया, पर वे सभी निराश होकर लौटे।

एक बुद्धिमान् उस बकरी को ले गया। वह पीछे तो पेट भर देता, पर जब सामने आता तो छड़ी से बकरी की खबर लेता। वह उसे देखते ही खाना भूल जाती और मुँह फेर लेती। यह नया अभ्यास जब पक्का हो गया, तो वह बकरी को लेकर दरबार में पहुँचा। छड़ी हाथ में थी। उसके सामने हरा चारा रखा गया, तो छड़ी को ऊँची उठाते ही उसने मुँह फेर लिया, राजा समझ गया कि वह पूर्ण तृप्त हो गई। इनाम उसे मिल गया।

रहस्य का उद्घाटन करते हुए राजपुरोहित द्वारा बताया गया कि तृष्णाएँ बकरी के सदृश हैं। वे कभी तृप्त नहीं होतीं। उन्हें व्रत, संकल्प और प्रतिरोध की छड़ी से ही काबू में लाया जा सकता है।

दुष्टता पर प्रेम की विजय मनुष्य की शान इसी में है, कि आत्म पर्यवेक्षण कर अपना दोष पढ़-देख लिया जाय। एक राजा नया-नया गद्दी पर बैठा, तो सब उसकी मात्र प्रशंसा करते। कोई दोष न बताता। ऐसी दशा में उसका सुधार और प्रगति-पथ ही अवरुद्ध हो रहा था।

राजा ने कुछ समय के लिए अवकाश लेकर सादा वस्त्रों में प्रवास के लिए निकलने का निश्चय किया, ताकि वह दूसरों के मुँह से अपने गुण ही नहीं, दोष भी जान सके। एक छोटे रथ में आवश्यक सामान लेकर राजा और सारथी निकल पड़े।

पूछताछ से अनेक भली-बुरी बातें मालूम हुई। चलते-चलते एक बहुत सँकरे मार्ग से रथ चल रहा था कि सामने से एक और रथ आ गया। उसमें भी कोई राजकुमार ही था। दो रथ एक साथ उस मार्ग में से निकल नहीं सकते थे। प्रश्न यह उठा कौन अपना रथ पीछे हटाए। प्रतिष्ठा का प्रश्न बन गया और रथ आमने-सामने अड़ गए।

अब दोनों के परिचय और गुण, दोनों का प्रसंग चला। जो हेठा पड़े, वह अपना रथ पीछे हटाए। दोनों के सारथी अपने-अपने मालिकों के गुण वर्णन करने लगे। आयु और धन की दृष्टि से दोनों समान थे, पर एक बात भिन्न निकली। एक सारथी ने कहा-“हमारे राजकुमार सज्जनों के साथ सज्जनता का व्यवहार करते और दुष्टों को दुष्टता से जीतते हैं।” दूसरे ने कहा-“हमारे स्वामी सज्जनों को अधिक सज्जनता बढ़ाने और दुष्टों को प्रेम से बदलने का प्रयास करते हैं।”

दुष्टों से दुष्टता करने वाले प्रथम राजा ने अपना रथ पीछे हटा लिया और प्रेम का शस्त्र चलाने वाले सामने वाले के लिए रास्ता खाली कर दिया। अपना दोष समझकर पहली बार की यह यात्रा समाप्त हो गई।

राम का आदर्श मानवी गरिमा पर प्रकाश डालते हुए मानसकार ने राम के चरित्र के माध्यम से बड़ी अच्छी व्याख्या की है।

नागरिक कर्तव्यों का पालन तो उतना भर है कि हम अपने उत्तरदायित्व को निबाहें और दूसरों के अधिकारों का व्यतिक्रम न करें। पर सज्जनों की शालीनता इससे भी आगे बढ़ जाती है। वे अपने उदार व्यवहार से दूसरों के सामने आदर्श उपस्थित करते हैं और अनुकरण की प्रेरणा देते हैं। मनुष्यता का गौरव बढ़ाने वाले विभूतियों को समाज



का ऋण और अमानत मानते हैं और उसका सदुपयोग लोकमंगल के लिए करते हैं-

कीर्ति भनिति भूति भलि सोई । सुरसरि सम सब कर हित होई ॥

कीर्ति (प्रभाव) कविता (साहित्य) और संपत्ति वही श्रेष्ठ है, जो गंगाजी की तरह सबका भला कर सके । अर्थात् जो विभूतियाँ लोकहित में न लग सकें, वे निकृष्ट हैं । विभूतिवालों को जो विशेषताएँ ईश्वर ने दी हैं, उन्हें भगवान् की धरोहर मान कर लोककल्याण में ही उनका प्रयोग करना चाहिए । आवश्यकता से अधिक मात्रा में जमा संपत्ति का यही सदुपयोग है कि उसे जल्दी सत्प्रयोजनों के लिए वितरित कर दिया जाय । रावण ने प्रचुर संपत्ति जमा कर रखी थी । सिंहासनारूढ़ होने पर वह विभीषण को मिली । इस संचय का धन क्या किया जाय ? यह बात उन्होंने श्रीराम से पूछी । राम ने उसे तुरंत वितरण करके संग्रह के पाप का तत्काल प्रायश्चित्त करने की सलाह दी । तदनुसार वह संपदा आवश्यकता वाले लोगों एवं कार्यों के लिए अविलंब दे दी गई ।

**विशेषताभिरैताभिर्युक्ता एव तु मानवाः ।
वक्तुं शक्या वसन्त्यत्र मर्त्यदेहे हि देवताः ॥ १६ ॥
भगवानत्र प्राकट्यं याति देहे सदैवं सः ।
मनुकार्येषु ये लग्ना अभिनन्द्येषु सन्ततम् ॥ १७ ॥
उपक्रमेषु पुण्योपकारयो रसबोधिनः ।
आत्मनो जगतश्चापि कल्याणार्थं तपो रताः ॥ १८ ॥
कष्टानां सहने हर्षो येषां ते भूसुरा मताः ।
उदारमानसा मर्त्याः करुणामूर्त्योऽनघाः ॥ १९ ॥
ऋषिर्मनीषी देवात्माऽवतारो वा निगद्यते ।
महामानव इत्येष समुदायो जनैरिह ॥ २० ॥**

भावार्थ-ऐसी विशेषता से युक्त लोगों को ही सच्चा मनुष्य कहना चाहिए । मनुष्य शरीर में ही देवता रहते हैं । इसी में भगवान् प्रकट होते हैं । जो अनुकरणीय-अभिनंदनीय बनाने वाले उपक्रमों में निरत रहते हैं, जिन्हें पुण्य-परोपकार में रस आता है और आत्म-कल्याण एवं विश्व-कल्याण के लिए तपश्चर्या रत रहने, कष्ट सहने में प्रसन्नता होती है । ऐसे दयालु, निष्पाप, उदारमना लोगों को भूसुर-धरती का देवता कहते हैं । इसी समुदाय को महामानव ऋषि, मनीषी, देवात्मा एवं अवतार कहते हैं ॥ १६-२० ॥

व्याख्या-स्वर्गलोक के निवासी देवता कहलाते हैं । उत्कृष्टता का नाम ही स्वर्गलोक, ऊर्ध्वलोक है । देवता और कोई नहीं, मनुष्य शरीर में निवास करने वाली सत्प्रवृत्तियाँ ही हैं । 'देवता' की एक शब्द में परिभाषा करनी हो, तो उसे देने की प्रवृत्ति का प्रतिनिधित्व कहा जा सकता है । देव प्रकृति की उमंगे अंदर से उठने लगे अर्थात् अपनी आवश्यकताएँ हँसते-हँसते पूरी करने के साथ-साथ अन्य असंख्यों की सहायता कर सकने की आकांक्षा अंदर से जन्म लेने लगे । अंतःकरण का उदात्त होना अपने आप में इतना बड़ा सौभाग्य है कि उसके उपरांत, विलास, वैभव का, सुविधा-साधनों की संपन्नता का होना, न होना कुछ अर्थ नहीं रखता । देवता बदले में न कुछ चाहते हैं, न स्वीकारते हैं, इसलिए वे पूजे जाते हैं । मनुष्य में सदैव अन्य स्तरों की तरह देवत्व भी विद्यमान रहा है । चेतना की यह वरिष्ठ स्थिति ही मानवी सत्ता की प्रगति का मूल कारण रही है ।

परोपकार की महिमा

सुकरात कहते थे-"मैंने इतना किया, पर इसका बदला मुझे क्या मिला ?" ऐसे विचार करने की उतावली न कीजिए । बादलों को देखिए, वे सारे संसार पर जल बरसाते फिरते हैं, किसने उनके अहसान का बदला चुका दिया ? बड़े-बड़े भूमि खंडों का सिंचन करके उनमें हरियाली उपजाने वाली नदियों के परिश्रम की कीमत कौन देता है ? हम पृथ्वी की छाती पर जन्म भर लदे रहते हैं और उसे मल-मूत्र से गंदी करते हैं, किसने उसका मुआवजा अदा किया है ? वृक्षों से फल, छाया, लकड़ी पाते हैं, पर उन्हें हम क्या कीमत देते हैं ?"

परोपकार स्वयं ही एक बदला है। त्याग करना अजनबी आदमी को एक घाटे का सौदा प्रतीत होता है, पर जिन्हें परोपकार करने का अनुभव है, वे जानते हैं कि ईश्वरीय वरदान की तरह यह दिव्य गुण कितना शांतिदायक है और हृदय को कितना बल प्रदान करता है। उपकारी मनुष्य जानता है कि मेरे कार्यों से कितना लाभ दूसरों को होता है, उससे कई गुना अधिक, स्वयं मेरा होता है।

त्याग करना, किसी की कुछ सहायता करना, उधार देने जैसा वैधानिक पद्धति है, जो कुछ हम दूसरों को देते हैं, वह हमारी रक्षित पूँजी की तरह परमात्मा की बैंक में जमा हो जाता है। जो अपनी रोटी दूसरों को बाँटकर खाता है, उसको किसी बात की कमी न रहेगी। जो केवल खाना और जमा करना ही जानता है, उस अभागे को क्या मालूम होगा कि त्याग में कितनी मिठास छिपी हुई है?

मर्यादाओं से आबद्ध रहकर नागरिक कर्तव्यों का पालन करते रहना, उद्धत आचरणों से बचना, शील और सौजन्य को निबाहना—यह मनुष्यता का आवश्यक उत्तरदायित्व है। जिन्होंने अपने भीतर आत्मा को समझा है और उसकी गौरव-गरिमा को ध्यान में रखा है, उसे संयम, सदाचार और कर्तव्यनिष्ठा से जुड़ा हुआ शालीन जीवन जीना ही पड़ेगा।

महात्मा कौन ? महात्मा की गरिमा इससे अगली मंजिल है। महान् का अर्थ है, विशाल-व्यापक। जो आत्मा अपने शारीरिक, मानसिक और पारिवारिक कर्तव्यों से आगे बढ़कर विश्व मानव के उत्तरदायित्वों को वहन करने के लिए अग्रसर होता है, मानवीय कर्तव्यों से आगे के देवकर्तव्यों को वहन करने के लिए तत्पर होता है, वह महात्मा है। महात्मा अपने लिए नहीं सोचता, विराट् के लिए सोचता है, अपने लिए नहीं करता, विराट् के लिए करता है, अपने लिए जीवित नहीं रहता, विराट् के लिए जीता है।

सच्चा योगी दो शिष्य आपस में लड़ रहे थे, एक कहता था सच्चा योगी मैं हूँ, मैंने काम पर विजय पा ली है, दूसरा कहता था, मैंने पद्मासन सिद्ध कर लिया है, मैं तुमसे भी बड़ा हूँ।

आचार्य ने दोनों की सुनकर कहा—“सच्चा योगी तो मृगाल है, जो अपने लिए कभी कुछ कहता ही नहीं, सदैव संसार के कल्याण की बात सोचता रहता है।”

कीमती वस्तु महामुनि गौतम ने भगवान् महावीर से पूछा—“संसार में सबसे कम किस योनि के जीव हैं ?”
अल्प मात्रा में उन्होंने उत्तर दिया—“सबसे कम मानव हैं। जो कीमती वस्तु है, वह अल्प मात्रा में होती है।”
 ईश्वर भी महान् है कि मनुष्य उसकी उपासना करता है और मनुष्य इसलिए महान् है कि वह ईश्वर बन सकता है। सारी पृथ्वी में २/३ जल है और १/३ स्थल है। उसमें भी ३५ लाख योजन भूमि में मानव बसता है। शेष तो हजारों-लाखों विशालकाय पर्वत, नदी, नालों और घने जंगलों से भरी है, जिसमें अनेक जीवधारी निवास करते हैं।

नरक में भी स्वर्ग देवमानव स्वर्ग के अधिकारी होने पर, परपीड़ा निवारण हेतु नरक में रहना स्वीकारते हैं। युधिष्ठिर को एक दिन का नरक मिला और सौ वर्ष का स्वर्ग। पहले क्या भुगतना है, यह पूछे जाने पर उनसे नरक से निपटना पसंद किया।

नरक में पहुँचने पर उनके शरीर से शीतल गंध आने लगी और तपते नरक निवासियों को राहत मिली। वे कहने लगे कि आप यहीं रहें, तो अच्छा है। युधिष्ठिर ने अपना पुण्य नरकवासियों को देकर उन्हें स्वर्ग पहुँचा दिया और स्वयं उनका पाप ओढ़कर नरक में ही रहने लगे।

नरक का वातावरण भी युधिष्ठिर के रहने से स्वर्ग जैसा बन गया। मनुष्य शरीरधारी सत्प्रवृत्तियों के धनी जहाँ भी रहते हैं, स्वर्ग जैसा वातावरण बना देते हैं।

स्वर्ग मुस्कानों में छिपा स्वर्ग जाने की तरकीबें पूछने के लिए कितने ही जिज्ञासु बैठे हुए थे। संत ने कहा—“हमें नरक के दुखियारों की सेवा, सहायता करने के लिए चलना चाहिए। स्वर्ग उन्हीं की मुस्कानों में छिपा मिलेगा।”

शुकदेव की देव दृष्टि अप्सरा रम्भा शुकदेव जी को लुभाने पहुँची। शुकदेव जी सहज विरागी थे। उन्होंने उसकी ओर ध्यान नहीं दिया। रम्भा उनका ध्यान अपनी ओर आकर्षित करने लगी।



उन्होंने पूछा—“देवि ! आप मेरा ध्यान अपनी ओर क्यों आकर्षित करने का प्रयास कर रही हैं ?” रम्भा ने कहा—
“तुम्हें जीवन का ऐसा रस चखाने हेतु, जो तुमने नहीं चखा ।”

शुक बोले—“देवि । मैं तो उस सार्थक रस को पा चुका हूँ, जिससे क्षण भर हटने से जीवन निरर्थक होने लगता है ।

“न सेवितो येन क्षणे मुकुन्दो वृथा गतं तस्य नरस्य जीवनम् ॥”

एक क्षण के लिए भी यदि परमात्मा का सेवन न किया जाय, तो मनुष्य का जीवन निरर्थक होने लगता है । इसलिए, देवि मैं तो उस रस को छोड़कर जीवन को निरर्थक बनाना नहीं चाहता । कुछ और रस हो भी तो मुझे क्या ?

रम्भा ने अपने रूप शरीर की विशेषताएँ बतलानी प्रारंभ कीं । शुकदेव ने सुना और बोले—“देवि । आज हमें पहली बार यह पता लगा कि नारी शरीर इतना सुंदर, सुगंधित होता है । अब आपकी कृपा से यह पता लग गया । अब यदि भगवत् प्रेरणा से पुनः जन्म लेना पड़ा, तो नौ माह आप जैसी ही किसी माता के गर्भ में रहकर इसका सुख लूँगा । अभी तो प्रभु कार्य ही प्रधान है ।”

सहज विरागी शुक ने नारी शरीर की निंदा नहीं की । केवल अपनी एकनिष्ठ बुद्धि से विधेयात्मक मार्ग चुना ।

मेरे लिए बस एक पंढरपुर के विट्ठल मंदिर में भक्तों की लंबी कतार लगी थी । लोग स्तुति-प्रणाम करते, भेंट चढ़ाते बढ़ते जाते थे । लक्ष्मी जी भगवान् से बोलीं—“इतने भक्त इतनी उमंग से आ-जा रहे हैं, आप हैं कि नीची दृष्टि किए उदास खड़े हैं ?”

भगवान् बोले—“देवि ! मैंने पंक्ति के अंत तक दृष्टि डालकर देख लिया । सभी अपने-अपने स्वार्थों के लिए आए हैं । मेरे लिए कोई नहीं आया है । जो मेरे लिए आता है, उसे देखकर मेरी आँखें द्रवित-पुलकित होती हैं ।”

लक्ष्मी जी उदास होने लगीं, बोलीं—“क्या ऐसा कोई नहीं है, जो हमारे लिए हमारे पास आए ?” भगवान् बोले—“है, तुकाराम ! पर वह बीमार पड़ा है, यहाँ तक चलकर आ नहीं सकता । चारपाई पर दर्शन के लिए व्याकुल पड़ा है ।” लक्ष्मी जी की उदासी हटी, बोलीं—“तो चलिए न, हम ही उसे दर्शन दे आएँ ।”

मंदिर में मूर्ति के आगे दर्शनार्थियों की भीड़ टूटी पड़ रही थी और भगवान् सच्चे दर्शनार्थी की खोज में तुकाराम के पलंग के सामने खड़े थे ।

सच्ची भगवत् साधना सेवा धर्म के समर्पित साधक जिस भी कार्य में स्वयं को नियोजित करते हैं, चाहे कितना ही छोटा क्यों न हो, पूजा-उपासना मानकर चलते हैं । विनोबा के पवनार आश्रम में एक साधक कोटि के बाबा रहते थे । उन्हें मेहतर का काम सुपुर्द किया गया था । आरंभ में कई साथी काम करते थे, पर वे चले गए, तो वह पूरा काम अकेले कोटि बाबा को ही करना पड़ा ।

विनोबा जेल से लौट कर आए और उनसे कोटि बाबा से पूछा कि आपका धंधा कैसा चल रहा है ? उनसे उत्तर दिया—“जब साथी थे, तब लगता था सत्संग हो रहा है । जब अकेला रह गया, तो लगा ध्यान और भजन में निरत रहने का सुयोग मिला ।”

बड़ा कौन ? किसी जिज्ञासु ने ईरान के दर्शनिक कवि शेख सादी से प्रश्न किया—“भगवन् ! परोपकारी बड़ा होता है या ताकतवर ?”

शेख सादी ने उत्तर में कहा—“पहले तुम मेरे एक प्रश्न का उत्तर दो, यह बताओ कि हातिम के समय में सबसे बड़ा पहलवान कौन था ?”

जिज्ञासु ने बहुत सोचा-विचारा, पर उसे पर्याप्त समय तक प्रयत्न करने पर भी इसका उत्तर न सूझ पड़ा । अंत में उसने कहा—“हातिम के उपकार तो बहुत विख्यात हैं, पर उस जमाने के किसी पहलवान ने ऐसा कोई काम नहीं किया, जिसके कारण उसे आज तक याद रखा जाता ।”

खलीफा नहीं सेवक हजरत अबूबकर को खलीफा बनाया गया । सब लोग खुश थे, पर एक बुद्धिया परेशान लगती थी । पूछने पर उसने बताया—“पहले अबूबकर मेरी बकरियाँ दुह दिया करता था, पर अब बड़ा आदमी होने पर मेरे काम क्यों आएगा ?”

हजरत ने उसे यकीन दिलाया कि तेरी बकरियाँ पहले की तरह दुहने आया करूँगा, खलीफा हो गया



हूँ तो क्या ? और खलीफा ने यही किया भी ।

देशहितार्थीय

देशबंधु चितरंजन दास हजारों रुपए की अच्छी-खासी चलती हुई वकालत छोड़कर देश की स्वतंत्रता के लिए असहयोग आंदोलन में कूद पड़े । उन्होंने भारतीय युवकों का आह्वान किया कि वे युग धर्म समझते हुए इस आंदोलन के लिए व्यक्तिगत महत्वाकांक्षाओं का परित्याग करें । उनके इस आह्वान की प्रतिक्रिया हुई सात समंदर पार आई० सी० एस० की परीक्षा उत्तीर्ण करने के लिए गए एक भारतीय युवक के हृदय पर । उसने उन्हें पत्र द्वारा सूचित किया कि वह उनके इस आह्वान पर अपनी महत्वाकांक्षाओं का देश हित में बलिदान करता है । यह युवक थे सुभाषचंद्र बोस । जिन्होंने उस भावना को साकार कर दिखाया ।

रोयें नहीं, खुशी व्यक्त करें

स्वतंत्रता संग्राम के समय की बात है । लालबहादुर शास्त्री नहीं चाहते थे उनके बंदी बनाए जाने पर उनकी माता, पत्नी और परिवार के लोग रोयें । अतः उन्होंने पहले ही अपनी माताजी को समझाया तो बोलीं—“लेकिन बेटा, मोह-ममता का भी अपना एक स्थान है । प्रियजन के कष्ट में दुःखी हो जाना या रो पड़ना कोई बुरा तो नहीं ?”

“आप ठीक कहती हैं, पर यदि ऐसे अवसरों पर प्रसन्नता व्यक्त की जाय, तो बच्चों को आदर्श की प्रेरणा मिलेगी ।” बेटे की यह युक्ति युक्त कथन माँ को मानना व तदनुरूप आचरण करना पड़ा ।

दुखियों की सेवा में संलग्न बालक

स्विट्जरलैंड की एक ग्राम सभा में श्वाइत्जर पिछड़ी दुनियाँ की कष्ट कथा कह रहे थे और उदारजनों को उनकी सेवा-सहायता के लिए संलग्न होने का आह्वान कर रहे थे । कथा समाप्त होने पर अन्य लोग तो कुछ पैसा देकर अपने-अपने घर चले गए । पर एक बालक बैठा ही रहा । उसने कहा—“मुझे भी अपने साथ ले चलिए । मैं भी परमार्थी जीवन जीना चाहता हूँ ।” श्वाइत्जर ने उसके सिर पर हाथ फिराया और कहा—“अभी तुम बहुत छोटे हो, आयु बढ़ने दो । संकल्पों को पक्का करो और योग्यता बढ़ाओ । मुझे बड़ी प्रसन्नता होगी यदि तुम परमार्थ परायण जीवन जी सको ।”

लड़के ने निश्चय कर लिया और वह शिक्षा की पूर्णता तथा आयु की परिपक्वता की प्रतीक्षा करने लगा । संकल्प को उसने दृढ़ रखा । उसका नाम था थियोडोर वाइजर ।”

वह दक्षिण अमेरिका के दास समाज की सेवा करने लगा । पेरू में उसने अपना छोटा आश्रम बनाया । वहाँ के लोग उन्हें यातुल पाता कहते थे । न केवल चिकित्सा द्वारा, शिक्षा द्वारा, वरन् उनका मनोबल बढ़ाने के प्रयासों में भी निरंतर लगा रहा, पिछड़े लोगों जैसा ही कम खर्च का जीवन जिया ।

संत की-चिकित्सक की दृष्टि

साइमन नामक एक धर्मात्मा के यहाँ ईसा पहुँचे और उठरे । इतने में मैगडलन नामक वैश्या आई और अपने पापों का प्रायश्चित्त कराने के लिए ईसा के सम्मुख रोने लगी । ईसा साइमन को सांत्वना देकर पहले मैगडलन के यहाँ गए और उससे बुराई छुड़ाकर सभ्य नागरिकों की तरह रहने की प्रतिज्ञा कराई ।

लौटने पर असमंजस में पड़े शिष्यों से उनका कहा—“चिकित्सक की जरूरत स्वस्थ मनुष्य की अपेक्षा रोगी को अधिक होती है ।

अंगिरा का नामकरण

महर्षि अंगिरा का जन्म ब्रह्मा जी द्वारा सृष्टि यज्ञ करते समय उत्पन्न ऊर्जा से हुआ । उनके गुण भी यज्ञाग्नि जैसे ऊर्ध्वमुखी, समीपवर्ती को अपने जैसे बना लेना, जो हाथ आए उसे वायुभूत बनाकर लुटा देने जैसे सद्गुण थे । गुणों के आधार पर उनका नाम अंगिरा रखा गया । मनुष्य रूप में ऊर्ध्वगति वाले, श्रेष्ठ चिंतन वाले व्यक्ति देवता अकारण नहीं कहलाते ।

महाप्रभु ईसा

कुमारी मरियम के पेट से जन्मे ईसा मसीह भेड़ चराते थे । पीछे उन्होंने जीवन की गरिमा समझी और समाज के प्रति अपने कर्तव्यों का मूल्यांकन किया और सामान्यजनों की तरह जीवन की कार्यपद्धति बनाने का निश्चय किया । वे किशोरावस्था में भारत आए । बौद्ध दर्शन को गंभीरतापूर्वक समझा । तीर्थयात्रा के माध्यम से विशिष्टजनों के संपर्क में आए और अपने देश लौट गए ।

उस क्षेत्र में यहूदी कट्टरपंथियों का बोलवाला था । उनका धर्म कथन और श्रवण तक सीमित था । इतने भर में ही कल्याण मान लेते थे ।

ईसा ने आचरण की महत्ता बताई। दुखिहारों का दुःख दूर करने में धर्म बताया। इसी आचरण पर धर्म का विस्तार करने वे गाँव-गाँव घूमे। मनुष्यों के बीच जो ऊँच-नीच का भेद-भाव चल रहा था, उस पर तीखे प्रहार किए। इससे पुरातन पंथी उनसे बहुत क्रुद्ध हो गए और धर्म विरोधी का अभियोग उन पर चलाया। उन्हें मृत्युदंड दिया गया, जिसे उन्होंने शांतिपूर्वक स्वीकार किया। ईसा की विचारधारा रुकी नहीं, आज ढाई अरब की संख्या में उनके अनुयायी हैं।

भवन्ति मानवाः प्रायः समाना एव यद्यपि।

वातावृत्या च सङ्गः प्रायः गच्छन्त्युच्चैः पतन्त्यधः ॥ २१ ॥

भावार्थ—मनुष्य प्रायः सभी एक जैसे होते हैं। वातावरण एवं संगति के प्रभाव से वे ऊँचे उठते या पतित होते हैं ॥ २१ ॥

विद्यैवैषा मनुष्यस्य संस्कारित्वं स गौरवम्।

विदधाति तदाधारात् समाजो व्यक्तिरेव च ॥ २२ ॥

श्रेयः सौभाग्ययोगं च प्राप्नुतो मानवेप्सितम्।

अतः श्रेष्ठं धनं विद्या सौभाग्यं चाऽपि कीर्तिता ॥ २३ ॥

भावार्थ—विद्या ही मनुष्य की सुसंस्कारिता को गरिमा प्रदान करती है और उसी आधार पर व्यक्ति तथा समाज को श्रेय सौभाग्य का सुयोग प्राप्त होता है, जो मानव मात्र का लक्ष्य है। अतः निश्चित रूप से विद्या एक श्रेष्ठ धन है व मानव मात्र का सौभाग्य स्वरूप है ॥ २२-२३ ॥

व्याख्या—आकृति-प्रकृति भिन्न होते हुए भी जन्मोपरांत सभी मनुष्य प्रतिभा, गुण-कर्म-स्वभाव की दृष्टि से एक ही स्तर के पाए जाते हैं। जैसा परिवेश होता है एवं जैसे व्यक्तियों का साथ मिलता है, वैसा ही उस व्यक्ति का विकास या अधःपतन होता है। अनेक उदाहरण मिलते हैं, जिनमें जन्मजात प्रतिभा उच्चस्तरीय होते हुए भी वैसा पोषक वातावरण परिवार संस्था एवं समाज परिकर में न मिल पाने के कारण उनका विकास समुचित नहीं हो सका। उलटे उसके स्थान पर गलत दिशा मिलने के कारण प्रवाह उलटी दिशा में चला गया। इसके विपरीत ऐसे भी उदाहरण हैं, जिसमें सही संस्कार मिलते रहने की सतत व्यवस्था, सत्संगति एवं वातावरण की श्रेष्ठता ने श्रेष्ठ व्यक्तियों के निर्माण में मदद की, जबकि प्रतिभा व सुख-सुविधा के साधनों की दृष्टि से पूर्व में गई-बीती परिस्थितियों में थे।

शिक्षण के दो वर्ग हैं। एक भौतिक उपार्जन-उपभोग, दूसरा व्यक्तित्व का विकास-परिष्कार। समग्र शिक्षण के लिए दोनों ही वर्ग समुचित परिस्थितियाँ चाहते हैं। शिल्प-उद्योग भर सिखाने हों, भौतिक जानकारी देनी हों, तो जिसे जहाँ सुविधा हो, वहाँ शिक्षण की व्यवस्था की जा सकती है। व्यक्तित्व निर्माण हेतु वातावरण की अनुकूलता चाहिए। अन्यथा शिक्षण के नाम पर व्यक्ति को जानकारी भरा मिलती रहेंगी, सुसंस्कारिता बढ़ाने वाली, मानव को उसकी गरिमा के अनुरूप श्रेय पद दिलाने वाली, विद्या रूपी संपदा मिलने का सुयोग न बन पड़ेगा।

वातावरण का सूक्ष्म प्रभाव वातावरण का सूक्ष्म प्रभाव और महर्षि वाल्मीकि की शिक्षा, दीक्षा-दिशा निर्देश ने ही लवकुश को महान्, प्रतापी, वीर और सुयोग्य बनाया था। वातावरण के सूक्ष्म प्रभाव को देखकर ही श्रीकृष्ण भगवान् ने महाभारत युद्ध के लिए कुरुक्षेत्र को रणक्षेत्र के लिए चुना था। मातृ-पितृभक्त श्रवण कुमार ने तीर्थयात्रा के समय एक स्थान पर रुककर अपने माता-पिता की कंधे पर से उतार कर पैदल चलने के लिए बाध्य कर दिया था। यह उस स्थान विशेष के वातावरण का प्रभाव था। भले-बुरे वातावरण के प्रभाव को सर्वत्र देखा जा सकता है। प्राचीन काल में ऋषि-मुनियों के आश्रमों में सिंह और गाय एक ही घाट पर पानी पीते थे। यह उनकी 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' की भावना-मान्यता से उत्पन्न वातावरण का ही प्रभाव था।

जिज्ञासा, वातावरण और सत्संग की त्रिवेणी विद्यार्थी की जिज्ञासा, वातावरण का प्रभाव और मूर्धन्यों के सत्संग का समन्वय गंगा-यमुना-सरस्वती का संगम बनाता और तीर्थराज जैसी उत्कृष्टता उत्पन्न करता है। ऐसे ही संगम में कौये-कोयल और बगुले-हंस बनने का

कृत्य-उपक्रम करते देखे गए हैं। महर्षि व्यास ने गंगोत्री के निकट व्यास गुफा में महाभारत सहित अठारहों पुराण लिखे थे। महर्षि वशिष्ठ ने राम-लक्ष्मण-भरत-शत्रुघ्न समेत मूर्धन्यों को अलखनंदा-भागीरथी संगम पर योग-वशिष्ठ पढ़ाई थी। हिमालय की गोद और गंगा के तट पर ऐसे ही महान् प्रयोजन स्थान-स्थान पर होते रहे। चरक और बाभ्रट्ट ने वनस्पतियों से रोगनिवृत्ति का महान् अनुसंधान यहीं किया था।

सप्त ऋषियों ने अपनी तपस्थली हिमालय की छाया और गंगा की गोद में ही बनाई थी। भगवान् राम, लक्ष्मण, भरत, शत्रुघ्न अयोध्या की सुविधाओं को छोड़कर गंगातट की दिव्य विशेषताओं को ध्यान में रखते हुए ही इस क्षेत्र में तप करने के लिए आ गए थे। तपस्वियों-जिज्ञासुओं की परंपरा हिमालय क्षेत्र में पहुँचने और गंगा तट पर निवास करने की रही है। यह सब अकारण ही नहीं होता रहा है। तत्त्वदर्शी अध्यात्मविज्ञानियों ने शारीरिक, मानसिक और आत्मिक अनुकूलताओं, उपलब्धियों को ध्यान में रखते हुए ही इस प्रकार का चयन किया था। गंगा यों एक नदी भर है, पर सूक्ष्म दृष्टि से उसे प्रवाहमान देवसत्ता ही कहा जा सकता है। उसके स्थानः, दर्शन, जलपान आदि से सहज ही पवित्रता का संचार होता है। माता की गोदी में रहने के समान ही उसके सान्निध्य का भाव-भरा आनंद अभी भी भावनाशील लोग सहज ही उपलब्ध करते हैं।

काशी, उज्जैन आदि कभी प्रख्यात विद्या के केन्द्र रहे हैं। उसी आधार पर नालंदा, तक्षशिला जैसे विश्वविद्यालय भी विनिर्मित होते रहे हैं और उनसे निकलने वाले व्यक्ति नर-रत्नों, महामानवों की कोटि में गिने जाते रहे हैं। यह सब वातावरण और संकल्प का प्रतिफल था।

आइन्स्टीन की एकांत साधना अमेरिका सरकार ने महान् वैज्ञानिक आइन्स्टीन की निवास व्यवस्था इस प्रकार की थी, जिसमें उन्हें मनचाही सुविधा तो रहे, किन्तु उनके एकांत-चिंतन में किसी को भी हस्तक्षेप करने का अवसर न मिले। वे जब चाहें, जिसे चाहें उसी से भेंट हो सके। अन्य लोग कितने इच्छुक-उत्सुक क्यों न हों, उन्हें शांति भंग करने और चिंतन प्रवाह में व्यवधान उत्पन्न करने की छूट नहीं मिलती थी। सुविधा ही नहीं, प्रतिबंध भी गंभीर चिंतन में अपेक्षित होते हैं। इसी उदाहरण को ऋषि कल्प महामनीषियों के साथ जोड़ा जा सकता है। वे स्वेच्छापूर्वक ऐसे वातावरण में रहते थे, जहाँ मात्र उपयोगी व्यक्ति ही उन तक पहुँचे।

दृष्टि का अंतर संस्कृति और सभ्यता में मापदंड अलग-अलग हैं। विवेकानंद के गेरुए कपड़े देखकर सड़क पर चलने वाले हैंस पड़े। स्वामी जी ने मुस्कराते हुए इतना ही कहा-“आपके देश में मनुष्य को दर्जी सभ्य बनाता है, पर मैं उस देश से आया हूँ, जहाँ ज्ञान और त्याग से सभ्य बना जाता है।”

बाल्यकाल के संस्कार गांधी जी ने बचपन में एक दिन राजा हरिश्चंद्र का नाटक देखा। उसे देखकर वे इतने प्रभावित हुए कि उनसे निश्चय कर डाला कि ऐसी ही सत्यनिष्ठा का अपने जीवन में समावेश करूँगा, चाहे कितने ही कष्ट क्यों न उठाने पड़ें।

बाल्यकाल में लिया हुआ वह व्रत उनका भली प्रकार निभा एवं इसी ने उन्हें विश्वबंध महात्मा बनाया। नारद जी ने एक दिन अंबरीष से पूछा कि आप पाँच मूर्ख आदमियों के साथ स्वर्ग जाना पसंद करेंगे या पाँच बुद्धिमान आदमियों के साथ नरक जाना? अंबरीष ने उत्तर दिया-“भगवन् ! बुद्धिमान-विद्या संपन्न आदमियों के साथ नरक में रहना भी स्वर्ग में रहने के समान होगा। मूर्ख लोग तो स्वर्ग को भी नरक बनाकर रख देंगे।”

जितने प्रशंसक उतना पतन संगति किस प्रकृति के व्यक्तियों की है, इस पर विकास निर्भर करता है। चापलूसों का जमघट व्यक्तित्व संवर्द्धन में किसी भी तरह सहायक सिद्ध नहीं होता। संत शिवली के गुरु उनके आश्रम का निरीक्षण करने आए। देखा, तो प्रशंसकों का जमघट लगा हुआ था। आशीर्वाद देकर उनकी मनोकामना जो पूर्ण की जाती थी।

गुरु बहुत अप्रसन्न हुए, बोले-“प्रशंसक इतने अधिक और निंदक इतने कम। इससे तुम्हारा अहंकार बढ़ेगा और लोगों को सन्मार्ग पर चलाने की अपेक्षा तुम इनके हाथों की कठपुतली बन जाओगे।”

शिवली की आँखें खुलीं। उनसे धर्मोपदेश देना आरंभ किया, तो मनोकामना पूरी कराने वालों की



भीड़ से उन्हें सहज ही छुटकारा मिल गया ।

सही समय पर सही निर्देश

इंग्लैंड के बादशाह हेनरी पंचम जब युवराज थे, तब बड़े उजड़ू थे । एक बार न्यायाधीश ने किसी अपराधी को कानून के अनुसार दंड दिया । इस पर हेनरी ने न्यायाधीश से कहा—“मैं युवराज की हैसियत से आदेश देता हूँ कि आप इसे छोड़ दें ।”

न्यायाधीश ने आदेश नहीं माना और कहा—“कानून युवराज से बड़ा है ।” इस पर बौखलाए हेनरी ने न्यायाधीश को एक थप्पड़ जड़ दिया । जज ने तुरंत पुलिस बुलाकर उसे जेल में बंद करा दिया । साथ ही एक नोट लिख कर भेजा—“आगे चलकर आपको इस देश का राजा बनना है । अगर आप ही राज्य के कानूनों का सम्मान न करेंगे, तो प्रजा आपकी आज्ञा क्यों मानेगी ?”

हेनरी ने अपनी भूल मानी और माफ़ी माँगी । जब वह राजा बना । तब भी उस न्यायाधीश की घटना को सदा सगहता रहा ।

राजा को सम्मार्ग दिखाया

एक राजा था । ज्ञानवान् होते हुए भी वह स्वार्थी था । एक दिन सिपाही ने गश्त लगाते हुए देखा एक आदमी कंधे पर पोटली लिए रात में घूम रहा है । उसने आदमी को बंदी बनाकर दूसरे दिन राज दरबार में प्रस्तुत किया । “कौन हो तुम ? क्या नाम है तुम्हारा ? कहाँ से आए हो ? और क्या करते हो ?”—राजा ने एक ही साथ कई प्रश्नों की झड़ी लगा दी ।

“राजन् ! कथा कहने वाला पंडित हूँ मैं । सत् मार्ग पर चलना और दूसरों को उपदेश देना मेरा व्यवसाय है । पास के एक छोटे गाँव में ही रहता हूँ । आपसे भेंट करने की इच्छा थी सो चला आया इस ओर ।”—पंडित ने बड़ी नम्रता के साथ अपनी बात कही ।

“तो फिर कंधे पर पड़ी इस पोटली में क्या है ?”—राजा ने उँगली के इशारे से पूछा ।

“इसमें तीन मूर्तियाँ हैं—एक मिट्टी की, दूसरी लकड़ी की और तीसरी पत्थर की । पर आकृति एक सी ही है । फिर भी मूल्यों में अंतर है । एक दस रुपये की, दूसरी सौ रुपये की और तीसरी पाँच सौ रुपये की ।”

राजा ने पूछा—“एक सी मूर्तियों के लिए कीमत अलग-अलग क्यों ?” ब्राह्मण ने बताया—“आर्य ! पत्थर की मूर्ति सौंदर्य और स्थिरता का प्रतीक है । जिनका जीवन सुंदर होता है । वे शरीर से न रहें, तो भी उनका यश अजर-अमर रहता है । उनकी श्रद्धा-प्रतिष्ठा सामान्य लोगों से बहुत अधिक होती है । दूसरी लकड़ी की मूर्ति है । स्थिर तो है, पर गिरे तो टूट सकती है । जो सांसारिक परिस्थिति से भयभीत होकर घर छोड़कर आत्मकल्याण के लिए जंगल चले जाते हैं । परिस्थिति बनने पर कभी टूट भी जाते हैं । वह लकड़ी की मूर्ति की तरह है । तीसरी मिट्टी की मूर्ति—मनुष्य के निकृष्ट इंद्रिय परायण जीवन प्रतिदिन बनते-बिगड़ते रहते हैं । उनकी क्या कीमत ?”

पंडित की बात सुनकर राजा का विवेक जग पड़ा ।

यह सच है कि इस संसार में श्रेष्ठ वस्तुएँ अनेक हैं । एक से एक उत्तम पदार्थ यहाँ विद्यमान हैं । पर सबसे महत्वपूर्ण सबसे पवित्र यदि कोई वस्तु है, तो वह ‘ज्ञान’ है । ज्ञान की विशेषता ही नर-पशु को नर-नारायण की स्थिति तक पहुँचाने में समर्थ होती है । गीता में कहा गया है—“नहि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते ।”

अर्थात् निःसंदेह इस संसार में ज्ञान के सदृश पवित्र अन्य कुछ नहीं है ।

ज्ञान को दो भागों में विभक्त किया जा सकता है—(१) शिक्षा, (२) विद्या । शिक्षा से तात्पर्य है पढ़ना, लिखना, स्कूली ज्ञान, लौकिक प्रगति के आधार पर स्वरूप की जानकारी । ज्ञान का अर्थ है—भावनात्मक स्तर को इस प्रकार उपयुक्त बनाना, जिससे व्यक्ति तथा समाज की आंतरिक सुख-शांति अक्षुण्ण रह सके । दोनों ही प्रकार का ज्ञान आवश्यक है । दोनों के लिए ही साथ-साथ प्रयत्न चलते रहना चाहिए । पढ़ना-लिखना यदि रोटी कमाने या सऊर-सलीका सीखने तक ही सीमित रह जाय, तो उसे पढ़ाई मात्र कहा जाएगा । पर जब वह पढ़ाई आदर्शवादिता एवं उत्कृष्टता को उपलब्ध करने में सहायक बनती है, तब उसे विद्या कहा जाने लगता है । विद्या ही आत्म-कल्याण का एक प्रधान साधन है । गायत्री महामंत्र के द्वारा हम उस विद्या की, ऋताम्भरा प्रज्ञा की ही आराधना करते हैं ।

रवण विद्वान् था, सामर्थ्य और वैभव की भी कमी न थी । किंतु विवेक की कमी के कारण ही वह पतन की ओर स्वयं भी जा रहा था तथा अपने परिजनों को भी ले जा रहा था । विद्या प्राप्ति का उद्देश्य होता है—जीवन का

सदुपयोग । यदि वह पूरा न हो सके, तो विद्या पढ़ने और पाने का जो श्रम हुआ, उसकी सार्थकता नहीं हो पाती । यथार्थ को समझना ही सत्य है । इसी को विवेक कहते हैं । जीवन के लक्ष्य को हम भूल जाते हैं । आत्मकल्याण की बात विस्मृत हो जाती है और कर्तव्य धर्म का पालन करने की गरिमा समझ में नहीं आती । इंद्रियों की वासना और मन की तृष्णा पूरी करने के लिए, अहंकार की पूर्ति के लिए निरर्थक कार्य करते हुए जीवन बीत जाता है और पाप की गठरी सिर पर लद जाती है । यह सब अज्ञान का फल है ।

अज्ञान की भ्रांति स्वामी विवेकानंद ने अपने शिष्य को एक कथा सुनाई । एक तत्व ज्ञानी अपनी पत्नी से कह रहे थे, संध्या आने वाली है । काम समेट लो । एक सिंह कुटी के पीछे यह सुन रहा था उसने समझा संध्या कोई बड़ी शक्ति है, जिससे डर कर यह निर्भय रहने वाले ज्ञानी भी अपना सामान समेटने को विवश हुए हैं । सिंह चिंता में डूब गया और संध्या का डर सताने लगा ।

पास के घाट का धोबी दिन छिपने पर अपने कपड़े समेट कर गधे पर लाने की तैयारी करने लगा । देखा तो गधा गायब । उसे ढूँढ़ने में देर हो गई । रात घिर आई और पानी बरसने लगा । धोबी को एक झाड़ी में खड़खड़ाहट सुनाई दी, समझा गधा है । तो लाठी से उसे पीटने लगा—धूर्त यहाँ छिपकर बैठा है । सिंह की पीठ पर लाठियाँ पड़ीं तो उसने समझा यही संध्या है, सो डर से थर-थर काँपने लगा धोबी उसे घसीट लाया और कपड़े लादकर घर चल दिया । रास्ते में एक दूसरा सिंह मिला, उसने अपने साथी की दुर्गति देखी तो पूछा—“यह क्या हुआ ? तुम इस प्रकार लदे क्यों फिर रहे हो ?” सिंह ने कहा—“संध्या के चंगुल में फँस गए हैं । वह बुरी तरह पीटती है और इतना वजन लादती है ।”

सिंह को कष्ट देने वाली संध्या नहीं उसकी भ्रांति थी, जिसके कारण धोबी को कोई बड़ा देवमानव समझ लिया गया और भार एवं प्रहार बिना सिर हिलाए स्वीकार कर लिया गया । हमारी यही स्थिति है । अपने वास्तविक स्वरूप को न समझने और संसार के साथ, जड़ पदार्थों के साथ अपने संबंधों का ठीक तरह ताल-मेल न मिला सकने की गड़बड़ी ने ही हमें उन विपन्न परिस्थितियों में धकेल दिया है, जिनमें अंधकार के अतिरिक्त और कुछ दीखता ही नहीं । इस भ्रांति को ही माया कहा गया है । माया को ही बंधन कहा गया है और दुःखों का कारण बताया गया है । यह माया और कुछ नहीं वास्तविकता से अपरिचित रखने वाला अज्ञान ही है ।

खुदा के नाम पर एक बार एक अंधा फकीर चौराहे पर पल्ल बिछाए भीख माँग रहा था । निकलने वालों से कहा—“खुदा के नाम पर एक पैसा देते जाओ ।” निकलने वालों में से एक मसखरे स्वभाव का था । उसने पूछा—“फकीर साहब ! आपने खुदा को देखा है, जो उसके नाम पर भीख माँगते हैं ?” फकीर भी हँसोड़ था । उसने बुरा न माना, वरन् उलट कर पूछा—“अच्छा, तुम ही बताओ, तुमने खुदा देखा है ?” उसने स्पष्ट मना कर दिया । इस पर फकीर ने कहा—“जब तुम दोनों आँख वाले हो और तुमने उसे नहीं देखा, तो तुम ही बताओ मैं बिना आँख वाला उसे कैसे देख पाता ?” आज बाहुल्य ऐसे ही अज्ञानियों का है और उसका कारण है, विद्या की अवमानना ।

एक सूत्र संकेत के अनेक अर्थ दैवी संकेत सूत्र संक्षिप्त होते हैं, पर पात्रता के अनुरूप उनकी व्याख्या लोगों को स्वयं करनी पड़ती है । देवता, मनुष्य और असुरों को ब्रह्माजी ने एक ही शब्द कहा—‘द’ । उनमें अपनी-अपनी कमियों और आवश्यकताओं को देखते हुए व्याख्याएँ स्वयं ही कीं । देवताओं ने ‘दान’ अर्थ निकाला । मनुष्यों ने ‘दया’ और असुरों ने ‘दमन’ ।

सपनों की दुनियाँ विद्या भी सूत्र संकेतों से हृदयंगम की जाती है । कौन सुसंस्कारिता को कितनी मात्रा में जीवन में, समावेश करता है, इसी पर उसका उत्थान निर्भर है ।

विद्या अज्ञान के अंधकार का अनावरण कर सत्य का रहस्योद्घाटन करती है । गुरु इस तथ्य को सूत्र रूप में समझाने का प्रयास करते हैं । दार्शनिक च्वांगत्से एक दिन उदास बैठे थे । शिष्यों ने कहा—“गुरुदेव ! क्या असमंजस सामने आया ?” च्वांग ने कहा—“रात मैंने सपना देखा कि मैं तितली बन गया हूँ—रूप, सौंदर्य का धनी । स्वच्छंदतापूर्वक अनेक प्रकार के फूलों के स्वाद और सौंदर्य पर प्रसन्न हो रहा हूँ ।” सबेरे आँख खुली तो उस स्थिति का कहीं अता-पता न था ।

“मैं इस द्विविधा में हूँ कि कहीं ऐसा तो नहीं हुआ कि मैं वस्तुतः तितली हो रहा होऊँ और उसके सोचने पर यह दार्शनिक होने का सपना देख रहा होऊँ ।”

शिष्यों में से कुछ हैंसे, कुछ गंभीर हो गए। च्वांगत्से ने समाधान किया कि 'वस्तुतः हम सपनों की दुनियाँ में ही उड़ते-फिरते हैं और वास्तविक के संबंध में भ्रमग्रस्त ही रहते हैं।

लगन ने ऊँचा उठाया

घोर गरीबी के कारण एच.जी. वेल्स को छोटी उम्र में ही एक दुकानदार के यहाँ नौकरी करनी पड़ी। उसका मन पढ़ने में लगा रहता। दुकान से छूटते ही घर पर जाकर पढ़ने बैठ जाता और दुकान पर आने तक पढ़ता रहता। इस तरीके ने उसका ज्ञान बढ़ाया। उसका मन लेखक बनने का था। लिखता और काटता। कभी-कभी पड़ोसियों से गलती सुधरवाता।

इस लगन का परिणाम यह हुआ कि एच. जी. वेल्स एक माने हुए लेखक बन गए। उनके अनेक उपन्यास प्रकाशित हुए। लेखकों में वे संसार के मूर्धन्यों में गिने जाते हैं। साधनों का घोर अभाव रहते हुए भी लगन ने उन्हें ऐसी सफलता उपलब्ध कराई।

विद्या व्यक्ति की संकल्प शक्ति को प्रबल बनाती है, जबकि लौकिक शिक्षा मात्र लोकोपयोगी जानकारी बढ़ाती व सुखोपभोग की ओर प्रवृत्त करती है।

शिक्षा नहीं, विद्या का प्रचार-प्रसार

सहारनपुर जिले में जन्मे आचार्य जुगलकिशोर को बचपन में एनीबेसेंट के नेतृत्व में शिक्षण का अवसर मिला। पीछे वे ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी से अध्यापन की उच्च शिक्षा प्राप्त करके लौटे। यहाँ आते ही विवाह करने के स्थान पर वे विद्यालयों के माध्यम से देश के लिए नई क्रांतिकारी पीढ़ी तैयार करने में लग गए।

कुछ दिन उन्होंने अनुभव अर्जित करने के लिए राष्ट्र की विभिन्न संस्थाओं में कार्य किया। गुजरात विद्यापीठ को प्राणवान बनाने में उनको लंबा समय लगा। लाहौर के नेशनल कॉलेज की नींव डाली। वृंदावन का प्रेम महाविद्यालय चलाया। लखनऊ विश्वविद्यालय और कानपुर विश्वविद्यालय के वायसचांसलर रहे। कांग्रेस आंदोलन में बार-बार जेल जाना पड़ा। वहाँ भी कैदियों के सिर पर चढ़कर उनके अध्यापक बनते रहे। उनके द्वारा प्रशिक्षण प्राप्त लोगों में हजारों उच्चकोटि के मार्गदर्शक निकले। वे जहाँ भी रहे, सतत् सत्प्रवृत्तियों का शिक्षण देते रहे।

उत्तरप्रदेश सरकार के दो बार मंत्री रहे। पर उन्हें आजीवन एक ही लगन लगी रही कि छात्रों में चरित्र निष्ठा और देशभक्ति कैसे भरी जा सकती है। यह पाठ्यक्रमों पर नहीं, अध्यापकों के व्यक्तिगत प्रयास पर निर्भर है। यह उनने अपने जीवन की प्रयोगशाला में भली प्रकार सिद्ध करके दिखा दिया।

अंतः के महाभारत के पात्र

विद्या अंतः की वृत्ति को सही दिशा देती है। इसे उदाहरण के माध्यम से समझाते हुए परमहंस ने आंतरिक महाभारत का प्रसंग सुनाते हुए कहा-अर्जुन जीव है, धर्म युधिष्ठिर है, बल भीम, नकुल-सहदेव हैं बुद्धि और ज्ञान। जीव अर्जुन निश्चित लक्ष्य वेध करके यज्ञ पुत्री द्रौपदी-परमार्थ वृत्ति को जीत लेते हैं। परमार्थ वृत्ति पाँचों के साथ रमण करती है।

धर्म को बड़ा मानने वाला जीवन अर्जुन परमार्थ वृत्ति द्रौपदी को सहधर्मिणी बनाता है, तभी भगवान् श्रीकृष्ण को अपने रथ की बागड़ोर सँभलवाने का साहस कर पाता है। धर्म की जगह धन को बड़ा मानने और परमार्थ के स्थान पर स्वार्थ को महत्व देने वाला दुर्योधन तो कृष्ण से भी चतुरंगिनी सेना लेना चाहता है, मार्गदर्शन नहीं।

ज्ञान बनाम सुख

जब स्वर्गलोक से विश्वकर्मा धरती पर आए, तो उन्हें भगवान् ने दो कलश दिए। एक में ज्ञान भरा था, दूसरे में सुख। उन्हें आदेश दिया गया था कि ज्ञान को अपने पास सँभाल कर रखना और सुख को बाँटना।

धरती पर आते ही भ्रम-जंजाल ने दोनों कलशों को बदल दिया। वे ज्ञान बाँटने लगे और सुख अपने पास रखने लगे। फलतः उन्हें जो सेवा कार्य सौंपा गया था, वह निरर्थक चला गया।

विज्ञा एनां तु विश्वस्याऽनिवार्यत्वं महत्तथा।

आधारां प्रगतेः सार्वभौमाया देवसंस्कृतेः ॥ २४ ॥

मन्वाना जगदुर्विद्यावृद्ध्यै प्राणपणैरपि।

यतितव्यं महत्पुण्यमिदं वै पारमार्थिकम् ॥ २५ ॥



**धर्मकार्यं पुनीतेऽस्मिन् रतांस्तांस्तु गुरुन्बुधाः ।
वदन्ति गणयन्त्यत्र धरित्र्या देवरूपिणः ॥ २६ ॥**

भावार्थ—विज्ञान इसे संसार की महती आवश्यकता, देव परंपरा और सर्वतोमुखी प्रगति का आधार मानते हैं । जगत् में विद्या संवर्द्धन के लिए प्राण-पण से लग जाना सबसे बड़ा पुण्य-परमार्थ है । इस पुनीत धर्मकार्य में निरत लोगों को गुरुजन कहा जाता है और धरती के देवताओं में गिना जाता है ॥ २४-२६ ॥

व्याख्या—विद्या का उपार्जन व्यक्तित्व के संवर्द्धन एवं विकास हेतु अभीष्ट आवश्यकता मात्र ही नहीं है, यह सारे समुदाय की सर्वांगीण प्रगति का मूल आधार है । जिस समाज में विद्या से विभूषित देव मानव जितने अधिक होते हैं, वह उतना ही धन्य बनता है । विद्या एक ऐसी अक्षय संपदा है, जिसका तीनों कालों में नाश नहीं होता । वह जन्म-जन्मांतरों तक मित्र की तरह मनुष्य के साथ बनी रहती है । विद्या का प्रतिफल देव संस्कृति की मान्यतानुसार आर्थिक सफलता के रूप में नहीं देखा जाना चाहिए । विद्या नर मानव को देव मानव बनाती है, उसे सुसंस्कारित बनाती है उसकी यही सबसे बड़ी देन है, जिसे किसी भी स्थिति में कम करके नहीं आंका जाना चाहिए ।

ऋषि श्रेष्ठ यहाँ विद्यार्ज को जीवन का एक उपादान नहीं अपितु सर्वश्रेष्ठ पुण्य, सारी मानव जाति के प्रति परमार्थ कार्य कहते हैं । जो नर श्रेष्ठ विद्यादान का पुण्य कार्य करते हैं, उन्हें गुरुजन कहकर उनकी अभिवंदना की गई है, उन्हें भूसुर की उपाधि दी गई है । सामान्य शिक्षक, जो लौकिक जानकारी देते हैं एवं गुरुजन, जो अंतः के परिष्कार में समर्थ विद्या देते हैं, में अत्यधिक अंतर है । दोनों को भूल कर भी एक नहीं मानना चाहिए ।

परमेश्वर जिन पर भी प्रसन्न होते हैं, उन्हें वे अधिक विचारशील, सद्भावना संपन्न और ज्ञान परायण बनाते हैं तथा ज्ञानयोग में संलग्न होने की प्रेरणा देते हैं । संसार में सद्ज्ञान का प्रसार उनका मुख्य काम बन जाता है । प्राचीनकाल से लेकर अब तक के समस्त सच्चे ईश्वर भक्त, ऋषि, मुनि आजीवन इसी कार्य में लगे रहते हैं । गुरुकुल चलाने में, सद्ग्रंथों का प्रणयन करने में, यज्ञ आयोजनों में, कथा-प्रवचन कहने में, संस्कार और पर्वों की व्यवस्था में संलग्न रहकर वे संसार को ज्ञानवान बनाने के लिए ही प्रयत्न करते रहे हैं । प्रत्येक ईश्वर भक्त को सदा से यही प्रयत्न करना पड़ा है । वह चुप बैठ ही नहीं सकता । अतएव उससे अपनी परिस्थितियों के अनुसार मानव जाति को अधिक ज्ञानवान बनाने के लिए अपनी सामर्थ्य भर प्रयत्न एवं पुरुषार्थ करना ही पड़ा है । ऐसे ही महापुरुषों को गुरुजन कहा गया है और उन्हें धरती के देवता की उपाधि दी गई है । देव संस्कृति में गुरु तत्त्व को बहुत महत्व दिया गया है । उनके प्रति निष्ठा रखने के लिए अध्यात्म प्रेमियों को प्रेरणा दी गई है—वंदे बोधमयं नित्यं गुरुं शंकररूपिणम् । तुलसीदास जी के मतानुसार गुरु व्यक्ति नहीं एक शाश्वत शक्ति है, जो पात्रतानुसार व्यक्तियों में प्रतिबिंबित होती है । शरीर नित्य नहीं है, इसलिए गुरु के संबोधन के पीछे किसी विशेष का आग्रह नहीं है । ‘शंकररूपिणम्’ उसे इसलिए कहा गया, क्योंकि वह ज्ञान का कल्याणकारी उपयोग करता है । अंतः में स्थिति आत्मतत्त्व को अनुभव कराने एवं ईश्वर का साक्षात्कार कराने में गुरु की प्रमुख भूमिका होने से उन्हें शिव रूप उद्बोधन उचित ही दिया गया है ।

गुरु प्रदत्त शिक्षा पद्धति की विशेषता “माताभूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः” अर्थात् “मैं पृथ्वी का पुत्र हूँ, भूमि मेरी माता है । मेरा जीवन मातृभूमि की सेवा में अर्पण रहेगा । लोककल्याण की सेवा के लिए समर्पित रहेगा । मैं संपूर्ण विश्व को ज्ञान और शक्ति से उद्दीप्त रखूँगा । गुरुदेव द्वारा प्रदत्त शक्ति से मैं अपने राष्ट्र को जीवित और जागृत रखूँगा । मेरे जीवित रहने तक मेरे धर्म और संस्कृति को आँच नहीं आने पाएगी ।”

तब के २५ वर्षीय स्नातक की, जो गुरुकुल से विदा होने पर उपरोक्त प्रकार की प्रतिज्ञा लेता था, बौद्धिक प्रतिभा, उदात्त भावना और उच्चतम आध्यात्मिक संस्कारों का पता इस एक ही वाक्य से चल जाता है । यह विशेषता स्नातकों की अपनी नहीं होती थी, वरन् उन्हें गुरुकुल विद्यालयों के वातावरण में इस प्रकार ढाला जाता था । श्रेय प्रचीन गुरुकुलों और आचार्यों को है, जिनकी शिक्षा-पद्धति ऐसी थी, जो मनुष्य को न केवल आध्यात्मिक लक्ष्य की प्राप्ति के,

दार्शनिक और तात्विक ज्ञान से ओत-प्रोत बनाई थी, वरन् उनमें ऐसी शक्ति और प्रतिभा का भी विकास करती थी, जो अपने को ही नहीं, सारे समाज को ऊर्ध्वगामी बनाए रखने में समर्थ होती थी ।

पाणिनि की तरह व्याकरण, पतंजलि की तरह योग, चरक-सुश्रुत की तरह औषधि-शास्त्र, मनु, याज्ञवल्क्य आदि के संविधानों में अत्यंत सूक्ष्म तत्त्वज्ञान और बौद्धिक शक्तियों का अवतरण हुआ है । गुरुकुलों में ही आरण्यक और उपनिषदों की रचना हुई । उपपुराण और पुराण लिखे गए ।

ज्ञान प्रसार की ऋषि परंपरा

ऋषियों की परंपरा ज्ञान साधना की रही है । आज हमारे सामने ज्ञान का जो अथाह भंडार सुरक्षित है, वह उन्हीं की देन है । व्यास, वशिष्ठ, भारद्वाज, गौतम, पतंजलि आदि ऋषियों ने न केवल ज्ञान की साधना और खोज की, वरन् सीमित सादा, जीवन बिताकर ज्ञान के प्रसार के लिए भी कार्य किया ।

महर्षि चरक, सुश्रुत ने आयुर्वेद क्षेत्र में बहुत सी खोज और अनुसंधान करके मानव समाज को रोग मुक्त एवं स्वस्थ बनाने की दिशा में बहुत बड़ा काम किया ।

देवर्षि नारद स्वयं न केवल एक भक्त और ज्ञानी व्यक्ति ही थे, वरन् उनका ज्ञान प्रसार और लोगों को सत्प्रेरणा देने का काम और भी महत्वपूर्ण था । वे सदैव कीर्तन, भजन गाते हुए लोगों में सद्विचार और सद्ज्ञान का प्रचार करते रहे । उन्होंने कई गिरे हुआं को उठाया, पापियों को शुभ मार्ग में लगाया, अधिकारी पात्रों को ज्ञान की दीक्षा देकर आत्म विकास की ओर अग्रसर किया ।

महर्षि कणाद के बारे में प्रसिद्ध है कि वे खेतों में उपेक्षित छोड़ दिए जाने वाले अन्न के दानों को बीनकर उनसे अपने परिवार का जीवन निर्वाह करते थे और अपना अधिकांश समय ज्ञान साधना में लगाते थे । वे चाहते तो धन अर्जन करके सुखपूर्ण जीवन व्यतीत कर सकते थे, किंतु वे अधिकाधिक समय अपनी ज्ञानोपासना में लगाना चाहते थे । स्वयं ज्ञानवान् बनना और दूसरों को ज्ञानवान बनाना उन्हें संसार में सर्वश्रेष्ठ सत्कार्य प्रतीत हुआ । इसलिए जीवन की आवश्यकताओं को कम महत्व देकर महर्षि कणाद ने संसार को ज्ञान का एक बहुत बड़ा कोष प्रदान किया ।

महर्षि पिप्पलाद इसी तरह पीपल वृक्ष के छोटे-छोटे फलों से जीवन निर्वाह करते थे । उन्होंने अमूल्य मानव जीवन को केवल जीवन निर्वाह के लिए ही लगाना श्रेयस्कर न समझा । उनके सामने ज्ञान साधना का महत्वपूर्ण कार्यक्रम था, जिसके लिए उक्त मार्ग अपनाया ।

शुकदेव जन्म से ही ज्ञान की खोज में निकल गए थे । वे सांसारिक प्रलोभनों में नहीं आए और जीवनोद्देश्य की पूर्ति में नितांत आवश्यक आत्मज्ञान की खोज में जुटे रहे । आजीवन त्यागी-अपरिग्रही रहकर शुकदेव जी ने ज्ञान की साधना की । इन्हीं ने महाराजा परीक्षित को भगवान की कथा सुनाई थी । राजा जनक से जो ज्ञान उन्होंने प्राप्त किया था, उसे सारी मानव जाति में वितरित किया ।

महामनीषी चाणक्य चंद्रगुप्त मौर्य के मंत्री थे । उन्हीं के प्रयत्नों से मौर्य साम्राज्य का विस्तार हुआ, लेकिन यह सब कुछ करते हुए भी चाणक्य ने अपने विद्या-प्रेम को नहीं छोड़ा, वरन् राजकीय वातावरण से दूर एक कुटिया में रहकर ज्ञान की साधना करते थे । चंद्रगुप्त ने उनके लिए अच्छे भवन और सुख-सुविधायुक्त साधन जुटाए, लेकिन उन्हें स्वीकार न करते हुए, चाणक्य अपनी कुटिया में सरस्वती की आराधना किया करते । इसी से अध्ययन और अध्यापन दोनों ही कार्य चाणक्य के जीवन के अभिन्न अंग थे । कौटिल्य का अर्थशास्त्र, नीतिशास्त्र के रूप में चाणक्य की बहुत बड़ी देन उनकी ज्ञान साधना का ही परिणाम है ।

प्रत्येक ऋषि के आश्रम में एक गुरुकुल रहता था । वे तपश्चर्या के साथ-साथ ज्ञानोपासना को भी अपना परम पवित्र एवं अनिवार्य धर्म कर्तव्य मानते थे । उन दिनों देश भर की सारी शिक्षा व्यवस्था ऋषियों, ब्राह्मणों और संतों के जिम्मे ही थी । वे छोटे-बड़े अगणित विद्यालय चलाते थे । नालंदा और तक्षशिला जैसे विश्वविद्यालय उन्हीं प्रयत्नों से इतने विकसित हुए कि सारे संसार के छात्र उनमें विविध विषयों की शिक्षा प्राप्त करने के लिए आया करते थे और यहाँ की संस्कृति को समस्त विश्व में फैलाया करते थे ।

तेजस्वी अष्टावक्र

राजा जनक जनपथ से गुजर रहे थे । उनके सैनिक मार्ग में चल रहे लोगों को एक ओर हटाते जा रहे थे । कुछ दूर मार्ग में उन्हें टेढ़े-मेढ़े शरीर का एक व्यक्ति मिला, उससे भी मार्ग

से हटने को कहा गया। लेकिन वह बोला—“यह जन मार्ग है, यहाँ सभी को चलने का अधिकार है। यदि राजा इतने लंबे-चौड़े मार्ग से नहीं गुजर सकता, तो किसी अन्य रास्ते होकर चला जाय।” सैनिक ने दृढ़ता भरे शब्दों को सुनकर राजा से शिकायत की। महाराज जनक ने सोचा कि जिसमें स्वाभिमान और मानवीय गरिमा का इतना तेज है, वह अवश्य कोई महान् व्यक्ति होगा और राजा नम्रतापूर्वक उनके पास गए। अपनी सूक्ष्म बुद्धि से राजा ने उस व्यक्ति की गरिमा को समझ लिया और उसे सादर अपना राजगुरु बनाया, जिन्हें लोग अष्टावक्र के नाम से जानते हैं।

आत्मज्ञान

उपहार में नहीं

ब्रह्मविद्या, आत्मज्ञान ऐसे ही बिना प्रयास के नहीं मिल जाते। इसके लिए तो कठोर तप करना पड़ता है। हिरण्यकशिपु का नृसिंह भगवान द्वारा बध किए जाने पर पातालपुरी का राज्य प्रह्लाद को मिला। प्रह्लाद विष्णु का तप करने लगे। प्रसन्न होकर वे प्रकट हुए और पूछा—“किस वर की कामना है?”

प्रह्लाद ने कहा—“आत्मज्ञान चाहिए।” विष्णु ने कहा—“वत्स! यह ऐसा उपहार नहीं है, जिसे कोई किसी को दे सके। इसके लिए चिंतन और मनन करना पड़ता है, जिज्ञासा जगानी होती है और कुसंस्कारों के भव-बंधनों को तोड़ना पड़ता है। तभी आत्मज्ञान मिलता है। तुम दूसरे तप में इन्हीं प्रयासों को कार्यान्वित करो, मैं तुम्हें सफल बनाने में सहायता करूँगा।”

विष्णु की स्पष्टोक्ति सुनकर प्रह्लाद ने वही प्रयत्न करना आरंभ किया, जिनसे जकड़े हुए भव बंधन टूटें। फलस्वरूप उन्हें ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति हो गई।

वशिष्ठ बोले—“हे राम, तुम मुझे से उपहार में आत्मज्ञान मत माँगो। माया का प्रपंच समझो और उसे तोड़ने का प्रयत्न करो, तभी अभीष्ट की प्राप्ति होगी।”

अंश और अंशी

का अंतर

बिना गुरु के जीवन यात्रा पूरी कैसे हो? घाट पर चलने वाली नाव में बैठकर दिनभर यात्री सुविधापूर्वक पार होते थे। एक यात्री बड़ा जिद्दी था। बोला—“नाव में बैठकर पार होने की बात सभी कहते हैं, मैं घाट पर खाली नाव में बैठूँगा और सहज ही पार हो जाऊँगा।” सब ने समझाया कि माँझी, डाँड, किराये की व्यवस्था रहने पर ही पार हुआ जा सकता है, पर जिद्दी नाव को ही सब कुछ मानता था, सो एक खाली खड़ी नाव में बैठकर पार जाने के लिए अड़ गया। नाव थोड़ी ही दूर चल कर उलट गई और नाव तथा यात्री दोनों ही डूब गए।

भगवान् का नाम नाव तो है, पर उसके साथ जीवन परिष्कार और सुयोग्य गुरु का मार्गदर्शन भी चाहिए। आज के युग में नर पामर तो बहुत हैं, श्रेष्ठ नरों का अभाव है। ग्रीस के डायोजेनिस भरी दोपहरी में जलती लालटेन लेकर चारों ओर नजर दौड़ाते चल रहे थे। दर्शक उन्हें जानते थे। समझे, इनकी कोई चीज खो गई है। वे भी उनके साथ हो लिए। थोड़ी दूर चल कर साथ लगे दर्शकों ने पूछा—“क्या तलाश कर रहे हैं? दिन में लालटेन की क्या जरूरत पड़ी है?”

डायोजेनिस ने कहा—“मुझे एक भले आदमी की जरूरत थी, सो आप लोगों के चेहरे पर प्रकाश डालते हुए, आगे बढ़ता जा रहा हूँ। बात को आगे जारी रखते हुए कहा—“अब तक की जाँच-पड़ताल में धनी, विद्वान्, शिल्पी, व्यवसायी, मजूर आदि तो अनेक मिले, पर सज्जन एक भी नहीं मिला। इसी तलाश में आगे बढ़ता जा रहा हूँ।”

हर युग में ऐसे महामानव जन्म लेते हैं, जो अपने सुयोग्य मार्गदर्शन से नर रत्नों को जन्म देते हैं। विद्या रूपी संस्कारी शिक्षा ही इसकी पृष्ठभूमि बनाती है।

अंदर झाँको

गुरु अज्ञान के अंधकार को दूर कर सही रास्ता दिखाते हैं। यह मार्गदर्शन ही व्यक्ति को आत्मतत्त्व की सच्ची जानकारी देता है। श्रुतिधर स्वच्छता तलाश करने निकले। सर्वत्र कूड़ा-कचरा बिखरा देखा। जलाशय में नहाये, तो उसमें मेंढक-मछलियों का मल-मूत्र बह रहा था। प्रभात की पवन में बैठे, तो उसके साथ भी धूल-कण उड़ रहे थे। काया को देखा, तो वह भी मल-मूत्र की गठरी देखी। चंद्रमा में कलंक, सूर्य में ताप, रात्रि में अंधकार देखा, तो दोषमुक्त स्थान कहीं मिला नहीं।

उनके मन को पढ़ रहे गुरु मुनिराज उद्दालक ने कहा—“तात्, अपना मन और दृष्टिकोण पवित्र करो।



बाहर तो सर्वत्र अमंगल ही भर पड़ा है ।”

आहार भी, यह गुरु का ही दायित्व है कि तरह-तरह से शिष्यों की परीक्षा ले एवं उन्हें तत्त्वविद्या का मर्म समझाए ।

विद्या भी महर्षि उद्दालक ने उन गुरुकुल प्रवीण छात्रों को बुलाया और परीक्षा लेने के लिए उनके आहारों को एक-एक मास के लिए बदल दिया । अवधि पूरी होने पर सभी को बुलाया गया और उनकी स्थिति जाँची गई । जिसे एक महीने भूखा रखा गया था, वह सब कुछ भूल गया । आँखों के सामने अंधेरा छाने लगा था । स्मृति जवाब दे रही थी । जिसने तामसिक वस्तुएँ खाईं, उसकी चंचलता बढ़ गई और पढ़ने से मन उचट गया । जिसके आहार में मादकद्रव्यों का समावेश था, उसने अध्ययन में अरुचि दिखाई और घर लौटने की आज्ञा माँगने लगा । इसी प्रकार किसी को झगड़ालू, किसी को शांत, किसी को सौम्य, किसी को उद्धत पाया गया । अध्ययन पर भी इस बदली मनः स्थिति का वैसा प्रभाव पड़ रहा था ।

प्रस्तुत परिवर्तन का रहस्य बताते हुए उद्दालक ने छात्रों से कहा—“अन्न से ही प्रकारांतर से बुद्धि और चित्त बनता है । जैसा अन्न खाया जाता है, वैसा ही मन बनता है । विद्या को जितना महत्व दिया जाता है । उतना ही अनुकूल आहार पर भी ध्यान दिया जाना चाहिए ।”

वैराग्य का बंगाल के परमहंस रामकृष्ण की सत्संगति से एक युवक के मन में वैराग्य उत्पन्न हो गया । अपनी सारी संपत्ति गरीबों को बाँट कर उसने एक हजार मुद्रा परमहंस देव को भेंट करनी चाही, पर लोगों के यह बतलाने पर कि परमहंस देव ऐसी भेंट स्वीकार नहीं करेंगे, उसने एक-दो-तीन-चार हजार तक गिनकर सब मुद्राएँ नदी की धार में फेंक दीं । खाली हाथ परमहंस के पास जाकर उसने यह हाल कह सुनाया, यह सुनकर परमहंस देव बोले—“जिस जगह पर तुझे एक कदम उठाकर पहुँच जाना चाहिए था, वहाँ पहुँचने के लिए तुझे एक हजार कदम उठाने पड़े । इससे मालूम होता है कि अभी तेरा धन संबंधी लोभ पूरा नहीं हुआ है । धर्मकार्य में यदि तू इस प्रकार गिन-गिन कर कदम रखेगा, तो उस स्थान तक पहुँच ही नहीं पाएगा । जा, बाजार से किसी सर्राफ की दुकान पर बैठकर धन गिनने की अपनी इच्छा को पूरी करले, तब आना ।”

लोक-परलोक और किसी की त्रुटि तो क्षम्य है, पर गुरु जैसे उत्तरदायित्वपूर्ण पद पर बैठने वाले की छोटी सी भूल भी बहुत बड़ी है । उसे सोच-समझकर ही अपने हाथ में महत्वपूर्ण कार्य लेना चाहिए ।
किसी की कितने ही धर्म प्रेमी हसीदी धर्मगुरु बालशेन के पास जाकर आग्रह करने लगे—“गुरुदेव !
चिंता नहीं आपके शिष्य यही एल मिरवाल से हम लोग कई बार गुरु का पद स्वीकार करने के लिए कह चुके हैं, पर वह हर बार अनसुनी कर देते हैं । यदि आप उनसे कहें, तो संभवतः आपके आदेश की अवहेलना वह न कर सकेंगे ।”

धर्मगुरु बालशेन ने मिरवाल को बुलाकर कहा—“तुम्हें अपनी जिद छोड़ देनी चाहिए । जानते हो, मेरे आदेश की अवहेलना तुम्हें न इस लोक का रखेगी और न परलोक का ।”

शिष्य का उत्तर था—“भले ही मेरे दोनों लोक चले जाएँ, मुझे इस बात की चिंता नहीं है, पर मैं यह उचित नहीं समझता कि जिस पद के योग्य नहीं हूँ, उसे स्वीकार कर लोगों की गुमराह करूँ ।”

भूल छोटी, एक नगण्य सी भूल बहुत कुछ कर दिखा सकती है ।
हानि बड़ी सन् १९७२ में शुक्र ग्रह की खोज खबर लेने के लिए अमेरिका ने मेरीनर-१ अंतरिक्ष में छोड़ था, पर उस योजना पर खर्च हुए करोड़ों डालर, बेकार चले गए । राकेट अपने रास्ते से भटक कर कहीं का कहीं चला गया । इस असफलता का कारण क्या था ? इसकी जाँच बिठाई गई । पता चला कि यात्रा पथ निर्धारित करने में जो गणित किया गया था, उसमें एक स्थान पर एक ऋण चिह्न (-) गणितकर्त्ताओं की भूल से छूट गया था । उतनी सी छोटी भूल ने संसार भर में अमेरिकी अंतरिक्ष विज्ञानियों को नीचा दिखाया ।

अमेरिका के अंतरिक्ष विज्ञानी जार्ज मुलर के दफ्तर में ठीक उनके सामने की दीवार पर एक मात्र चित्र पर ऋण (-) चिह्न की एक छोटी सी रेखा भर चित्रित की गई है । उसके नीचे लिखा है—“भूल चाहे इतनी-सी ही क्यों न हो, हानि इतनी बड़ी कर सकती है, जिसके लिए बहुतों को बहुत पश्चात्ताप करना पड़े ।



बड़ों के दायित्व बड़े ही होते हैं। वे अपने पद की गरिमा समझते हैं।

विद्याधनः पुलस्त्यः स पप्रच्छ मुनिपुंगवः ।
कात्यायनं महर्षिं तं लोकमङ्गलकाम्यया ॥ २७ ॥

पुलस्त्य उवाच-

बोध्यतां स उपायो नो देव ! विद्यालये तु यः ।
अतिरिक्ततयाऽधोतेर्विद्यालाभाय युज्यते ॥ २८ ॥
उच्चां शिक्षां समासाद्य केवलं नैतिकोऽपि तु ।
नरः श्रद्धास्पदं स्थानं श्रेयसामधिकारिताम् ॥ २९ ॥
उपायास्ते विबोध्या नो यैः स्युः सर्वा हि व्यक्तयः ।
नृपशुत्वपिशाचत्वप्राप्तेर्वै रक्षिताः स्वयम् ॥ ३० ॥
नरनारायणत्वं वा नरत्वं प्रापितुं भवेत् ।
संभवं येन सिद्ध्येच्च 'जीवो ब्रह्मैव नापरः' ॥ ३१ ॥

भावार्थ- लोकमङ्गल की कामना से विद्या के धनी ऋषिवर पुलस्त्य ने महर्षि कात्यायन से पूछा- 'हे देव ! वह उपाय बताइए, जिन्हें पाठशाला में अध्यापन कृत्य के अतिरिक्त भी विद्यालाभ करने के लिए प्रयोग में लाना पड़ता है। मात्र उच्च शिक्षा प्राप्त करने भर से ही किसी को श्रद्धास्पद श्रेयाधिकारी बनने का अवसर नहीं मिलता, अतः कृपया उन प्रयोगों को बताएँ, जिनके माध्यम से व्यक्ति को नर-पशु और नर-पिशाच बनने से रोका जा सके, नर-मानव और नर-नारायण के स्तर तक पहुँचाया जा सके, जिससे 'जीव ब्रह्म है', यह सिद्धांत व्यावहारिक रूप से सिद्ध हो जाय ॥ २७-३१ ॥

कात्यायन उवाच-

दैवे तु समुदायेऽयं मनुष्योऽनेकशस्तिह ।
सुसंस्कारयुतो नूनं क्रियते वृद्धिकाम्यया ॥ ३२ ॥
ताप्यते मानवो मध्ये प्रयोगाणां स ईदृशाम् ।
अत्र षोडश वारं तु नश्येयुर्येन सञ्चिताः ॥ ३३ ॥
संस्कारा दूषिता दैववैशिष्ट्यस्याङ्कुराश्च ते ।
उत्पद्येरन् मनुष्योऽयं देवत्वं यातु येन च ॥ ३४ ॥
संस्काराणां तथा धर्मानुष्ठानां च विद्यते ।
उपचारविधिः सर्वमान्यो लोके महत्त्ववान् ॥ ३५ ॥

भावार्थ- कात्यायन बोले-हे विद्वत्श्रेष्ठ ! देव समुदाय में मनुष्य को बार-बार सुसंस्कारित किया जाता है। हर व्यक्ति को सोलह बार ऐसे प्रयोगों के मध्य तपाया जाता है, जिनसे उनके संचित कुसंस्कार नष्ट हो सकें और दैवी विशेषताओं के अंकुर उग सकें, जिससे मनुष्य देवता बन सके। इसके लिए संस्कार धर्मानुष्ठानों के उपचार की महत्वपूर्ण प्रक्रिया सर्वविदित है ॥ ३२-३५ ॥

व्याख्या- देव संस्कृति की सबसे बड़ी विशेषता है, जन्म से लेकर मृत्यु तक मानव जीवन को सार्थक बनाने हेतु संस्कारों द्वारा सतत शोधन एवं आत्मसत्ता के अभिवर्द्धन की अभिनव व्यवस्था। यह उस विद्यारूपी विभूति की विधा है, जो गुरुकुल शिक्षण प्रणाली का अंग रही है। संस्कृति के अंतर्गत जीवन क्रम में इन्हें इस प्रकार समाविष्ट कर दिया गया कि यथा समय वांछित श्रेष्ठ संस्कार व्यक्ति को स्वयमेव मिलते रहें। वेदांत की "एकोऽहं द्वितीयो नास्ति", "अयमात्मा ब्रह्म" वाली मान्यता ऋषियों को इसी प्रतिपादन हेतु प्रेरित करती रही है कि व्यक्ति, जो अनगढ़ पशु के रूप में जन्मता है, सुसंस्कारों द्वारा देवमानव के रूप में पदोन्नत किया जा सकता है।

आयुर्वेद-रसायन बनाने की अवधि में उन पर कितने ही संस्कार डाले जाते हैं। कई बार कई

अध्याय तृतीय)

(१३३

प्रकार के रसों में उन्हें खरल किया जाता है और कई बार उन्हें गजपुट द्वारा अग्नि में तपाया जाता है, तब कहीं वह रसायन ठीक तरह तैयार होता है और साधारण सी राँगा, जस्ता, ताँबा, लोहा, अभ्रक जैसी कम महत्व की धातु चमत्कारिक शक्ति संपन्न बन जाती है। ठीक इसी तरह मनुष्य को भी समय-समय पर विभिन्न आध्यात्मिक उपचारों द्वारा सुसंस्कृत बनाने की महत्वपूर्ण पद्धति भारतीय तत्त्ववेत्ताओं ने विकसित की थी। उसका परिपूर्ण लाभ उस देशवासियों से हजारों-लाखों वर्षों से उठाया है। यों किसी व्यक्ति को सुसंस्कृत बनाने के लिए शिक्षा, सत्संग, वातावरण परिस्थिति, सूझबूझ आदि अनेक बातों की आवश्यकता होती है। सामान्यतः ऐसे ही माध्यमों से लोगों की मनोभूमि विकसित होती है। इसके अतिरिक्त भारतीय तत्त्ववेत्ताओं ने मनुष्य की अंतःभूमि को श्रेष्ठता की दिशा में विकसित करने के लिए कुछ ऐसे सूक्ष्म उपचारों का भी आविष्कार किया है, जिनका प्रभाव शरीर तथा मन पर ही नहीं सूक्ष्म अंतःकरण पर भी पड़ता है और उसके प्रभाव से मनुष्य को गुण, कर्म, स्वभाव की दृष्टि से समुन्नत स्तर की ओर उठने में सहायता मिलती है।

मानव जीवन को पवित्र एवं उत्कृष्ट बनाने वाले आध्यात्मिक उपचार का नाम 'संस्कार' है। महर्षि पाणिनि के अनुसार इस शब्द के तीन अर्थ हैं—(१) उत्कर्ष करने वाला (उत्कर्षसाधन संस्कारः), (२) समवाय अथवा संघात और (३) आभूषण। प्रत्येक मनुष्य जन्म के साथ कुछ गुण-अवगुण लेकर पैदा होता है। उस पर पूर्वजन्मों के विविध संस्कार छाए रहते हैं। वृद्धि के साथ उस पर नए-नए संस्कार भी पड़ते रहते हैं। अतः पुराने संस्कारों को प्रभावित करके उनमें परिवर्तन, परिवर्द्धन अथवा उनका उन्मूलन करना, प्रतिकूल संस्कारों को विनष्ट कर अनुकूल संस्कारों का निर्माण करने का विधान ही 'संस्कार पद्धति' कहलाता है। देव संस्कृति के अनुसार संस्कार १६ प्रकार के हैं, जिन्हें 'षोडश संस्कार' कहते हैं। माता के गर्भ में आने के दिन से लेकर मृत्यु तक की अवधि में समय-समय पर प्रत्येक देव संस्कृति के आराधक को १६ बार संस्कारित करके, उसे देव मानव स्तर तक जा पहुँचने की प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष प्रभावी प्रेरणा दी जाती है। यह संस्कार पद्धति सूक्ष्म अध्यात्म विज्ञान की अतीव प्रेरणाप्रद प्रक्रिया पर अवलंबित है। ऋषियों ने अपनी आध्यात्मिक एवं मनोवैज्ञानिक शोधों के आधार पर इस पुण्य-प्रक्रिया का निर्माण किया है।

संस्कारों की गति-परिणति

संस्कार बीज रूप ही होते हैं, जो सुपात्र व्यक्ति में सही वातावरण पाकर फलित होते हैं। ईसा मसीह ने उस दिन का प्रवचन यों आरंभ किया—“एक किसान ने जौ बोए। कुछ दाने पगडंडी पर गिरे और तुरंत उन्हें चिड़ियाँ चुग गईं। कुछ गिरे पथरीली भूमि पर, जहाँ मिट्टी की परत बहुत पतली थी। ये बीज अंकुरित तो हुए, पर धूप में जल्दी झुलस भी गए, क्योंकि उनकी जड़ें गहरी न थीं। कुछ दाने कँटीली झाड़ी में गिरे, जहाँ काँटों ने उनके अंकुरों को दबा डाला। कुछ भाग्यवान् बीज अच्छी मिट्टी में गिरे, अंकुरित-पल्लवित-पुष्पित हुए। समझे ?” फिर उन्होंने रूपक का यों खुलासा किया कि धर्म-वचनों की गति भी जौ के इन दोनों जैसी होती है और केवल संस्कारवान् आत्मभूमि में पड़ा धर्म-वचन फल देता है।

संकल्प का शुभ परिणाम

संस्कार का अर्थ होता है—श्रेष्ठता की दिशा में बढ़ने हेतु लिया गया छोटा-सा संकल्प। किसी साहूकार का लड़का बड़ा भ्रष्ट हो गया था। उसे मदिरा पीने, मांस खाने व वेश्यावृत्ति की आदत लग चुकी थी। साहूकार अपने बेटे की इस करतूत से बहुत चिंतित रहा करता था।

एक दिन साहूकार के गुरुजी उनके गृह पर पधारे। साहूकार ने अपनी व्यथा गुरुजी से कह सुनाई। गुरुजी ने लड़के को उनके पास भेज देने के लिए कहा। साहूकार ने अपने लड़के को भोजन लेकर गुरुजी के पास जाने को कहा।

साहूकार का लड़का गुरुजी के पास भोजन लेकर पहुँचा और उन्हें भोजन कर लेने का आग्रह किया। परंतु गुरुजी ने बिना दक्षिणा प्राप्त किए भोजन करने से इन्कार कर दिया। लड़का एक हजार रुपया दक्षिणा में देने को तैयार हो गया। परंतु गुरुजी ने कहा—“यह धन तुम्हारे पिता का है, जो वस्तु तुम्हारी हो, वही दक्षिणा में दे दो। एक झूठ बोलना ही तुम्हारा अपना जान पड़ता है, अतः यह हमें दान कर दो।” लड़के ने झूठ को गुरुजी को दक्षिणा में दे दिया और संकल्प लिया कि इसे फिर कभी नहीं अपनाऊँगा।

अगले दिन लड़का जब वेश्या से मिलने चला, तो रास्ते में एक मित्र से मुलाकात हो गई। मित्र ने

पूछा—“कहाँ जा रहे हो ?” अब तो लड़के को कोई उत्तर देते नहीं बन रहा था, अतः वह लज्जित होकर घर की ओर चल पड़ा। धीरे-धीरे उसकी सारी बुराइयाँ ऐसी ही घटनाओं के कारण नष्ट होती चली गईं और वह एक सभ्य मानव के रूप में परिणत हो गया।

बीज छोटा— छोटी-छोटी बातें प्रारंभ में भले ही नगण्य-सी लगें, अंततः वे विशाल रूप ले लेती हैं, तो वास्तविकता का अनुभव होता है।

वृक्ष बड़ा न्यूटन ने एक बाग में बैठकर सेव को पेड़ से टपकते हुए ही तो देखा था। इस साधारण सी घटना ने उन्हें गुरुत्वाकर्षण के सिद्धांत का पता लगाने की प्रेरणा दी और वे इसमें सफल भी हुए। जेम्स वाट ने रसोई घर में चाय की केटली के ढक्कन को उठती भाप से खड़-खड़ करते हुए ही देखा था और इस छोटी-सी बात ने उन्हें भाप की शक्ति के संबंध में और अधिक जानने के लिए प्रेरित किया था। इस छोटी सी घटना से प्रेरणा लेकर ही जेम्स वाट ने रेल के इंजन का आविष्कार किया। पेड़-पौधों में भी प्राण होते हैं, यह पता लगाने की प्रेरणा जगदीशचंद्र वसु को एक छोटी-सी घटना से मिली थी। हुआ यह था कि बचपन में वे शाम के समय एक पेड़ पर चढ़कर उछल-कूद मचा रहे थे। माँ ने मना किया था शाम के समय पेड़ों को तंग मत करो, उनके सोने का वक्त हो गया है। माँ की इसी सिखावन ने उन्हें इतना मथ डाला कि वे सोचने लगे, क्या सचमुच पेड़-पौधों में भी प्राण होते हैं ? यह छोटा-सा प्रश्न बीज ही आगे चलकर विकसित वनस्पति विज्ञान की नींव रख गया।

ऐसा शहद भी कड़वा एक छैल-छबीला आदमी शहद बेचा करता था। उसकी वाणी में इतनी मिठास थी, कि खरीददार उस पर मक्खी की तरह टूट पड़ते थे। एक बदमिजाज आदमी ने उसे देखा और डाह करने लगा। उसने सोचा, क्यों न मैं भी यही धंधा कर लूँ। दूसरे दिन वह भी शहद का मटका सिर पर रखकर घर से निकल पड़ा। आदत के अनुसार माथे पर त्योंरियाँ पड़ी हुई थीं। वह ध्यान से दरवाजों की ओर देखता कि शायद कोई मुझे पुकार न रहा हो, पर ज्यों ही उसकी नजर किसी औरत या मर्द से टकरा जाती, उसे देखने वाला मुँह फेर लेता।

शहद बेचने वाला परेशान था। वह दिन भर चिल्ला-चिल्लाकर आवाजें देता रहा—“शहद ले लो शहद !” उसकी आवाज इतनी तीखी थी कि सुनने वालों के दिल में घिन पैदा कर रही थी। सारा दिन शहद का मटका लिए-लिए भटकता रहा। आखिर थक कर चूर हो गया फिर उसने घर की राह ली। घर में बीबी उसकी सूरत देख कर सारा किस्सा भाँप गई और हँसी करती हुई बोली—“बदमिजाज का शहद भी कड़वा होता है, मियाँ ! अगर तुम्हारे पास सोना-चाँदी नहीं, तो क्या तुम अपनी वाणी में मिठास भी पैदा नहीं कर सकते ?”

व्यक्ति-व्यक्ति में पाया जाने वाला यह अंतर अंतः की सुसंस्कारिता के कारण ही है।

बूंदों की परिणति एक बार स्वयं को प्रत्यावर्तन हेतु प्रस्तुत किया जाय, तो परिणति स्वयं देखने को मिलती है। तब प्रारंभिक अनख पर दुःख होता है।

समुद्र खौलाया जाने लगा, तो डरी-सहमी जल की बूँदें विधाता के पास जाकर कहने लगीं—“पितामह ! हमें कष्ट क्यों देते हो, हमने तुम्हारा क्या बिगाड़ा है ?” विधाता ने बहुतेरा समझाया—“बूँदो ! तुम आकाश में उड़ोगी। जहाँ बरसोगी वहीं हरियाली फूटेगी और संसार को प्रसन्नता मिलेगी।” पर यह उपदेश बूँदों को अच्छा न लगा। वे लौटौं तो, पर विधाता को गालियाँ ही देती रहीं।

समुद्र ने जल की बूँदों को आकाश में फेंक दिया, फिर वे धरती पर गिरीं और बहते-बहते फिर समुद्र में जा पहुँचीं, तब उन्हें पता चला कि हम तो व्यर्थ ही डरते रहे, हमारा तो कुछ भी नहीं बिगाड़ा। इतने सुंदर दृश्य देखने और विश्व भ्रमण का सौभाग्य मिला सो अलग।

उधर स्वाति नक्षत्र आ गया, तो बूँदें एक बार फिर उमड़ीं, इस बार उनमें न भय था, न उद्वेग। हँसती खिलखिलाती बूँदें आकाश में झरने लगीं, कोई बाँस में गिरी, तो वंशलोचन बन गई, कोई कदली में गिरी, तो कपूर और कोई सीपी के मुख में गिरी, तो मोती बन गई।

बूँदें अपने इस सौभाग्य पर प्रसन्न हो रही थीं, तब विधाता विचार कर रहे थे कि मनुष्य भी संकट और साधनाओं से विचलित न होता, तो आज वह भी बूँदों के समान वंशलोचन, कपूर और मोती बन गया होता।

तप अनिवार्य संस्कारों से तात्पर्य है, व्यक्ति के परिशोधन-परिष्कार हेतु अपने प्रति कड़ाई से बरती गई तपश्चर्या।

राजकुमार रघु, गुरु वशिष्ठ के आश्रम में विद्याध्ययन कर रहे थे। उन्होंने ऋग्वेद का सूत्र सुना 'अतस्तनूर्नतदामो अश्नुते' अर्थात् जिसने शरीर से तप नहीं किया, उसे सुख प्राप्त नहीं होता।

स्वयं अपने चिंतन में सूत्र स्पष्ट न हुआ, तो गुरुदेव से पूछा—“प्रभो ! तप से ओजस् की वृद्धि, प्रवृत्तियों का शोधन, दोषों का नाश आदि तो समझ में आते हैं, सांसारिक सुख उससे कैसे मिलते हैं ? तपस्वी को सांसारिक दृष्टि से तो कष्ट साध्य जीवन ही जीना होता है।”

महर्षि ने स्पष्ट किया, कहा—“वत्स ! तप के कई पक्ष हैं। श्रम, व्यायाम, संयम, विद्याध्ययन आदि भी तप हैं। जो श्रम एवं व्यायाम के तप से बचेगा, आरोग्य और स्वास्थ्य कैसे पा सकेगा और उसके बिना कौन सुखी हो सका है ? संयम और अध्ययन द्वारा जिसने अपनी शक्तियों का, ज्ञान का विकास नहीं किया, वह संसार की दौड़ में पिछड़ जाएगा। पिछड़ा हुआ व्यक्ति कब सुखी देखा गया है ? अस्तु, वास्तविक सुख के लिए भी तप आवश्यक है।”

दिल छुप नहीं व्यक्ति धर्मोपदेशक हों अथवा विद्वान्-मनीषी, वह अपने आपको कितना तपा सका, इस पर उसकी आंतरिक वरिष्ठता निर्भर है।

सकता संत राबिया जंगल में तप कर रही थीं। पशु-पक्षी उसके इर्द-गिर्द बैठे हैं-खेल रहे थे।

हसन उधरसे निकले, उन्हें भी पहुंचा हुआ संत माना जाता था।

हसन जैसे ही राबिया के नजदीक पहुंचे, सारे पशु-पक्षी उन्हें देखते ही भाग खड़े हुए।

उन्हें अचम्भा हुआ और राबिया से पूछा—“जानवर-परिदे तुमसे लिपटे रहते हैं और मुझे देखकर भागते हैं, इसकी वजह ?”

राबिया ने पूछा—“आप खाते क्या हैं ?”

हसन ने कहा—“आमतौर से गोश्त ही खाने को मिलता है।”

राबिया हैंस पड़ी। लोग आपको जो भी समझें उनकी मर्जी। पर आपका दिल कैसा है, उसे यह नासमझ जानवर अच्छी तरह जानते हैं।

संस्कारों में इसीलिए संयम पर अत्यधिक, विशेषकर आहार पर ध्यान दिए जाने की अपेक्षा की जाती है।

तत्र पुंसवनं नामकरणमन्नप्राशनम् ।
मुण्डनं चाऽपि दीक्षा च विद्याऽभ्यासस्तथैव च ॥ ३६ ॥
यज्ञोपवीतसंस्कार पाणिग्रहणमेव च ।
वानप्रस्थो विवाहस्य जन्मनश्च दिनोत्सवौ ॥ ३७ ॥
ससमारम्भमेते चेत् संस्कारा विहितास्ततः ।
व्यक्तिभ्यः परिवाराय समाजायाऽपि प्रेरणा ॥ ३८ ॥
सुसंस्कारसमृद्धयर्थं मिलत्येव शुभावहा ।
क्रमेणाऽनेन भाव्यं च यथावंशपरम्पराम् ॥ ३९ ॥
व्यवस्था कर्मकाण्डस्य विधेर्मन्त्रविधेस्तथा ।
एवं स्याच्च यथा तत्र स्याद्धि वातावृतौ शुभः ॥ ४० ॥
संचारः प्रेरणायास्तु सर्वमेतच्च मन्यते ।
तां चोपचरितुं युक्तं भावनायाः प्रगल्भताम् ॥ ४१ ॥

भावार्थ—पुंसवन, नामकरण, अन्नप्राशन, मुंडन, विद्यारंभ, दीक्षा, उपनयन, विवाह, वानप्रस्थ, जन्मदिवसोत्सव, विवाह दिवसोत्सव आदि संस्कारों को समारोहपूर्वक करने से व्यक्ति, परिवार तथा समाज को सुसंस्कारिता संवर्द्धन की शिक्षा-प्रेरणा मिलती है—यह क्रम वंश परंपरा के साथ सदा चलना चाहिए। इन कृत्यों के कर्मकांड की विधि-व्यवस्था एवं मंत्र प्रक्रिया ऐसी हो, जो उपस्थित वातावरण में उपयोगी प्रेरणा का संचार करे। उन्हें भावना क्षेत्र की प्रगल्भता के लिए समर्थ उपचार माना गया है ॥ ३६-४१ ॥

व्याख्या—हमारी प्राचीन महत्ता एवं गौरव-गरिमा को गगनचुंबी बनाने में जिन अनेक सत्प्रवृत्तियों को श्रेय मिला था, उसमें एक बहुत बड़ा कारण यहाँ की संस्कार पद्धति को भी माना जाता है। यहा पद्धति सूक्ष्म अध्यात्म विज्ञान की अतीव प्रेरणाप्रद प्रक्रिया पर अवलंबित है। वेद मंत्रों के सस्वर उच्चारण से उत्पन्न होने वाली ध्वनि तरंगें, यज्ञीय ऊष्मा के साथ संबद्ध होकर एक अलौकिक वातावरण प्रस्तुत करती है। जो भी व्यक्ति इस वातावरण में होते हैं या जिनके लिए उस पुण्य प्रक्रिया का प्रयोग होता है, वे उससे प्रभावित होते हैं। यह प्रभाव ऐसे परिणाम उत्पन्न करता है, जिससे व्यक्तियों के गुण, कर्म, स्वभाव आदि की अनेक विशेषताएँ प्रस्फुटित होती हैं। संस्कारों की प्रक्रिया एक ऐसी आध्यात्मिक उपचार पद्धति है, जिसका परिणाम व्यर्थ नहीं जाने पाता। व्यक्तित्व के विकास में इन उपचारों से आश्चर्यजनक सहायता मिलती देखी जाती है।

संस्कारों में जो विधि-विधान हैं, उसका मनोवैज्ञानिक प्रभाव मनुष्य को सम्मार्गगामी होने के उपयुक्त बनाता है। संस्कार के मंत्रों में अनेक ऐसी दिशाएँ भरी पड़ी हैं, जो उन परिस्थितियों के लिए प्रत्येक दृष्टि से उपयोगी हैं। पुंसवन संस्कार के समय उच्चारण किए जाने वाले मंत्रों में गर्भवती के रहन-सहन, आहार-विहार संबंधी महत्वपूर्ण प्रशिक्षण मौजूद हैं। इस प्रकार विवाह में दांपत्य जीवन की, अन्नप्राशन में भोजन-छाजन की, वानप्रस्थ में सेवापरायण जीवन की आवश्यक शिक्षाएँ भरी पड़ी हैं। उन्हें यदि कोई प्रभावशाली वक्ता ठीक ढंग से समझाकर संस्कार के समय उपस्थित लोगों को बता सके, तो जिनका संस्कार से संबंध है, उन्हीं को नहीं, वरन् दूसरे सुनने वाले लोगों को भी इस संदेश से आवश्यक कर्तव्यों का ज्ञान हो सकता है और वे भी जीवन को उचित दिशा में ढालने के लिए तत्पर हो सकते हैं।

वस्तुतः हर्षोत्सव के वातावरण में देवशक्तियों की साक्षी, अग्निदेव के सात्रिध्य, धर्मभावना से अनुप्राणित वातावरण, स्वजनों की उपस्थिति एवं भक्ति सिक्त कर्मकांड—ये सब मिल-जुलकर संस्कारों से संबद्ध व्यक्ति को एक विशेष मनोभूमि में पहुँचा देते हैं। उस समय ली गई प्रतिज्ञा मन पर गहरा प्रभाव छोड़ती व व्यक्ति का कायाकल्प कर देती है।

आवश्यक संस्कारों का स्वरूप एक बार महर्षि दयानंद से एक सत्संग सभा में बौद्ध आचार्य ने पूछा—“महर्षि! पुरातन काल में षोडश संस्कारों का प्रचलन था। अब समय देखते हुए उन्हें कम किया जाना चाहिए, ताकि व्यस्तता और निर्धनता से ग्रस्त लोग भी उनका निर्वाह कर सकें।”

स्वामी जी बोले—“तात्। षोडश संस्कारों में से १० प्रधान हैं। इन्हें संपन्न किया जा सके, तो उत्तम हैं। इन्हें निरर्थक नहीं माना जाना चाहिए। आपकी जिज्ञासा के समाधान के लिए मैं उन दस का वर्णन करता हूँ।”

(१) पुंसवन—गर्भधारण के तीन महीने उपरंत जिसमें गर्भवती तथा उसके परिवार को नवागंतुक शिशु को सुविकसित बनाने के लिए आवश्यक कर्तव्यों की जानकारी दी जा सके।

(२) नामकरण—नाम अनगढ़ न रखे जाँय। व्यक्ति की गरिमा का उद्बोधन कराने वाले नाम चुने जाँय। उसका बार-बार उच्चारण सुनकर बालक अपने संबंध में मान्यता निर्माण करता है।

(३) अन्नप्राशन—बालकों का आहार-विहार संबंधी शिक्षण।

(४) मुण्डन—बाल उतारना और मानसिक विकास की, गुण-कर्म-स्वभाव की भूमिका संपन्न करने की विद्या। नाक, कान, छेदन का प्रचलन बंद करना चाहिए। यह असभ्यता का चिह्न है और स्वास्थ्य के लिए हानिकारक भी।

(५) विद्यारंभ—शिक्षा का आरंभ।

(६) उपनयन—यज्ञोपवीत धारण। उनके माध्यम से नौ सद्गुणों का महत्व समझना और उनके निर्वाह का स्मृति चिह्न के आधार पर ध्यान रखना। यही गुरु मंत्र गायत्री की दीक्षा भी है।

(७) विवाह—उपयुक्त साथी का, उपयुक्त आयु में चयन। बिना प्रदर्शन और अपव्यय के सात्विक वातावरण में जीवन यज्ञ बनाने वाले इस धर्म कृत्य का किया जाना। पिता के अनुदान को विशुद्ध स्त्री धन समझा जाना।

(८) वानप्रस्थ—ढलती आयु से शेष जीवन को परमार्थ प्रधान बनाना। साधना और सेवा की, जीवनचर्या में अभिवृद्धि करना।



(९) अन्त्येष्टि—जीवन की नश्वरता और उसके श्रेष्ठतम सदुपयोग के लिए उपस्थित जनों को बोध कराना ।

(१०) श्राद्ध—तेरहवें दिन मृतक की छोड़ी हुई संपदा का उपयुक्त भाग परमार्थ प्रयोजनों के लिए समर्पित करके मृतात्मा की सद्गति का द्वार खोलना ।

यह दस संस्कार करने से भी इन दिनों काम चल सकता है । इन दस के अतिरिक्त जन्मदिवसोत्सव और विवाहदिवसोत्सव हर वर्ष मनाए जाते हैं ।

रामचरितमानस में संस्कार व्यवस्था दशरथ जी के परिवार में सभी संस्कार श्रद्धापूर्वक संपन्न किए जाते थे । रामायण में उल्लेख मिलता है । शिशु जन्म के समय नंदीमुख श्राद्ध की परिपाटी है । सत्कार्यों के लिए दानादि द्वारा बालक के चारों ओर श्रेष्ठ वातावरण बनाया जाता है ।

नंदीमुख सराध करि, जात करम सब कीन्ह । हाटक धेनु बसन मनि नृप बिग्रह कहैं दीन्ह ॥

गर्भधारण के पूर्व से ही यज्ञीय संस्कारों का तारतम्य बनाया जाता है । जन्म के बाद क्रमशः अन्य संस्कार भी कराए जाते हैं—

नामकरण कर अवसर जानी । भूप बोलि पठए मुनि ग्यानी ॥

“राजा ने जब देखा कि नामकरण संस्कार का समय आ गया, तब ज्ञानवान् मुनि श्री वशिष्ठ जी को बुलाया ।”

नामकरण के बाद बच्चे के मस्तिष्क के विकास तथा भारतीय संस्कृति की प्रतीक शिक्षा स्थापन के लिए चूड़ा कर्म (मुंडन) संस्कार किया जाता है । चारों भाइयों का यह संस्कार भी कराया गया ।

चूड़ाकरण कीन्ह गुरु जाई । विग्रह पुनि दछिना बहु पाई ॥

“तब गुरु वशिष्ठ ने पहुँच कर चूड़ा कर्म संस्कार संपन्न कराया । उसके पश्चात् ब्राह्मणों को दक्षिणा दी गई ।”

माता-पिता के अतिरिक्त गुरु भी इस दिशा में सतर्क रहते थे । अपने शिष्यों को सही दिशा और प्रेरणा अपनी ओर से देते रहते थे ।

इस संस्कार शृंखला में यज्ञोपवीत संस्कार बड़ा महत्वपूर्ण है । इसको दूसरा जन्म कहा जाता है । व्यक्ति मनुष्य शरीर के अनुरूप दिव्य जीवनयापन करने के व्रतों से स्वयं को बाँध लेता है । इस संदर्भ में माता-पिता, गुरु सभी पूर्ण सावधान रहते हैं ।

भए कुमार जबहि सब भ्राता । दीन्ह जनेऊ गुरु पितु माता ॥

“जब चारों भाई बड़े हो गए, तभी गुरु, माता और पिता ने उन सबका यज्ञोपवीत संस्कार कर दिया ।”

जब इन संस्कारों के माध्यम से महान् बनने की प्रबल आकांक्षा जाग उठती है, तब विद्यारंभ संस्कार कराया जाता है ।

गुरु गृह गए पढ़न रघुराई । अल्प काल विद्या सब आई ॥

विवाह व्यक्ति के सामाजिक जीवन में प्रवेश का संस्कार है । इसे केवल समारोह के रूप में नहीं, संस्कार के उपयुक्त वातावरण में किया जाना चाहिए । चारों भाइयों के विवाह इसी ढंग से हुए ।

बर कुँअरि करतल जोरि साखीचार दोउ कुलगुर करें ।

भयो पानिगहन बिलोकि विधि सुर मनुज मुनि आनन्द भरैं ॥

आयु के अनुसार वानप्रस्थ ग्रहण करने का नियम है । दशरथ जी ने दर्पण में देखा कि कान के पास बाल सफेद हो गए हैं, अर्थात् बुढ़ापे का संदेश आ गया । ढलती आयु में घर के समर्थ बच्चों को उत्तराधिकार देकर स्वयं वानप्रस्थ में प्रवेश करना चाहिए, ऐसा उन्होंने निश्चय किया । तदनुसार राम को युवराज घोषित करने की तैयारी आरंभ कर दी गई । ढलती आयु में भी जो मोहवश घर में ही घुसे रहते हैं, तप का मार्ग छोड़ कर लोभ-मोह से ग्रसित रहते हैं, उनकी स्थिति पर क्षोभ, रोष, असंतोष व्यक्त करते हुए रामायण कहती है—

बैखानस सोइ सोचइ जोगू । तप बिहाइ जेहि भावइ भोगू ॥

असुर पत्नी मंदोदरी भी अपने पति रावण तक को वानप्रस्थ के लिए प्रोत्साहित करती है ।

संत कहहि अस नीति दसानन । चौथेपन जाइअ नृप कानन ॥

इसी महान् लक्ष्य को सामने रखकर स्वयंभुव मनु अपने पुत्रों को जबर्दस्ती राज्य सौंपकर गृहस्थ जीवन से निवृत्त होकर वानप्रस्थ में प्रवेश करते हैं ।

बरबस राज सुतहिं तब दीन्हा । नारि समेत गवन बन कीन्हा ॥

भारतीय संस्कृति यज्ञीय जीवनक्रम की शिक्षा देती है । मृत्यु के पश्चात् शरीर को भी यज्ञार्पण करके अंत्येष्टि संस्कार किया जाता है । राजा दशरथ के देहांत पर भरत ने सारे कृत्य किए ।

एहि बिधि दाह क्रिया सब कीन्हीं । विधिवत न्हाइ तिलाञ्जलि दीन्हीं ॥

चित्रकूट में श्रीराम ने भी इसी मर्यादा का पालन किया ।

कच्चे धागे की परिपक्वता पिता ने स्वयं यज्ञोपवीत कराया । विद्वान् पिता के विवेकवान् पुत्र ने पूछा—“पिताजी ! यह कच्चे धागे गले में डालने का क्या मतलब ?” पिता बोला—“मनुष्य जीवन को विवेक से बाँधकर रखा जाए, ताकि मनुष्य सांसारिक आकर्षणों में ही उलझकर न रह जाए, वरन् अपना पारमार्थिक लक्ष्य भी पूरा करने के लिए सजग रहे ।” जिसका यज्ञोपवीत धारण सार्थक हुआ, यही बालक आगे चलकर जगद्गुरु शंकराचार्य के नाम से विख्यात हुआ ।

पुंसवन संस्कार गर्भावस्था में किए जाने वाले पुंसवन संस्कार की अपनी वैज्ञानिक महत्ता है । गर्भिणी की मनःस्थिति पर ही बालक का स्वास्थ्य निर्भर होता है । एक स्त्री अपने बच्चे को नशीली औषधि देकर किसी आवश्यक कार्य से बाहर चली गई । लौटने पर वह बच्चा मरा पाया । स्त्री को इससे बहुत दुःख हुआ और वह शोकमग्न रहने लगी । उसी अवस्था में उसने दूसरी बार गर्भधारण किया । पहले बच्चे के प्रति उसका शोक ज्यों का त्यों बना रहा, इसलिए दूसरा लड़का रोगी हुआ । दूसरे वर्ष ही उसकी मस्तिष्क रोग से मृत्यु हो गई । अब वह और दुःखी रहने लगी । इस अवस्था में तीसरा पुत्र हुआ, वह हठी, सुस्त और कमजोर हुआ । दांत निकलते समय उसकी भी मृत्यु हो गई । चौथा पुत्र भी ऐसे ही गया । किंतु पांचवीं बार उसने इस महाविपदा से छूटने और सुसंस्कारी और स्वस्थ बालक जनने का संकल्प लिया और पुंसवन संस्कार कराया । उसकी परिस्थितियों में सुखद परिवर्तन आया, जिससे उस स्त्री की मानसिक प्रसन्नता बढ़ी । वह पहले की तरह हँसने-खेलने लगी । इस बार जो बच्चा हुआ वह पूर्ण स्वस्थ, निरोग और कुशाग्र बुद्धि का हुआ ।

संस्कार प्रथा स्वामी रामतीर्थ से एक जिज्ञासु ने पूछा—“भगवन् ! प्राचीनकाल में सभी के संस्कार होते थे, पर अब कदाचित् ही किसी के यहाँ विधिपूर्वक उनके होने का प्रचलन रहा, इसका क्या कारण है ?”
मृतप्राय क्यों हुई ? स्वामी जी ने उत्तर दिया—“पंडितों की दक्षिणा मँहगी हो जाने, अनेक साधन-सामग्रियों को जुटाने का झंझट उठाना, कर्मकांड में अत्यधिक समय लगना, जैसे कारणों से लोग इस संबंध में उपेक्षा बरतने लगे और मुंडन जैसे संस्कारों की चिह्न पूजा भर शेष रह गई । इनको पुनः प्रचलित करना आवश्यक है, ताकि उनके माध्यम से सुसंस्कारिता अभियान को गति मिल सके । इसके लिए यह आवश्यक है कि कर्मकांड संक्षिप्त और सरल किए जाँय । उन्हें मिलजुलकर संपन्न कर लिया जाय । जानकारीयों के अभाव में अकेले संक्षिप्त गायत्री हवन से इसकी पूर्ति हो सकती है । प्रयोजन की शिक्षा उपस्थित जनों को गंभीरतापूर्वक कुशल वक्ता द्वारा दी जाय । इससे उनकी उपयोगिता समझी जा सकेगी और पुरातन प्रथा फिर चल पड़ेगी ।”

व्यक्तिं कर्तुंसुसंस्कारयुतां ते षोडशाऽपि च ।
दश वा विहिता विज्ञैरुपचारास्तथैव तु ॥ ४२ ॥
भावनां तु समाजस्थां समूहाश्रयिणीमपि ।
शालीनताऽनुकूलां च कर्तुं पर्वादि मन्यताम् ॥ ४३ ॥
प्रशिक्षणस्य चैतेषु मिलनार्चयोरपि ।
ईशस्य विधेरस्ति समावेशो यमाश्रयन् ॥ ४४ ॥
लोकमानससंस्थास्ताः शक्या कर्तुं परम्पराः ।
बहूनि सन्ति पर्वाणि दशमुख्यानि तेषु तु ॥ ४५ ॥

भावार्थ—जिस प्रकार व्यक्ति को सुसंस्कारी बनाने के लिए षोडश अथवा दश उपचारों का विधान है, उसी प्रकार समाजगत सामूहिकता को शालीनता का पक्षधर बनाने के लिए पर्व-आयोजनों का महत्व है। इनमें मिलन, पूजन, प्रशिक्षण की ऐसी विधि-व्यवस्था का समावेश है, जिनके सहारे सत्परंपराओं को लोकमानस में प्रतिष्ठित कराया जा सके। पर्व बहुत हैं, परंतु उनमें दस प्रमुख हैं ॥ ४२-४५ ॥

व्याख्या—व्यक्तिगत दृष्टिकोण का परिष्कार करने के लिए जिस प्रकार पूजा-उपासना, पारिवारिक रीति-नीति को उत्कृष्ट बनाए रखने के लिए जिस प्रकार संस्कार प्रक्रिया है, ठीक उसी प्रकार समाज को समुन्नत और सुविकसित बनाने के लिए सामूहिकता, ईमानदारी, कर्तव्यनिष्ठा, नागरिकता, परमार्थ परायणता, देशभक्ति, लोकमंगल जैसी सत्प्रवृत्तियाँ विकसित करनी पड़ती हैं। उन्हें सुस्थिर रखना होता है। यह भी बार-बार स्मरण दिलाते रहने वाला प्रसंग है। इसी प्रयोजन के लिए देव संस्कृति में पर्व-त्यौहार मनाए जाते हैं। इन्हें सामाजिक संस्कार प्रक्रिया ही समझना चाहिए। साधना से व्यक्तित्व, संस्कारों से परिवार और पर्वों से समाज का स्तर ऊँचा बनाने की पद्धति दूरदर्शितापूर्ण है, इसे हजारों-लाखों वर्षों तक आजमाया जाता रहा है। प्राचीन भारत की महानता का श्रेय इन छोटी दीखने वाली, किंतु प्रवृत्तियों में प्रखरता उत्पन्न करने वाली धर्म के नाम पर प्रचलित विधि-व्यवस्थाओं को ही है।

पर्वों की रचना इसी दृष्टि से हुई कि प्राचीनकाल की महान् घटनाओं एवं महान् प्रेरणाओं का प्रकाश जनमानस में भावनात्मक एवं सामूहिक वातावरण के साथ उत्पन्न किया जाए। इसके लिए कितने ही पर्व-त्यौहार प्रचलित हैं। उनमें से देश, काल, पात्र के अनुसार जब जहाँ जिसको प्रधानता देने की आवश्यकता समझी जाती है, उन्हें प्रधान और शेष को गौण मान लिया जाता है। एक ही क्षेत्र में, एक ही काल में प्रचलित सैकड़ों पर्वों का मनाया जाना संभव नहीं, उनमें से स्थिति के अनुरूप कुछ को ही चुनना पड़ता है। देव संस्कृति में वस्तुतः प्रत्येक तिथि और वार को पर्व माना गया है और उसे मनाने के लिए विशेष धार्मिक विधान भी बतलाया है। इनके सिवाय देवताओं, अवतारों, महापुरुषों की स्मृति अथवा जयंती के लिए भी त्यौहार नियत किए गए हैं। कुछ अन्य पर्व जैसे संक्रांति, ग्रहण, कुंभ आदि आकाश स्थित ग्रहों के योग और उनसे पृथ्वी पर पड़ने वाले शुभाशुभ प्रभाव को दृष्टिगोचर रखकर मनाए जाते हैं। मुख्य रूप से इनमें से दस पर्व प्रमुख रूप से मनाए जाने योग्य हैं, जिनका वर्णन सत्राध्यक्ष ने इसी प्रसंग में आगे किया है।

ऋषिगणों ने आदिकाल में त्यौहारों की स्थापना मुख्यतः निम्नलिखित उद्देश्यों को लेकर की थी।

(१) जनता में जागृति, सद्भावना, ऐक्य, संगठन की वृद्धि करना, लोगों को सुसंस्कृत, शिष्ट और सुयोग्य नागरिक बनाना, उनमें सच्ची सामाजिकता की भावना उत्पन्न करना। (२) किसी विशेष अवसर पर बड़े यज्ञ के लिए। यद्यपि शास्त्रों के मतानुसार 'यज्ञ' शब्द का अर्थ परोपकार के कार्यों के लिए होता है, तथापि वैदिक कालीन पर्वों और उत्सवों में यज्ञ का अर्थ बड़े हवन से, सामूहिक धर्मानुष्ठान से ही लिया जाता है। (३) किसी विशेष ऋतु के परिवर्तन या फसल के तैयार होने पर सामाजिक समारोह के रूप में। (४) सर्वसाधारण के मनोरंजन और हृदयोच्छ्वास प्रकाश के लिए। (५) किसी युग प्रवर्तक महापुरुष, अद्वितीय कर्मवीर, शूरवीर, प्रणवीर, दानवीर, महान् विद्वान्, आदर्श प्रतापी का अथवा किसी महान् राष्ट्रीय घटना की स्मृति मनाने के निमित्त।

हमारे तत्ववेत्ता, पूज्यपाद ऋषि-महर्षियों के ऊपर बतलाए पाँचों उद्देश्यों के अनुकूल अनेक त्यौहार और पर्व के दिवस नियत कर दिए हैं और उन सबमें लौकिक कार्यों के साथ ही धार्मिक तत्वों का ऐसा समावेश कर दिया है, ताकि उनसे हमें अपने जीवन निर्माण में सहायता मिले और समाज भी सुमार्ग पर अग्रसर हो सके। मनुष्य स्वभाव से ही अनुकरणशील प्राणी है। दूसरों को कोई शुभ काम करता देखकर उसके मन में भी वैसा ही काम करने की इच्छा स्वतः उत्पन्न होती है। यही मूल कारण था कि सामूहिक आयोजनों के रूप में पर्वोत्सवों का प्रचलन किया गया।

यहाँ स्पष्ट शब्दों में पर्वों की उपयोगिता समझाते हुए महर्षि कात्यायन कहते हैं कि लोक मानस के परिष्कार हेतु, सत्प्रवृत्ति विस्तार हेतु, श्रेष्ठ परंपरा स्थापना हेतु ही पर्वों का विधान देवसंस्कृति में रखा गया

है। इनसे देव शक्तियों का पूजन, जन साधारण के पारस्परिक सम्मिलन एवं लोक शिक्षण का त्रिविध प्रयोजन पूरा होता है। यह व्यवस्था इतनी सुनियोजित एवं वैज्ञानिक है कि इसकी उपादेयता से इन्कार नहीं किया जा सकता। समाज के ढाँचे को सुव्यवस्थित बनाए रखने में पर्वों ने बड़ी महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है।

व्रत और

जयंतियाँ क्यों ?

महर्षि कणाद के गुरुकुल में प्रश्नोत्तरी अवधि में जिज्ञासु शिष्य उपगुप्त ने पूछा—“देव ! भारतीय धर्म में व्रतों-जयंतियों की भरमार है। कदाचित् ही कोई दिन ऐसा छूट हो, जिसमें इनमें से कोई न कोई पड़ता न हो। इसका क्या कारण है ? कृपया समझाकर कहिए।”

महर्षि कणाद बोले—“तात् ! व्रत व्यक्तिगत जीवन को अधिक पवित्र बनाने के लिए है, जयंतियाँ महामानवों से प्रेरणा ग्रहण करने के लिए। उस दिन उपवास, ब्रह्मचर्य, एकांत सेवन, मौन, आत्म निरीक्षण आदि की विधा संपन्न की जाती है। दुर्गुण छोड़ने और सद्गुण अपनाने के लिए देव पूजन करते हुए संकल्प किए जाते हैं। अब उतने व्रतों का निर्वाह संभव नहीं। इसलिए पाक्षिक व्रत करना हो, तो दोनों एकादशी, मासिक करना हो, तो पूर्णिमा और साप्ताहिक करना हो, तो रविवार, गुरुवार में से कोई एक रखा जा सकता है।

गौरी व्रत

किसलिए ?

एक बार पर्व संस्कारों की विविधता पर मुग्ध देव संस्कृति के प्रति आकर्षित एक अंग्रेज ने लोकमान्य तिलक से पूछा—“भारत की स्त्रियाँ ही अच्छा वर पाने के लिए क्यों गौरी व्रत करती हैं ? पुरुष अच्छी वधू पाने के लिए क्यों गौरी व्रत नहीं करते ?”

तिलक ने कहा—“भारत की सभी स्त्रियाँ अच्छी हैं, इसलिए पुरुषों के लिए कोई कठिनाई नहीं पड़ती। कमी तो अच्छे पुरुषों की है, इसलिए अच्छे पति पाने के लिए स्त्रियों को व्रत करना पड़ता है।”

सामूहिकता एवं चरित्रनिष्ठा का शिक्षण

धर्मधारणा एवं आस्तिकता के भावों की वृद्धि के साथ ही धार्मिक और सामाजिक त्यौहारों का एक प्रमुख उद्देश्य सामूहिकता की वृद्धि करना है। मानव जीवन की सफलता के लिए, जहाँ व्यक्तिगत उन्नति और सत्प्रवृत्तियों को ग्रहण करने की आवश्यकता है, वहाँ समाज-संगठन को सुदृढ़ बनाना और पारस्परिक सहयोग के द्वारा सामाजिक हित की बड़ी योजनाओं की पूर्ति करना भी अत्यावश्यक है। इसके लिए लोगों में पारस्परिक एकता-भाईचारे की मनोवृत्ति का उत्पन्न होना आवश्यक है। हमारे यहाँ होली, दीवाली, दशहरा और स्नान आदि के जो त्यौहार और पर्व नियत किए गए हैं, उनका विशेष उद्देश्य यही है कि लोग परस्पर प्रेमपूर्वक मिलें और सामूहिकता की भावना को सुदृढ़ बनावें।

जो त्यौहार या उत्सव किसी प्राचीन महापुरुष या अवतार की जयंती के रूप में मनाए जाते हैं, उनका एक बहुत बड़ा लाभ यह होता है कि जनता को उनके द्वारा सच्चरित्रता, नैतिकता, सेवा, सद्भावना आदि की शिक्षा मिलती है। इस प्रकार के उत्सव संसार के सभी देशों में मनाए जाते हैं और इस बात का ध्यान रखा जाता है कि जन साधारण अपने उन महान् पूर्वजों के चरित्रों से उच्च कोटि के सद्गुणों की प्रेरणा प्राप्त करें। वास्तव में जिस समुदाय में ऐसे महापुरुषों का अभाव है, वह उन्नति की आशा नहीं रख सकता, क्योंकि साधारण मनुष्य के लिए बिना किसी मार्गदर्शक अथवा प्रकाशस्तंभ के संसार में सफलतापूर्वक अग्रसर हो सकना संभव नहीं है। यही कारण है कि उन्नति की कामना रखने वाली जातियाँ अपने पूर्व पुरुषों के चरित्रों और महान् कार्यों को बड़े गौरव के साथ याद करती हैं। उदाहरण के लिए यूरोप में फ्रांस और एशिया में जापान का उल्लेख कर सकते हैं। ये दोनों देश अपेक्षाकृत छोटे होने पर भी वीर पूजा के गुण के कारण ही संसार की राष्ट्र मंडली में अग्रगण्य बन गए।

तिलक की एक

महती सूझ

भारत के हर क्षेत्र में धार्मिक मेलों की धूम रहती है। पर उनमें पहुँचते पुरातनपंथी तथा उनकी जेब काटने वाले पंडे-पुजारी ही हैं। उत्सवों का उद्देश्य लोक चेतना को उत्कृष्टता की दिशा देना था और होना भी चाहिए।

लोकमान्य तिलक ने दो त्यौहारों की नई रूपरेखा की। एक गणेश जयंती, दूसरी शिव जयंती। इन दोनों का कार्यक्रम ऐसा बनाया गया और इस प्रकार चलाया गया कि सम्मिलित होने वाली जनता में शिक्षा, प्रेम, देशभक्ति तथा साहसिकता की उमंगें उमँगें।

उस योजना ने महाराष्ट्र के लोकमानस को कितना भावनामय बना दिया, इसे सभी जानते हैं। आवश्यकता



अन्य प्रांतों में भी ऐसी ही प्रचलनों की है। जो उत्सव चल रहे हैं, उन्हें भी मात्र मनोरंजन न रहने देकर प्रेरणाप्रद बनाया जा सकता है।

पर्व-त्यौहार का अर्थ है-उस विशेष आयोजन से प्रेरणा लेना, न कि चिह्न पूजा भर कर लेना।

विजयादशमी के दिन रामलीला समाप्त हुई। रावण का बड़ा-सा पुतला बना था, उसे खूब धूम-धड़ाके से जलाया गया।

रावण की प्रेतात्मा

रावण की प्रेतात्मा उधर आ निकली। उसने अश्रव्य वाणी में लोगों से कहा-“तुममें से जो राम हो, वह रावण को मारे। त्रेता में मैं अकेला था, सो एक राम ने विजय प्राप्त कर ली। अब तो लाखों रावण उपजे पड़े हैं। उनके लिए उतने राम तो पैदा करो।

वसन्तपञ्चमी दिव्या शिवरात्रिश्च होलिका ।
सा रामनवमी पुण्या गायत्रीजयघोषिणी ॥ ४६ ॥
गुरुपूर्वापूर्णिमासी श्रावणी च तथैव सा ।
कृष्णजन्माष्टमी मान्या विजयादशमी तथा ॥ ४७ ॥
दीपावलीपति सर्वेषु दशानामेव मुख्यतः ।
महत्वं वर्तते तेन सोत्साहं पर्व मन्यताम् ॥ ४८ ॥
भावनापूर्वकं यत्र मानितानि समान्यपि ।
इमानि तत्र संस्कारभावनोदेति चान्ततः ॥ ४९ ॥
सत्प्रवृत्त्युदयश्चाऽपि जायते मानवेषु सः ।
प्रतिव्यक्ति समाजं च यस्यापेक्षा मता बुधैः ॥ ५० ॥

भावार्थ-वसंतपंचमी, शिवरात्रि, होली, रामनवमी, गायत्रीजयंती, गुरुपूर्णिमा, श्रावणी, जन्माष्टमी, विजयादशमी, दीपावली-इन दस का विशेष महत्व है, अतः पर्वों को सोत्साह मनाना चाहिए। इन्हें जहाँ भावनापूर्वक मनाया जाता रहता है, वहाँ सुसंस्कारिता की उमंगें उठती रहती हैं और सत्प्रवृत्तियाँ पनपती रहती हैं, जिसकी आवश्यकता प्रत्येक व्यक्ति व समाज के लिए अनिवार्यतः होती है ॥ ४६-५० ॥

व्याख्या-धर्म धारणा को हर किसी के गले मात्र उपदेशों से नहीं उतारा जा सकता। व्यक्ति को अध्यात्म का मर्म समझाने, सही शिक्षा देने और सन्मार्ग पर चलाने का ऋषि प्रणीत मार्ग है-धार्मिक कथाओं के कथन-श्रवण द्वारा सत्संग एवं पर्व विशेषों पर सोद्देश्य मनोरंजन। त्यौहार-व्रतोत्सव यही प्रयोजन पूरा करते हैं। पर्व-त्यौहार जन-जन में नैतिकता व सद्यश्चिन्ता के भावों को जन्म देकर सांस्कृतिक पुनरुत्थान में सहायक भूमिका निभाते हैं।

प्रधान पर्वों का

पुण्य प्रयोजन

देव संस्कृति में पर्व-त्यौहारों की संख्या एवं विविधता भी अगणित-अनेकानेक है। इनका उद्देश्य और स्वरूप समझने का अनुग्रह किए जाने पर एक उद्बोधन में स्वामी विवेकानंद बोले-“वर्ष में प्रायः चालीस पर्व पड़ते हैं। युग धर्म के अनुग्रह इनमें से दस का निर्वाह बन पड़े, तो उत्तम है। उन प्रमुख दसों के नाम और उद्देश्य इस प्रकार हैं।

(१) दीपावली-लक्ष्मी के उपार्जन और उपयोग की मर्यादाओं का बंध। गो संवर्द्धन की प्रमुखता। सज्जनों के सामूहिक प्रयत्न से अँधेरी रात जगमगाने का उदाहरण, वर्षा के उपरंत समग्र सफाई। इसी दिन भगवान् महावीर, स्वामी रामतीर्थ, स्वामी दयानंद की स्मृतियाँ भी मनाई जाती हैं।

(२) गीता जयंती-मार्गशीर्ष सुदी ११ को। गीता के कर्मयोग का समारोहपूर्वक प्रचार-प्रसार। जीवन में कर्मनिष्ठा को स्थान देने का संकल्प।

(३) वसंतपंचमी-माघ सुदी पंचमी। वसंतोत्सव। भगवती सरस्वती का जन्मदिन। सदैव उल्लसित हल्की-फुल्की मनःस्थिति बनाए रखना। साहित्य, संगीत एवं कला को सही दिशाधारा देना।

(४) शिवरात्रि-भगवान् शिव के प्रतीक में जिन सत्प्रवृत्तियों की प्रेरणा का समावेश है, उनका रहस्य



समझना-समझाना । नशा-निषेध का, मन:संस्थान पर छाई दुष्प्रवृत्तियों को मिटा डालने का दृढ़ संकल्प ।

(५) होली-पतझड़ के कूड़े-करकट को जलाना अर्थात् अंतः की मलिनता को धो डालना । नवात्र का वार्षिक यज्ञ । प्रह्लाद कथा का विशेष रूप से स्मरण । उल्लास उत्साह की उमंगभरी अभिव्यक्ति ।

(६) गंगा दशहरा-गायत्री जयंती । ज्येष्ठ शुक्ल दशमी । भगीरथ के उच्च उद्देश्य एवं तप की सफलता से प्रेरणा । आद्य शक्ति गायत्री की प्रेरणाओं की जानकारी । ऐसे ही दृढ़ संकल्पों के लिए सदैव उद्यत रहना ।

(७) व्यास पूर्णिमा-गुरु पूर्णिमा, अषाढ़ सुदी पूर्णिमा । यह अनुशासन पर्व है, स्वाध्याय और सत्संग की व्यवस्था का भी । गुरु तत्व के माध्यम से श्रद्धा भावना के एक मार्गदर्शक प्रतीक की स्थापना इस पर्व पर की जाती है ।

(८) श्रावणी-रक्षा बंधन-बहिन-भाई की पवित्र दृष्टि । एक नारी रक्षा । बन पड़े पापों का प्रायश्चित हेमाद्रि संकल्प । यज्ञोपवीत का नवधारण । उसके प्रयोजन का पुनः स्मरण । ऋषि कल्प पुरोहितों से व्रतशीलता से बंधना ।

(९) पितृ आमवस्था-आश्विन वदी अमावस्या अपने निजी पूर्वजों का कृतज्ञतापूर्वक स्मरण । अभिव्यक्ति के लिए श्राद्ध-तर्पण । अतीत के महामानवों को श्रद्धांजलि अर्पण ।

(१०) विजयादशमी-स्वास्थ्य, शस्त्र एवं शक्ति संगठन की आवश्यकता का स्मरण लंका पर राम विजय की प्रसन्नता ।

इनके अतिरिक्त कितने ही क्षेत्रीय पर्व हैं । वहाँ उन्हें परंपरा के अनुरूप मनाया जाय । रामनवमी, कृष्णाष्टमी, हनुमान जयंती, बुद्ध जयंती, गांधी जयंती, गणेश चतुर्थी आदि को भी पर्वों की तरह ही मनाया जाता है ।

आश्विन और चैत्र की नवरात्रियाँ भी साधना पर्व के रूप में प्रख्यात हैं । इनमें आद्यशक्ति गायत्री अनुष्ठान और ज्ञान यज्ञ के सुनियोजित आयोजन होने चाहिए ।

वसंत पंचमी पर्व वसंत पंचमी शिक्षा, साक्षरता, विद्या और विनय का पर्व है । कला, विविध गुण, विद्या की साधना को बढ़ाने, उन्हें प्रोत्साहित करने का पर्व है-वसंत पंचमी । मनुष्यों में सांसारिक, व्यक्त जीवन का सौंदर्य, मधुरता उसकी सुव्यवस्था में सब विद्या, शिक्षा, गुणों के ऊपर ही निर्भर करते हैं । अशिक्षित, गुणहीन, बलहीन व्यक्ति को हमारे यहाँ पशुतुल्य माना गया है । 'संज्ञीतसाहित्यकलाविहीनः साक्षात् पशुपुच्छविषाणहीनः ।' इसलिए हम अपने जीवन को इस पशुता से ऊपर उठाकर विद्या संपन्न, गुणवान जीवन बिताएँ, वसंत पंचमी इसी की प्रेरणा का त्यौहार है ।

सरस्वती के अवतरण पर्व पर प्रकृति खिलखिला पड़ती है, हँसी और मुस्कान के फूल खिल पड़ते हैं । उल्लास, उत्साह और प्रगति के यह अभिनव सृजन के प्रतीक नवीन पल्लव प्रत्येक वृक्ष पर परिलक्षित होते हैं । मनुष्य में भी जब ज्ञान का, शिक्षा का प्रवेश होता है-सरस्वती का अनुग्रह अवतरित होता है, तो स्वभाव में, दृष्टिकोण में, क्रिया-कलाप में वसंत ही बिखर दीखता है । हलकी-फुलकी चिंता और उद्वेगों से रहित खेल जैसी जिंदगी जीने की आदत पड़ जाती है । हर कार्य की पूरी-पूरी जिम्मेदारी अनुभव करने पर मन पर बोझ किसी भी भली-बुरी घटना का न पड़ने देना-यही है हलकी-फुलकी जिंदगी । पुष्पों की तरह अपने दाँत हर समय खिलते रहें । मुस्कान चेहरे पर अठखेलियाँ करती रहे । चित्त हलका रखना, आशा और उत्साह से भरे रहना, उमंगें उठने देना, उज्ज्वल भविष्य के सपने सँजोना, अपने व्यक्तित्व को फूल जैसा निर्मल, निर्दोष, आकर्षक एवं सुगंधित बनाना-ऐसी ही अनेक प्रेरणाएँ वसंत ऋतु में पेड़-पौधों पर नवीन पल्लवों-पुष्पों के आने को देख कर प्राप्त की जा सकती हैं । कोयल की तरह मस्ती में कूकना, भौरों की तरह गूँजना, गुनगुनाना यही जीवन की कला जानने वाले के चिह्न हैं । हर जड़-चेतन में वसंत ऋतु में एक सृजनात्मक उमंग देखी जाती है । उस उमंग को वासना से ऊँचा उठाकर भावोल्लास में विकसित किया जाना चाहिए । सरस्वती का अभिनंदन प्रकृति वसंत अवतरण के रूप में करती है । हम पूजा वेदी पर पुष्पांजलि भेंट करने के साथ-साथ जीवन में वसंत जैसा उल्लास, कलात्मक प्रवृत्तियों का विकास और ज्ञान संवर्द्धन का प्रयास करके सच्चे अर्थों में भगवती का पूजन करते हैं और उसका लाभ अपने को तथा अन्य असंख्यों को पहुँचाते हैं ।

परहित साधन का पुण्य पर्व- जब समुद्र मंथन हो रहा था और अनेक प्रकार की उपयोगी वस्तुओं के निकलने के पश्चात् जब हलाहल विष निकला, तो सब देवता घबरा गए

कि यदि यह विष संसार में फैल गया, तो समस्त संसार इसके प्रभाव से संतप्त हो जाएगा, संसार में एक प्रकार की प्रलय आ जाएगी। प्राणियों का जीवित रहना कठिन हो जाएगा। सोचकर देवता भगवान् शंकर के पास गए और उनसे प्रार्थना की कि वह इस होने वाले महान् अनिष्ट से बचने का उपाय बताएँ और सहायता दें। महादेव कहलाने वाले शंकर ने अपने शरीर की परवाह न करते हुए उस हलाहल विष का पान करने का निश्चय किया। जिस व्यक्ति के मन में परोपकार की भावनाएँ जागृत हो जाती हैं, भगवान् स्वयं उसकी सहायता करते हैं, उसकी आत्मिक शक्तियों का विकास होने लगता है।

इस प्रकार शिव का चरित्र-महा शिवरात्रि का पर्व-हमको लोभ, मोह, लालसा के स्थान पर त्याग, अपरिग्रह और परहित साधना की प्रेरणा देता, उपदेश करता है। यह व्रत फाल्गुन कृष्ण चतुर्दशी को बड़े धूमधाम से शिवजी की पूजा-अर्चना करते हुए मनाया जाता है। इस व्रत संबंधी एक अन्य कथा इस प्रकार कही जाती है।

प्रत्यंत देश में एक बहेलिया रहता था, जो प्रतिदिन जीवों को मारकर अपने परिवार का पालन करता था। उस पर एक साहूकार का कुछ रुपया कर्ज था, जिसे समय पर न चुका सकने के कारण उसे एक शिव मंदिर में बंद कर दिया गया। उस दिन फाल्गुन कृष्ण तेरस थी। वहाँ पर बहेलिया ने अगले दिन शिवरात्रि के व्रत की बात सुनी। दूसरे दिन साहूकार ने ऋण चुकाने का वायदा कराके उसे छोड़ दिया। वह अपने धंधे के लिए जंगल में गया, पर उसे कोई शिकार न मिला। सायंकाल के समय भूख से व्याकुल होकर वह एक बेल के पेड़ के ऊपर चढ़ गया और बेल के पत्ते तोड़कर नीचे गिराने लगा। वहाँ एक शिवजी की मूर्ति स्थापित थी और वे पत्ते अनायास उस पर चढ़ने लगे। पेड़ पर बैठे-बैठे उसने देखा कि एक गर्भवती हिरणी मंदगति से उसी पेड़ के पास वाले तालाब की तरफ आ रही है। बहेलिया ने उसे मारने के लिए धनुष पर बाण चढ़ाया। इस पर हिरणी ने कहा कि मैं गर्भवती हूँ और बच्चा होने का समय भी आ चुका है। अतः तुम मुझे इस समय छोड़ दो, मैं बच्चे को उसके पिता को सौंप कर शीघ्र ही तुम्हारे पास आ जाऊँगी। बहेलिया का हृदय शिवजी के व्रत के प्रताप से शुद्ध हो गया था। उसे दया आ गई और उसने हिरणी को छोड़ दिया।

आधी रात बीतने पर एक दूसरी हिरणी दिखलाई दी। जब वह उसे मारने को उद्यत हुआ, तो उसने कहा कि मैं रजस्वला हूँ और पति की कामना कर रही हूँ। अगर तुमने मुझे अभी मार डाला, तो मेरी कामना अतृप्त रह जाएगी। इसलिए तुम इस समय मुझे छोड़ दो, मैं अपनी कामना की पूर्ति करके सुबह तुम्हारे पास अवश्य आ जाऊँगी। व्याध ने उसे भी छोड़ दिया।

रात्रि का तीसरा पहर बीत जाने पर उसने देखा कि एक हिरणी बच्चे के साथ घूमती-फिरती पानी पीने आ रही है। उसने इसको मारना चाहा, तो हिरणी ने कहा कि आप मुझे इतना अवकाश दें कि मैं इस बच्चे को इसके पिता के पास पहुँचा आऊँ, तब आप मुझे खुशी से मार डालना। व्याध ने उसकी बात भी मान ली।

जब प्रातःकाल होने में थोड़ा ही समय रह गया तो, एक मोटा-ताजा हिरण तालाब के पास पहुँचा। व्याध ने उसे मारने का उपक्रम किया, तो वह कहने लगा-“हे व्याध। मेरी हिरणियाँ मुझे ढूँढ़ रही होंगी। इसके सिवाय वे तुमसे जिस-जिस बात की शपथ खाकर गई हैं, मेरे न जाने से उसे भी पूरा न कर सकेंगी। इसलिए मुझे इस समय जाने दो, जिससे मैं इस संबंध में उचित व्यवस्था कर सकूँ। आज की घटना से तथा शिवरात्रि के प्रभाव से व्याध कुछ आश्चर्य में पड़ गया था और उसने हिरण को जाने दिया। थोड़ी ही देर बाद वे तीनों हिरणी और हिरण उसके सामने उपस्थित हो गए। परंतु अब उसके विचार बदल गए थे और उसने सभी को वापस लौटा दिया। जब शिवजी ने व्याध की ऐसी पवित्र मनोवृत्ति देखी, तो उन्होंने प्रकट होकर उसे अपने लोक में स्थान दिया।

मिलन का प्रतीक होली पर्व सारे भारत में हर्षोल्लास के पर्व के रूप में मनाया जाता है। जिसमें छोटे-बड़े का भेद भुलाकर जनमानस एकाकार होकर तरंगित होने लगता है। फाल्गुन की पूर्णिमा को यह मनाया जाता है। इसी दिन महर्षि वशिष्ठ ने महाकाल से सब मनुष्यों के लिए अभयदान माँगा था, ताकि सभी हँसे-खेले।

होलिका पर्व यह यज्ञीय पर्व है। नई फसल पकने लगती है। उसके उल्लास में सामूहिक यज्ञ के रूप में होली जलाकर नवीन अन्न का यज्ञ करके उसके बाद उपयोग में लाने का क्रम बनाया गया है। कृषि प्रधान देश की



यज्ञीय संस्कृति के सर्वथा अनुकूल यह परिपाटी बनाई गई है ।

पुराणकालीन आदर्श सत्याग्रही भक्त प्रह्लाद के दमन के लिए हिरण्यकश्यप के छल-प्रपंच सफल न हो सके । उसे भस्म करने के प्रयास में होलिका जल मरी और प्रह्लाद तपे कंचन बन गए । खीझ-क्रोध से उन्मत्त हिरण्यकश्यप जब स्वयं उसे मारने दौड़ा, तो नृसिंह भगवान् ने प्रकट होकर उसे समाप्त कर दिया । इस कथा की महान् प्रेरणाओं को होली के यज्ञीय वातावरण में उभारा जाना उपयुक्त है !

यह राष्ट्रीय चेतना के जागरण का पर्व है । जहाँ वर्ग भेद है, वहाँ समस्त साधन होते हुए भी क्लेश और अशक्तता ही रहेगी । जिनमें भ्रातृत्व-सहकार है, वे अन्य साधनों में भी प्रसन्न और अजेय रहेंगे । इसलिए इसे समता का पर्व भी मानते हैं । कार्य विभाजन के लिए किए गए चार वर्णों में कोई दूसरे को हीन न माने, इसलिए चार प्रमुख पर्वों पर चारों वर्णों को प्रमुख महत्व देने की परंपरा रखी गई है । होली पर्व में कर्म से निर्धारित शूद्र वर्ग का प्रधान महत्व देकर समता सिद्धांत को चरितार्थ किया जाता रहा है ।

गायत्री जायंती- सृष्टि के आदि में ब्रह्माजी जिस शक्ति की साधना करके विश्व संचालन के उपयुक्त ज्ञान एवं विज्ञान, अनुभव एवं पदार्थ प्राप्त कर सकने में समर्थ हुए, पौराणिक प्रतिपादन के अनुसार गंगा दशहरा उसका नाम गायत्री है । सृजन और अभिवर्द्धन का उद्देश्य लेकर चल रही जीवन प्रक्रिया को भी इसी संबल की आवश्यक है, जो ब्रह्माजी की तरह उसे मानसिक क्षमता एवं भौतिक संपन्नता प्रदान कर सके । गायत्री मंत्र में वे तत्त्व बीज मौजूद हैं । उपासना और तपश्चर्या के विधान को अपनाकर इन तत्त्वों को वैज्ञानिक रूप से अपने भीतर-बाहर बढ़ाया भी जा सकता है ।

गायत्री को वेदमाता ज्ञान गंगोत्री-संस्कृति की जननी एवं आत्मबल की अधिष्ठात्री कहा जाता है । इसे गुरुमंत्र कहते हैं । यह समस्त भारतीय धर्मानुयायियों की उपास्य है । इसमें वे सभी विशेषताएँ विद्यमान हैं, जिसके आधार पर सार्वभौम सार्वजनीन उपासना का पद पुनः ग्रहण कर सके । इसी ज्ञान-विज्ञान की देवी गायत्री का जन्मदिन है-गायत्री जायंती । इसी दिन भगवती गंगा स्वर्ग से धरती पर अवतरित हुई । जिस प्रकार स्थूल गंगा भूमि को सींचती, प्राणियों की तृष्णा मिटाती, मलिनता हरती और शांति देती है, वही सब विशेषताएँ अध्यात्म क्षेत्र में गायत्री रूपी ज्ञान गंगा की है । गायत्री महाशक्ति के अवतरण की गंगावतरण से संगति भली प्रकार मिल जाती है । गंगावतरण संबंधी कथा इस प्रकार है ।

सगर राजा के साठ हजार पुत्र अपने कुर्मों के फलस्वरूप अग्नि में जल रहे थे । उनकी कष्ट निवृत्ति गंगाजल से ही हो सकती थी । सगर के एक वंशज भगीरथ ने निश्चय किया कि वे स्वर्ग से गंगा को धरती पर लाएँगे । वे इसके लिए कठोर तप साधना में लग गए । इस निःस्वार्थी का प्रबल पुरुषार्थ देखकर गंगा धरती पर आई । पर उन्हें धारण कौन करे, इसके लिए पात्रता चाहिए । इस कठिनाई को शिव ने अपनी जटाओं में गंगा को धारण करके हल कर दिया । गंगा का अवतरण हुआ । सगर पुत्र उनके प्रताप से स्वर्ग को गए और असंख्यों को उसका लाभ मिला । आत्मशक्ति का, ऋतंभरा प्रज्ञा का अवतरण ठीक गंगावतरण स्तर का है । उसकी पुनरावृत्ति की आज अत्यधिक आवश्यकता है ।

ज्ञान और कर्म के समन्वय का प्रतीक श्रावणी पर्व ज्ञान अकेला अपूर्ण और अधूरा है । कर्म कुशलता के अभाव में कथनी और करनी में अंतर आने लगता है । श्रावणी पर्व अपने ज्ञान को, कर्म की शक्ति को सृजन की प्रेरणा देने वाला पर्व है । हमारा ज्ञान वाणी से नहीं आचरण से व्यक्त हो । हमारी शक्ति किसी को दबाने, झुकाने या निरर्थक कार्यों में नहीं, सृजन में लगे । श्रावणी पर्व की पृष्ठभूमि में जो पौराणिक कथा है, विष्णु की नाभि से कमल बेल का निकलना और उसमें से ब्रह्मा का अवतरण होना तथा सृष्टि का निर्माण करना, वही अर्थ है और उसमें हमें सृजन की, निर्माण की ही प्रेरणा लेनी चाहिए ।

शिखा और यज्ञोपवीत — श्रावणी पर्व में प्रधान रूप से ध्यान देने योग्य दो तथ्य हैं । शिखा परिष्कृत विचारणा, आदर्शवादी आस्था, उत्कृष्ट जीवन नीति का प्रतीक है । जिस सिर पर यह लहराए, उस मस्तिष्क के संबंध में यह जानना चाहिए कि इस मस्तिष्क में आदर्शवादी आस्थाओं का निवास है । राष्ट्र ध्वज को सर्वोपरि सम्मान दिया जाता है और उसी से यह जाना भी जा सकता है कि यह आदर्शों का अनुयायी है । मानवी मस्तिष्क पर लहराने वाली

शिखा-ध्वजा उसके लिए सर्वोपरि आदर की वस्तु है, क्योंकि वह इस बात का द्योतक है कि यह मस्तिष्क आदर्शवादी उत्कृष्ट चिंतन और श्रेष्ठ आस्थाओं का ही पोषक है और यज्ञोपवीत उन आदर्शों को बहिरंग जीवन में भी क्रियाचित करने का व्रत बंध है। इसके एक-एक धागे में अगणित प्रेरणाएँ सन्निहित हैं। श्रावणी पर्व पर शिखा सिंचन और उपवीत नवीनीकरण के जो कार्य संपन्न किए जाते हैं, उनका यही अर्थ है कि हम अपने आदर्शों को भूले नहीं हैं। शिखा सिंचन और उपवीत नवीनीकरण ज्ञान और कर्म दोनों को परिष्कृत बनाए रखने का संकल्प पुनः पुनः दुहराया जाता है।

प्रायश्चित प्रक्रिया के पीछे यही भावना है कि पिछले दिनों हमसे जो अवांछनीयताएँ होती रहीं, उन्हें अब दूर करने का संकल्प किया जा रहा है। अवांछनीयताएँ दूर करने के रूप में पिछले दिनों हुए त्रुटियों का छूटना भी आवश्यक है। अतः श्रावणी पर्व पिछले वर्ष के पुनरावलोकन, आत्म निरीक्षण का पर्व भी है। यह पर्व विभिन्न कर्मकांडों के माध्यम से हमें अपने आदर्शों को, ज्ञान या विचार को जीवन में उतारने की व्यावहारिक प्रेरणा देता है।

आज यद्यपि रक्षाबंधन का रूप हाथ में एक लाल-पीला डोरा अथवा रेशम और कलाबत्तू आदि की बनी बढ़िया राखी बाँधी देना ही रह गया, पर भारतीय इतिहास के मध्यकाल में इसका महत्व अधिक था और जो स्त्री जिस पुरुष के राखी बाँध देती थी, वह उसकी प्राणपण से रक्षा करता था। इस संबंध में सबसे प्रसिद्ध घटना चित्तौड़ की रानी कर्मवती की है। जब उसके राज्य पर गुजरात के बादशाह बहादुरशाह ने चढ़ाई की, तो रानी ने देहली के मुगल सम्राट हुमायूँ के पास राखी भेजी और अपनी रक्षा की प्रार्थना की। हुमायूँ उसी समय सेना लेकर रवाना हो गया, पर उसके पहुँचने के पहले ही चित्तौड़ का पतन हो गया था और रानी कर्मवती अपनी सहेलियों के साथ जौहर व्रत करके जल मरी थीं। तो भी हुमायूँ ने बहादुरशाह पर आक्रमण करके उसको मार भगाया और रानी के पुत्र को चित्तौड़ की गद्दी पर बैठा कर 'राखी बंद भाई' के नाम को चरितार्थ किया।

वस्तुतः यह पर्व आज की परिस्थितियों में नारी शक्ति के प्रति सम्मान की अभिव्यक्ति जताने, उसकी रक्षा के लिए आगे बढ़ सकने का साहस दिखा सकने के प्रतीक रूप में मनाया जाता है। नारी का दमन, यौन अत्याचार कहीं कोई कर न पाए, इसके लिए पवित्र हृदय वाले नरपुंगवों का, वीरों का आह्वान इस दिन नारी करती है। वह कहती है—
“जिसकी साँसें और पसीना परहित में बह जाए, वही वीर मेरा राखी बाँधवाने हाथ बढ़ाए।”

राष्ट्रीय भावना का प्रतीक—

विजयादशमी पर्व

विजयादशमी पर्व के संबंध में पुराणों में कहा है—आश्विन शुक्ल दशमी को नक्षत्रों के उदय होने पर जो 'विजय' नामक काल होता है, वह सब कामनाओं को सिद्ध करने वाला होता है। आज के दिन शमी के वृक्ष की पूजा करने का विधान है। जब दुर्योधन ने पांडवों को बारह वर्ष तक वनवास और एक वर्ष तक अज्ञातवास दिया था, तो अज्ञातवास के समय अर्जुन अपना धनुष-बाण शमी के वृक्ष में छिपा कर विराट राजा के यहाँ नौकरी करने लगे थे। एक दिन विराट राजा का पुत्र उत्तर कुमार गायों की रक्षा के लिए कौरवों से लड़ने गया। उस समय अर्जुन भी उसके साथ थे। शत्रुओं की प्रबल सेना देखकर उत्तर कुमार ने तो रणभूमि से भागने का उपक्रम किया, पर अर्जुन ने उसे रोककर अपने धनुष-बाण शमी के पेड़ में से निकाले और शत्रुओं पर विजय प्राप्त की। देवराज इंद्र ने भी इसी दिन प्रयाण करके दानवराज वृत्रासुर पर विजय प्राप्त की थी। इस प्रकार विजयादशमी प्राचीनकाल से अधर्म पर धर्म की, पशुता पर मानवता की, राक्षसत्व पर देवत्व की विजय का दिन है और इसको सच्चे स्वरूप में मनाना हमारा कर्तव्य है।

वास्तव में विजयादशमी जनता में राष्ट्रीय भावना के प्रसार का त्यौहार है और वर्तमान समय में इसका महत्व अतीतकाल की अपेक्षा कहीं अधिक है। पहले जमाने में तो राज्य की रक्षा का भार केवल राजा और क्षत्रिय जाति वालों पर ही रहता था, पर अब न तो राजा हैं और न पहले समय का क्षत्रिय जैसा कोई विशेष वर्ण ही है, जो एकमात्र युद्ध का ही पेशा करता हो। अब तो देश रक्षा के लिए सेना में प्रत्येक जाति और वर्ण के व्यक्ति को शामिल किया जाता है और राष्ट्र पर आक्रमण होने की अवस्था में सभी व्यक्तियों को, उसके प्रतिकार में किसी न किसी रूप में भाग लेना ही पड़ता है। इसलिए इस समय विजयादशमी का उद्देश्य यही होना चाहिए कि देश निवासियों में राष्ट्ररक्षा की भावना भली प्रकार जड़ जमा ले और वे राष्ट्रहित के विरोधी कार्यों से सदैव दूर रहें तथा राष्ट्र विरोधी तत्वों का डटकर मुकाबला करें उनके पैर टिकने न दें। राष्ट्र की एकता, अखंडता और स्वतंत्रता की प्राणपण से रक्षा का व्रत लें।

दशहरे पर भगवान् राम द्वारा राक्षसराज रावण पर विजय कथा भी सर्वविदित है। व्यक्ति के अंदर, परिवार एवं समाज में असुर प्रवृत्तियों की वृद्धि ही अनर्थ पैदा करती है। जिन कमजोरियों के कारण उन पर काबू पाने में असफलता मिलती है, उन्हें शक्ति साधना द्वारा समाप्त करने के लिए योजना बनाने, संकल्प प्रखर करने तथा तदनुसार क्रम अपनाने की प्रेरणा लेकर यह पर्व आता है। इसका उपयोग पूरी तत्परता एवं समझदारी से किया जाना चाहिए।

प्रकाश और संतुलन दीपावली लक्ष्मी का पर्व माना गया है। लक्ष्मी से तात्पर्य है—अर्थ, धन। यह अर्थ का पर्व है। दीपावली पर हम अपनी आर्थिक स्थिति का लेखा-जोखा लेते हैं, उसका चिह्न बनाते हैं, लाभ-हानि पर विचार करते हैं। लेकिन केवल हिसाब-किताब तक ही यह पर्व सीमित नहीं है। वरन् इस अवसर पर आर्थिक क्षेत्र में अपनी बुराइयों को छोड़कर अच्छाइयाँ ग्रहण करने का पर्व है। अर्थ अर्थात् लक्ष्मी, जीवन-साधना का, विकास की ओर बढ़ने का सहारा है। लेकिन ठीक उसी तरह जैसे माँ का दूध। हम लक्ष्मी को माँ समझकर उसे अपने जीवन को विकसित, सामर्थ्यवान बनाने के लिए उपयोग करें, न कि भोग-विलास तथा ऐश-आराम के लिए। इसलिए माँ लक्ष्मी के रूप में अर्थ की पूजा करना दीपावली का एक विशेष कार्यक्रम है। आवश्यकतानुसार खर्च करना, उपयोगी कार्यों में लगाना, नीति और श्रम तथा न्याय से धनोपार्जन करना, वज्र बनाकर उसकी क्षमता के अनुसार खर्च करना आर्थिक क्षेत्र में संतुलन तथा व्यवस्था कायम रखना, ये सब दीपावली पर्व के संदेश हैं।

गणेश और दीप पूजन, गौ द्रव्य पूजन इस पर्व की विशेषताएँ हैं। इनसे तात्पर्य यह है कि धन की अधिष्ठात्री देवी लक्ष्मी का अर्थात् अर्थ का सदबुद्धि, ज्ञान, प्रकाश और पारमार्थिक कार्यों से विरोध नहीं होना चाहिए, वरन् अर्थ का उपयोग इनके लिए हो और अर्थोपार्जन भी इन्हीं से प्रेरित हो।

सहकारी एक बार कार्तिकी अमावस्या के घनघोर अंधकार में प्रकाश की आवश्यकता पड़ी। सूर्य से प्रार्थना की गई, उनसे इस आपत्तिकालीन को स्वीकार करने से इन्कार कर दिया। चंद्रमा ने भी असमर्थता प्रकट की। कोई उपाय न देखकर एक दीपक ने जलना आरंभ किया। दूसरे बुझे दीपों ने सोचा, जो एक कर सकता है, वह दूसरा क्यों न करे? जब बुराई छूट की तरह फैल सकती है, तो अच्छाई की लहरें भी एक दूसरे को सहारा देते हुए आगे क्यों नहीं बढ़ सकती? दीपक एक दूसरे के निकट आते गए। जलों ने बुझों को जलाया और छदाम कीमत वाले दीपकों की पंक्ति देखते-देखते सर्वत्र जलने लगी। कार्तिकी अमावस्या इन जुगनुओं की चादर ओढ़ कर सूर्य पत्नी जैसी गौरवान्वित होकर इठलाने लगी। सभी ने दीपमालिका की जय बोली और उस दिन से वह सहकारी आदर्शवादिता महालक्ष्मी की तरह पूजी जाने लगी।

ऐतिहासिक दीपोत्सव के संबंध में कई कथाएँ प्रचलित हैं। कुछ लोगों का कहना है कि राजा बलि ने अन्य देवताओं के साथ लक्ष्मी जी को भी बंदी बना लिया था और विष्णु भगवान ने वामन रूप में इसी दिन अन्य देवताओं सहित लक्ष्मी को छुड़ाया था। नरकासुर भी इसी दिन विष्णु भगवान द्वारा मारा गया था। कुछ विद्वानों का कथन है कि भगवान राम रावण को मारकर और वनवास की १४ वर्ष की अवधि समाप्त करके जब लक्ष्मण और सीता सहित अयोध्यापुरी लौटे, तो संपूर्ण भारत में उत्सव मनाया गया था। उसी स्मृति में दीपोत्सव मनाया जाता है। दीवाली के अवसर पर कोई भी हिंदू घर ऐसा न होगा, जहाँ पर दीपक न जलते हों। इस त्यौहार को इसलिए भी अधिक प्रोत्साहन मिला है कि इस दिन भारत की तीन महान विभूतियाँ महावीर, स्वामी दयानंद और स्वामी रामतीर्थ अपने पवित्र शरीरों को त्याग कर स्वर्गवास को सिधारें। इन महान आत्माओं ने तिल-तिल जलकर सहस्रों मनुष्यों को जो प्रकाश दिया है, वह कभी बुझने न पाए इसलिए उनकी स्मृति में घर-घर दीपक जला कर हम इसका आश्वासन देते हैं।

नवरात्रि पर्व नवरात्रि पर्व वर्ष भर में दो बार आता है। (१) चैत्र शुक्ल १ से ९ तक। चैत्र नवरात्रि जिस दिन प्रारंभ होती है, उसी दिन विक्रमी संवत का नया वर्ष प्रारंभ होता है। विक्रमादित्य राजा होने के साथ ही जनहित, लोकमंगल के लिए समर्पित साधक भी थे। वे प्रजा की छोटी-छोटी इकाई के अधिकारों के लिए भी पूर्ण जागरूक रहते थे और अपने इस कर्तव्य की पूर्ति के लिए बड़े से बड़ा खतरा उठाने और त्याग करने के लिए तैयार रहते थे। उनकी आदर्श निष्ठा की झलक सिंहासन बत्तीसी की कथाओं में भी मिलती है। लोकमानस और

शासन तंत्र के आदर्श समन्वय के प्रतीक के रूप में उन्हें मान्यता दी गई और उनके राज्याभिषेक को नवीन संस्कार से जोड़कर उनकी कीर्ति को अमर बना दिया गया। चैत्र नवरात्रि का प्रथम दिन नवीन संवत्सर तथा समापन दिवस भगवान राम का जन्मदिन नवमी होता है।

(२) दूसरी नवरात्रि आश्विन शुक्ल १ से ९ तक पड़ती है। इससे लगा हुआ विजयादशमी पर्व आता है। ज्योतिष शास्त्र के अनुसार नक्षत्रों की गणना अश्विनी नक्षत्र से प्रारंभ होती है। इस आधार पर आश्विन मास ज्योतिष वर्ष का प्रथम मास माना जाता है।

इस प्रकार दोनों नवरात्रि पर्वों के साथ नए शुभारंभ की भावना, मान्यता जुड़ी हुई है। दोनों में छः मास का अंतर है। यह पर्व वर्ष को दो भागों में बाँटते हैं। ऋतुओं के संधि काल इन्हीं पर्वों पर पड़ते हैं। संधि काल को उपासना की दृष्टि से सर्वाधिक महत्व दिया गया है। प्रातः और सायं, ब्राह्म मुहूर्त एवं गोधूलि बेला दिन और रात्रि के संधि काल हैं। इन्हें उपासना के लिए उपयुक्त माना गया है। इसी प्रकार ऋतु संधि काल के नौ-नौ दिन दोनों नवरात्रियों में विशिष्ट रूप से साधना-अनुष्ठानों के लिए महत्वपूर्ण माने गए हैं।

नवरात्रि के संबंध में पुराणों में एक उपाख्यान है कि महिषासुर नाम का दैत्य महा अभिमानी था। अपनी सत्ता जमाने के लिए उसने सूर्य, अग्नि, इंद्र, वायु, यम, वरुण आदि सब देवताओं को अधिकार च्युत कर दिया। तब सब देवता ब्रह्मा जी के पास गए, जहाँ भगवान विष्णु और शिवजी भी विराजमान थे। महिषासुर के अत्याचारों को सुनकर विष्णु और शिव को बड़ा क्रोध आया और उस क्रोध ने एक महातेज का रूप धारण कर लिया। सब देवताओं का तेज भी उसमें मिल गया और उसने एक महाशक्ति उत्पन्न हुई, जिसके तीन नेत्र और आठ भुजाएँ थीं। यही भगवती दुर्गा थी। सब देवताओं ने अपने-अपने आयुध उसे दिए। इस प्रकार के संगठन से शक्तिशाली बनकर देवी ने महिषासुर को ललकारा। इस महासंग्राम में प्रलयकाल का सा दृश्य दिखलाई पड़ने लगा। महिषासुर के साथी भी एक साथ दुर्गा पर झपटे, पर उसने अपूर्व शक्ति द्वारा सबका एक साथ संहार कर डाला। अंत में महिषासुर भी मारा गया और देवताओं तथा मुनियों ने देवी का जय-जयकार किया। देवी ने प्रसन्न होकर कहा कि आप जैसे शान्तिप्रिय और सत्वगुण संपन्न महात्माओं और देवताओं के कल्याण का मैं सदैव ध्यान रखूंगी और उनकी सहायता के लिए सदैव तैयार रहूंगी।

इसी उपलक्ष्य में दैवी सत्ता के, शक्ति के पूजन के निमित्त इस पर्व को सामूहिक धर्मानुष्ठान के रूप में मनाया जाता है।

पर्व- धर्म प्रेरणाओं की अक्षय निधि

ज्ञान की गरिमा, धर्म के लिए बलिदान और अपने आदर्शों का पुण्य स्मरण कराने वाले तीन पर्व गीता जयंती, बकरीद (ईदुल-जुहा) और क्रिसमस ऐसे पर्व हैं, जिनके माध्यम से विश्व की तीन चौथाई जनता प्रेरणा और प्रकाश पाती है।

इस अवसर पर विचारशील धर्म प्राण व्यक्तियों को विभिन्न धर्मों के अंतर्से एक ही गंतव्य के संदर्भ में सोचने का अनायास ही अवसर मिलता है। मूलतः धर्मों में कोई अंतर्विरोध नहीं है। वे एक ही गंतव्य तक पहुँचने के भिन्न-भिन्न मार्ग अवश्य हैं। पर्वों के माध्यम से धर्म के लिए, मानवता के लिए, सांस्कृतिक गौरव-गरिमा के लिए लोगों के आचरण में आदर्शवादी उत्कृष्टता की, उत्सर्ग की, त्याग-बलिदान की भावना जागृत होती है।

पर्व कैसे मनाएँ ? इन पर्वों को शास्त्र विधि के अनुसार कैसे मनाया जाना चाहिए एवं इनका प्रचलन किस प्रयोजन के लिए हुआ ? यह जिज्ञासा सहज ही मन में उठती है।

वस्तुतः सभी पर्व-त्यौहार सामूहिक लोक शिक्षण और उत्साह-उल्लास के अभिवर्द्धन हेतु विकसित हुए हैं। इन सभी को सामूहिक समारोहों के रूप में मनाया जाना चाहिए। कर्मकांडों की पूर्ति अकेले सामूहिक गायत्री यज्ञ अथवा वातावरण परिशोधन हेतु किए गए अपने-अपने मतों के अनुसार संकल्पित धर्मानुष्ठानों से हो सकती है।

उन्हें सार्वजनिक धर्म सम्मेलनों के रूप में मनाया जाय। अधिकाधिक जन समुदाय एकत्रित किया जाय। सामूहिक गायत्री यज्ञ से कर्मकांडों की पूर्ति होती है। संगीत और प्रवचन की व्यवस्था रखी जाय। प्रवचनों में पर्व के निर्धारित उद्देश्यों पर प्रकाश डाला जाय और उन्हें कार्यान्वित करने का सामयिक सुझाव दिया जाय। जहाँ संभव हो प्रसाद वितरण एवं अमृताशन के प्रीतिभोज का प्रबंध किया जाय। समाज गठन को सुव्यवस्थित करने के लिए पर्व समारोहों की बड़ी उपयोगिता है।



उच्चस्तरा लोकशिक्षा समारोहसुयोजनैः ।
जायते च प्रभावेण ह्येतेषां बहवस्त्विव ॥ ५१ ॥
फुल्लन्ति कुसुमानीव येऽविकासस्थिता नराः ।
कथानां च पुराणानां महत्त्वं घटते ततः ॥ ५२ ॥

भावार्थ—समारोह—आयोजनों के माध्यम से उच्चस्तरीय लोकशिक्षण होता रहता है, तो उस ऊर्जा के प्रभाव से प्रभावित अनेक अविकसित कलियों को भी पुष्पवत खिलने का अवसर मिलता रहता है । कथा—पुराणों का उस दृष्टि से बहुत महत्व है ॥ ५१-५२ ॥

कीर्तनायोजनान्यत्र संगीतप्रमुखानि हि ।
भवन्ति तस्य लोकस्य रञ्जनेन सहैव तु ॥ ५३ ॥
लाभः समन्वितो लोकमङ्गलस्यैष प्राप्यते ।
धर्मप्रचारकेष्वत्र देवेषु च महर्षिषु ॥ ५४ ॥
अधिकैः कीर्तनस्यैषा संगीतस्यापि चाश्रिताः ।
विधा प्रभाविनी लोकशिक्षणे सरला च या ॥ ५५ ॥

भावार्थ—कीर्तन—आयोजन संगीत प्रधान होते हैं और उनमें लोकरंजन के साथ लोकमंगल का समन्वित लाभ मिलता है । देवताओं, ऋषियों और धर्म—प्रचारकों में से अधिकांश ने संगीत कीर्तन की विधा को अपनाया और कथा—पुराण शैली का आश्रय लिया । लोकशिक्षण की दृष्टि से यह सरल और प्रभावी माध्यम है ॥ ५३-५५ ॥

नीतिधर्मसदाचाराद्युपयोगित्वमत्र तत् ।
कथाऽऽख्यानादिभिर्नूनं जायते तु गृहे गृहे ॥ ५६ ॥
उपायाः सर्वे एवैते युज्यन्ते लोकशिक्षणे ।
सार्वभौमे ततो ज्ञेयान्येतान्यत्र समान्यपि ॥ ५७ ॥

भावार्थ—घरों में कथा—कहानियों के द्वारा नीति, धर्म, सदाचार की उपयोगिता हर घर—परिवार में प्रकट होती रहती है । अस्तु, इन उपायों को भी सार्वजनीन लोकशिक्षण के रूप में प्रयुक्त किया जाता है ॥ ५६-५७ ॥

व्याख्या—दृश्य-श्रव्य साधन एवं सामूहिक मिलन-आयोजन जनमानस के परिष्कार की दिशा में एक बड़ी भूमिका निभाते हैं । व्यक्ति अपने वास्तविक रूप में उत्कृष्टता का पक्षधर है । स्रष्टा की सर्वश्रेष्ठ कृति होने के नाते आदर्शवादिता, श्रेष्ठता की दिशा में अग्रसर होना ही उसकी अभिलाषा रहती है, किन्तु यह अधिकांश में प्रसुप्त स्थिति में होते हैं । स्वभावतः जनमानस अनुकरणप्रिय होता है । अनगढ़ स्थिति पतनोन्मुख मात्र अनुकरण के कारण होता है । यदि उसे सही दिशा दी गई होती, श्रेष्ठता का, शालीनता का पक्षधर सुसंस्कृत वातावरण मिला होता, तो वह भी अपने कुसंस्कारों की मलिनता धोकर ऊर्ध्वगामी हो सकता था । कथाओं को सुनना-सुनाना, लोकमंगल की ओर प्रवृत्त करता है ।

अन्यान्य शिक्षण की विधाओं के साथ-साथ लोकशिक्षण के निमित्त, सत्प्रवृत्ति विस्तार के निमित्त जैसा वातावरण बनाया जाना अपेक्षित है, वह शब्द शक्ति की विद्या संगीत-संकीर्तन एवं कथा-आयोजनों से सरलता से संपन्न किया जा सकता है । धर्मतंत्र से लोकशिक्षण की महत्ता इसी कारण अत्यधिक बातई जाती रही है ।

दुर्मति से कला की दुर्गति लोकरंजन से लोकमंगल का ही प्रयोजन पूरा होना चाहिए । दिशा गलत हो जाने पर तो यही अमृत विष तुल्य बन जाता है ।
अप्सरा वपु को न जाने क्या सूझी कि वह साज-सज्जा के साथ दुर्वासा के तपोवन में जाकर असभ्य वसंत लाने का प्रयास करने लगी । गायन और नर्तन से उसने उस आरण्यक को नंदन वन जैसा रस पूरित कर दिया ।

दुर्वासा की समाधि खुली, उनने आंख पसार कर इस कौतुक को देखा । नर्तकी को बुलाकर इस अभिनय का

निमित्त कारण पूछा। वपु ने अपनी बात कह दी—“मुझे बंध्या कहा जाता है। यह दोष छुड़ा दें। मुझे संतान प्रदान करें।” दुर्वासा विक्षोभ से भर गए। अप्सरा को उन्होंने शाप दिया—“जा कपोती हो जा।” कहने की देर थी कि वह चिड़िया बनकर पेड़ की डाल पर जा बैठी। इतने पर भी संतान की कामना गई नहीं।

दुर्वासा ने उसे चार अपंग बच्चों का वरदान दिया। चिड़िया ने चार अंडे दिए और उनसे बच्चे निकले। देखने में सुंदर लगते हुए भी वे अपंग थे। घोंसले में ही बैठे रहते और माता की सहायता से पेट भरते।

तत्त्वज्ञानी जाबालि ने अपने शिष्यों को यह कथा-प्रसंग सुनाते हुए कहा—“अप्सरा वपु ही अपने समय की कलाकार है। दुर्मति के कारण उसकी दुर्गति हुई है। उसने श्रेय, सौंदर्य, संवेदना और अभ्युदय यह चार बच्चे उत्पन्न किए हैं। शापित न होती तो कला के यह पुत्र न जाने कितने गौरवान्वित होते, पर आज तो जन्मदात्री की मूर्खता के कारण नामधारी भर रह गए हैं। वे अपंग स्थिति में कुछ कर-धर नहीं पा रहे हैं।

कथा-संगीत के माध्यम से अनेक महामानवों ने जनमानस को झकझोरने एवं समय को बदलने में सफलता पाई है। प्राचीन काल में यही काम मीरा, सूरदास, तुलसीदास, चैतन्य ने किया। आधुनिक काल में भी ऐसे व्यक्ति हुए हैं, जिन्होंने इस प्रयोजन के लिए संगीत साधना को माध्यम बनाया।

रूस का विद्रोही कवि पुश्किन रूस के एक सुसंपन्न परिवार में पुश्किन जन्मे। उनके पूर्वजों का राज दरबार में बहुत सम्मान था। उच्च शिक्षित होने के कारण उन्हें कोई बड़ा पद भी मिल सकता था, पर प्रजाजनों की दुर्दशा और शासन की दुष्टता देखकर आँखें मूंद रखना उचित न लगा। उनसे अपनी काव्य प्रतिभा से जन-जन के मन में आक्रोश एवं उमंगें भरने का निश्चय किया। वायलिन उठाया और सभा-सम्मेलनों की प्रतीक्षा न करके गली-गली, चौराहे-चौराहे अपने गीत गाकर भीड़ इकट्ठी करते और परिस्थितियों के अनुरूप अपनी गतिविधियाँ बदलने की प्रेरणा देने लगे। उनसे अपने देश के साहित्यकारों और कवियों को संगठित करके उन्हें युग के अनुरूप सृजन के लिए सहमत किया। थोड़े ही समय में पुश्किन ने रूस के जनमानस की स्थिति बदल दी। उनसे अपनी कविताओं का संग्रह भी प्रकाशित कराया और ‘दी कंटेम्प्टेरी’ नामक पत्र प्रकाशित किया।

रूस सरकार को इस विद्रोही कवि की गतिविधियों का पता चला, तो उन्हें जेल डाला गया। नजरबंद किया गया और देश से निकाल दिया। तो भी वे रुके नहीं। लुक-छिपकर अपना प्रयास जारी रखे ही रहे। मात्र ३८ वर्ष के जीवन में ही उस देश के वातावरण में भारी परिवर्तन कर दिया।

मानवी अंतराल को इंकृत करने वाले बीथोवियन जर्मनी की राजधानी बौन में अब से २०० वर्ष पूर्व एक गायक जन्मा। उसका नाम था बीथोवियन। गले की मधुरता जन्मजात थी और वादन की प्रवीणता उसने अध्यवसाय से सीखी थी।

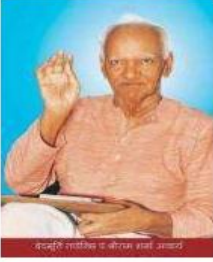
उसकी कला का मूल्य देने अनेक लोग आया करते थे और धनिकों से लेकर शासकों तक के निमंत्रण उसे मिला करते थे, किंतु उसने लालचवश एक भी निमंत्रण स्वीकार न किया और जीवन भर किसी प्रकार पेट भरता रहा।

वह हाट-बाजार और चौराहों पर गाता था। वह अपने लिए अपनी सभाएँ स्वयं ही एकत्रित करता था। उसकी वाणी से जीवट और शाश्वत सत्य के स्वर ही निकलते थे। मानवता का गायक था वह। नर्तकों और गायकों में से असंख्य लोगों के नाम विस्मृति के गर्त में चले गए, किंतु बीथोवियन की भावना और गतिविधियों के प्रति मानवता सदा कृतज्ञ रहेगी।

नादब्रह्म का उपयोग आदर्शों के लिए पोलैंड में जन्मे संगीत कला के मूर्धन्य स्त्रा विस्की, संसार भर में प्रख्यात थे। इतना मधुर कंठ ढूँढ़े नहीं मिलता। वे अपने अध्यवसाय से वादन में भी पारंगत हो चुके थे। उन्हें कहीं भी जाने और किसी भी विषय पर गाने की छूट थी। पर उन्होंने आदर्शों के लिए ही गाया। जिस प्रसंग में उन्हें हेय उद्देश्यों की गंध आई, उसे बड़े से बड़े प्रलोभन के बाद भी ठुकराया।

हालीवुड ने एक बार उन तक प्रस्ताव पहुँचाया था कि वर्ष में मात्र तीन गाने गा दिया करें, इतने भर से उन्हें एक वर्ष का पारिश्रमिक तीन लाख डालर दिया जाता रहेगा। पर वे जानते थे कि अमेरिकी फिल्म व्यवसाय में किन हेय प्रवृत्तियों का समावेश रहता है। उनसे उस प्रस्ताव को स्वीकारने से स्पष्ट इन्कार कर दिया। जन जीवन को ऊँचा

: युगऋषि पं. श्रीराम शर्मा आचार्य- संक्षिप्त परिचय :



ज्यादा जानकारी यहाँ से प्राप्त करें :
http://hindi.awgp.org/about_us

- **विचारक्रान्ति अभियान के प्रणेता** : विचारों को परिष्कृत और ऊँचा उठाने में समर्थ 3000 से भी अधिक पुस्तकों के लेखन के माध्यम से विश्वव्यापी विचार क्रान्ति अभियान की शुरुआत की ।
- **वेद, पुराण, उपनिषद के प्रसिद्ध भाष्यकार** : जिन्होंने ने चारों वेद, 108 उपनिषद, षड् दर्शन, 20 स्मृतियाँ एवं 18 पुराणों का युगानुकूल भाष्य किया, साथ ही 19 वाँ प्रज्ञा पुराण की रचना भी की ।
- **3000 से अधिक पुस्तकों के लेखक** : मनुष्य को देवता समान, घर-परिवार को स्वर्ग, समाज को सभ्य और समग्र विश्वराष्ट्र को श्रेष्ठ बनाने में समर्थ हजारों पुस्तकें लिखकर समयानुकूल समर्थ मार्गदर्शन प्रदान किया ।
- **युग-निर्माण योजना के सूत्रधार** : जिन्होंने शतसूत्री युग निर्माण योजना बनाकर नये युग की आधार शिला रखी ।
- **वैज्ञानिक-अध्यात्मवाद के प्रणेता** : जिन्होंने ने धर्म और विज्ञान के समन्वय की प्रथम प्रयोगशाला 'ब्रह्मवर्चस शोध संस्थान' स्थापित कर सिद्ध किया कि "धर्म और विज्ञान विरोधी नहीं, पुरक है" ।
- **'२१ वीं सदी : उज्ज्वल भविष्य' के उद्घोषक** : जिन्होंने ने '२१ वीं सदी : उज्ज्वल भविष्य' का नारा दिया तथा युग विभीषिकाओं से भयग्रस्त मनुष्यता को नये युग के आगमन का संदेश दिया ।
- **स्वतंत्रता संग्राम के कर्मठ सेनानी** : जिन्होंने ने महात्मा गाँधी, मदन मोहन मालवीय, गुरुवर रविन्द्रनाथ टैगोर के साथ राष्ट्र की स्वाधीनता के लिए संघर्ष किया एवं स्वतन्त्रता संग्राम सेनानी "श्रीराम मत्त" के रूप में प्रख्यात हुए ।
- **गायत्री के सिद्ध साधक** : जिन्होंने ने गायत्री और यज्ञ को रुढ़ियों और पाखण्ड से मुक्त कर जन-जन की उपासना का आधार तथा सद्बुद्धि एवं सतकर्म जागरण का माध्यम बनाया ।
- **तपस्वी** : जिन्होंने गायत्री की कठोरतम साधना कर २४-२४ लाख के २४ महापुरश्चरण २४ वर्षों में सम्पन्न किया । प्रकृति प्रकोप को शांत कर अनिष्टों को टाला, सृजन सम्भावनाओं को साकार किया ।
- **अखिल विश्व गायत्री परिवार के जनक** : जिन्होंने ने अपने जीवनकाल में ही अपने साथ करोड़ों लोगों को आत्मियता के सूत्र में बाँधकर विश्व व्यापी 'युग निर्माण परिवार' - 'गायत्री परिवार' का गठन किया ।
- **समाज सुधारक** : जिन्होंने ने नारी जागरण, व्यसन मुक्ति, आदर्श विवाह, जाति-पाँति प्रथा तथा परंपरागत रुढ़ियों की समाप्ति हेतु अद्भूत प्रयास किए एवं एक आदर्श स्वरूप समाज में प्रस्तुत किया ।
- **ऋषि परम्परा के उद्धारक** : जिन्होंने ने इस युग में महान ऋषियों की महान परंपराओं की पुनर्स्थापना की । लुप्तप्राय संस्कार परंपरा को पुनर्जीवित कर जन-जन को अवगत कराया ।
- **अवतारी चेतना** : जिन्होंने ने "धरती पर स्वर्ग के अवतरण और मनुष्य में देवत्व के जागरण" की अवतारी घोषणा को अपना जीवन लक्ष्य बनाया और चेतना का ऐसा प्रवाह चलाया कि करोड़ों व्यक्ति उस ओर चल पड़े ।

गायत्री परिवार जीवन जीने कि कला के, संस्कृति के आदर्श सिद्धांतों के आधार पर परिवार, समाज, राष्ट्र युग निर्माण करने वाले व्यक्तियों का संघ है। **वसुधैवकुटुम्बकम्** की मान्यता के आदर्श का अनुकरण करते हुये हमारी प्राचीन ऋषि परम्परा का विस्तार करने वाला समूह है गायत्री परिवार। एक संत, सुधारक, लेखक, दार्शनिक, आध्यात्मिक मार्गदर्शक और दूरदर्शी युगऋषि पंडित श्रीराम शर्मा आचार्य जी द्वारा स्थापित यह मिशन युग के परिवर्तन के लिए एक जन आंदोलन के रूप में उभरा है।